जैनधर्मदिवाकर, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य

श्री आत्माराम जी महाराज

जन्म तिथि	भाद्रपद शुक्ला १२, १९३९, राहों
दीक्षा तिथि	सम्वत १९५१ आषाढ शुक्ला ५, बनूड़
श्रमणसघ आचायपद	अक्षय तृतीया, २००९, सादडी
स्वर्गारोहण तिथि	माघ कृष्णा ९, २०१८, लुधियाना

❀ णमो सुअस्स ❀

श्री उपासकदशांगसूत्रम्

संस्कृतच्छाया, शब्दार्थ, भावार्थोपेतम्,

हिन्दीभाषाटीकासहित च

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न

श्री श्री १००८ आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज

सम्पादक

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

महावीराब्द २४९१
विक्रमाब्द २०२१
ईसवी सन १९६४

प्रकाशक
आचार्य श्री आत्माराम जैन
प्रकाशन समिति, लुधियाना ।

मुद्रक
रमेशचन्द्र शर्मा,
शर्मा ब्रादर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस,
अलवर (राजस्थान) ।

ी उपासकदशाङ्गसूत्र सकेतिका

— —

———

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रात सम्मरणीय जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न जैनाचार्य श्रद्धेय श्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज से जैन ससार का ऐसा विरला ही व्यक्ति होगा जो परिचित न हो। पूज्य आचार्य श्री जी ने अपने जीवन काल मे जैन धर्मविषयक अनेको ग्रन्थो की रचना करके समाज मे अज्ञान अन्धकार को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया। इतना ही नही जैनेतर जनता को भी जैन धर्म तथा सिद्धान्तो से परिचित कराने के लिए अथक परिश्रम से जैनागमो की सरल और सुबोध शैली से व्याख्याए की और जैन शासन का सम्मान बढाया। जैन समाज उनकी ज्ञान गरिमा से अपने आपको गौरवान्वित समझता है।

जिन जैनागमो की सविस्तर टीकाएँ लिखी हैं, उनका स्वाध्याय करके मुमुक्षुजन अपने को कृतकृत्य मानते हैं। श्री आचाराङ्गसूत्र जैसे आगम की भाषा विवेचना अभी अभी 'आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति' की ओर से प्रकाशित हुई है। यह प्रथम अवसर है जबकि इस सूत्र की सम्पूर्ण रूप से विशद् व्याख्या प्रकाशित हुई है।

हम अपने प्रेमी पाठको के कर कमलो मे आचार्यवर्य द्वारा अनुवादित श्रीउपासक दशाङ्गसूत्र को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। वैसे तो समस्त श्रुतागम आत्मोत्थान का परम श्रेयस्कर साधन है, फिर भी प्रस्तुत सूत्र गृहस्थवर्ग के लिए परमोपयोगी है। यदि आज जनता सूत्रोक्त नियमो का अनुकरण करे तो इससे समाज और देश का नैतिक तथा चारित्रिक उत्थान हो कर सभी प्रकार की उपस्थित विषम समस्याएँ स्वय विलय हो सकती हैं।

हम प्रस्तुत सूत्र को किन्ही विशेष कारणो से प्रकाशन मे विलम्ब के लिए पाठको से क्षमा चाहते हैं। प्रकाशन समिति ने शीघ्रातिशीघ्र अन्य सूत्रो के प्रकाशन करने का दृढ सकल्प किया हुआ है। शास्त्रो के प्रकाशन के लिए ६२५) रु० से कोई भी व्यक्ति स्थायी सदस्य बन सकता है। इसके विक्रय से अन्य सूत्र, ग्रन्थ प्रकाशित होते रहेगे। अन्त मे समिति उन महानुभावों का हार्दिक धन्यवाद करती है जिन्होने किसी भी रूप मे उक्त शास्त्र के प्रकाशन मे सहायता की है। साथ ही शर्मा प्रेस अनवर के अध्यक्ष तथा उनके कर्मचारियो का भी धन्यवाद करते हैं जिनके सतत प्रयास से सूत्र शीघ्र तथा सुन्दर रूप मे प्रकाशित हो सका है। स्थायी सदस्यो की सूची साथ ही दी जा रही है।

निवेदक—पन्नालाल जैन,
मन्त्री श्री आचार्य आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
लुधियाना।

सदस्य-सूची

१	श्री सन्तलालजी जैन	लुधियाना	२७	श्री घूमीरामजी जैन	जालन्धर छा०
२	श्री सोहनलालजी जैन	,,	२८	श्री तेलूरामजी जैन	,, ,,
३	श्री वख्शीराम चमनलाल जैन	,,	२९	श्री सन्तरामजी जैन	अमृतसर
४	श्री नन्दलालजी जैन	,,	३०	श्री वैष्णवदासजी जन	,,
५	श्री हुकमचन्दजी जैन	,,	३१	श्री गोपीरामजी जैन	होशियारपुर
६	श्री सावनमलजी जैन नाहर	,,	३२	श्री हसराजजी जैन	,,
७	श्री हसराजजी जैन	,,	३३	श्री शालिगरामजी जैन	जम्मू
८	श्री मुन्शीरामजी जैन	,,	३४	श्रीमती उत्तमीदेवी जैन	,,
९	श्री वालकरामजी जैन	,,	३५	वहिन सावित्रीदेवी जैन	जीरा
१०	श्री प्यारेलालजी जैन	,,	३६	श्री मुनशीरामजी जैन	फरीदकोट
११	श्री वाँकेरायजी जैन	,,	३७	श्रीमती हुकमीदेवी जैन	,,
१२	श्री हरिरामजी थापर	,,	३८	श्रीमती विष्णदेवी जैन	जेनो मडी
१३	श्रीमती भाग्यवती जैन	,,	३९	श्री कुन्दनलालजी जैन	रामाँ मडी
१४	वहिन देवकीदेवी जैन	,,	४०	श्री मगलसैन रोशनलाल जैन	भटिण्डा
१५	श्री तेलूरामजी जैन	,,	४१	श्री रामजीदास जैन	मालेरकोटला
१६	श्री अमरनाथजी जैन	,,	४२	श्री अच्छरूमलजी जैन	पटियाला
१७	श्री ज्ञानचन्दजी जैन	,,	४३	श्री वरस्तारामजी जैन	,,
१८	श्री कुलयशरायजी जैन	,,	४४	श्री चरणदासजी जैन	चडीगढ
१९	वहिन शीलादेवी जैन	,,	४५	श्री हरिरामजी जैन	घनौर
२०	श्री दौलतरामजी जैन	समराला	४६	श्री माहनलालजी जैन	वनूड
२१	श्री सत्यप्रकाशजी जैन	फगवाडा	४७	श्री अमतसरियामल जैन	सामाना
२२	श्री बनारसीदास जैन	कपूरथला	४८	श्री किशोरचन्दजी जैन	मानसा
२३	श्रीमती द्रौपदीदेवी जैन	,,	४९	श्री शिवजीरामजी जैन	,,
२४	श्री चुन्नीलालजी जैन	,,	५०	श्री भानचन्दजी जैन	,,
२५	श्री धनीरामजी जैन	सुलतानपुर	५१	श्री अमोलकसिंह जैन	हाँसी
२६	श्री देशराजजी जैन	,,	५२	श्री शिवप्रसादजी जैन	अम्बाला

५३ श्री गजाञ्चीरामजी जन देहली
५४ श्री लद्धेशाहजी जैन ,,
५५ श्री मुनिलालजी जैन ,,
५६ श्री नियायतीरामजी जैन न्यू० देहली
५७ श्री कुञ्जलालजी जैन देहली
५८ श्री खूबचन्दजी जैन ,,
५९ श्री अमरनाथजी जैन ,,
६० श्री मोतीलालजी जोहरी ,,
६१ श्रीमती केसरबाई जैन ,,
६२ श्रीमती चन्द्रपतिजैन ,,
६३ बहिन महेन्द्रकुमारी गुडगाँव
६४ श्री आशारामजी जैन
६५ श्री परमानन्दजी जैन
६६ श्री रोचीशाहजी जन
६७ श्री तेजेशाहजी जैन
६८ श्री चूनीशाहजी जैन
६९ श्री राधूशाहजी जैन
७० श्री नत्थूशाहजी जैन
७१ श्री जयदयालशाहजी जन
७२ श्रीमती मलावीदेवी जैन
७३ श्रीमती खेमीबाई जैन बम्बई
७४ श्रीमती अनारबाई लोहामंडी आ०

नोट—पाँच सौभाग्यवती बहिनो ने गुप्त रूप से सदस्यता स्वीकार करके अनुकरणीय और प्रशस्य आगम सेवा की है। समिति उनका सहर्ष धन्यवाद करती है।

उपरोक्त सदस्यो के फोटो पूर्व प्रकाशित सूत्रो मे छप चुके हैं। बहुत से सदस्यो के फोटो मागने पर नही मिल पाए। और कई सदस्यो ने अपने फोटो प्रकाशित नही कराए। भविष्य मे चित्र छापने का विचार नही है क्योकि बार बार चित्र देने से कागज और धन का सदुपयोग नही होता। यदि सदस्य चाहेंगे तो पुनः इस विषय मे विचार किया जा सकता है। शास्त्रमाला को व्यवस्थित और सुन्दर बनाने के लिए सदस्य अपने सुझाव दे सकते हैं।

—प्रकाशन समिति॥

प्रशस्तिः

जिनेश श्रीवीर कृतशबलशोभ चरणयो, विचित्रज्योतिर्भि विविधमणिरागै सुरुचिभि ।
स्पृहावद्भि स्प्रष्टुञ्चरणकमले मौलिलग्नै, मणीना रोचिर्भि सुरनृपकिरीट मणिभि ॥
भजन्नेको युक्तोऽखिल गृहिगुणैधर्मसहितै, शुचि सुव्यापारे यतिचरणसेवी सुकुलवान् ।
अवात्सीत् सिहान्तोऽमर इति सुनामामृतसरे, महार्घद्रव्याणा पणनवृतवृद्धिर्गृहपति ॥
अथैकस्मि काले प्रवचनमतेदत्तमतिना, इद तेन ध्यात विरतरतिना लोकगतिषु ।
प्रवृत्ति ससारे सुखशतहृतौ हेतुरुदिता, निवृत्तिस्तस्माद्दै शमसुखकरी तेन गदिता ॥
सपर्या सद्योगै सयमसुधिया क्षेमकरणी, तपश्चर्या घोरा सकलभवकर्मापहरणी ।
श्रुतस्याभ्यासेश विपुलमतिशोभ शुभकर-मधीता या विद्या स्मरणचरणे सा तु सुफला ॥
भविष्यामि त्यागी गुरुचरणवर्त्ती यतिरहम्, रतोज्ञाने ध्याने विजितविषय शान्तमदन ।
निमग्न सेवाया सुविपुलतपोलग्नवपुषा, स्वधीष्ये शास्त्राणि स्मृति धृतिनिदिध्यासकरणै ॥
गृहित्वा प्रव्रज्या समधिगतगुप्ति सुसमिति, मुनि सञ्जात स स्थविरमुनिषु प्रौढमतिल ।
प्रवृत्त शास्त्राण पठनमनने धैर्य-चरण, सुसेवी पादाना गुरुचरणवर्ती विमलधी ॥
समुद्र शास्त्राणा स्थिरमनतिकालेन कृतवान, तत स्वेसिद्धान्ते विपुलगहन धीरगतिमान ।
अवाप्त नैपुण्य परसमयशास्त्रेष्वपिपरम, व्युपेत सपद्भि श्रमणगणशास्तु सुवदन ॥
दधानश्चातुर्य प्रवचन-कथाया बहुमत, सुशिष्यैर्धीमद्भि परिवृतशरीरो विचरति ।
गुणस्तैराकृष्टैसु निगृहिभिरादेयवचन, मिलित्वा सवस्तैसु निगणविधीश प्रकल्पित ॥
प्रभुञ्जैनाचार्य मुनिममरसिहाख्यमतुल, स्वशास्तार लब्ध्वा यतिगृहिगणा मोदमगमन् ।
चिर शास्ता सघ जिनवचनवृत्ति सुचरित, स्वधर्मे शैथिल्य सुयतिगृहिणा दूरमकरोत ॥
प्रदेशे पञ्जाबे परिविहरमाणेन गणिना, चिराव्य मिथ्यात्व परिहृतमशेष कुमतिजम ।
प्रचार्यैव धर्म परम पदद जैनमभित, प्रसार्यैव सङ्घाञ्जगति महतीं ख्यातिमगमत ॥

श्रीरामवक्ष निजशिष्यवर्य, नियुक्तवान् स्वीयपदेऽन्तकाले ।
प्रदाय चाचार्यपद, सुरक्षाभरान्वित प्रापमुद सुतोष ॥
सङ्घाग्रणीवररुचिवरधीमुनीश, रक्षापर सततसघनुभानुदर्शी ।
विद्वत्प्रकाण्डमुचितेन परिश्रमेण, स्वर्गे नय-मुनिगण त्रिदिवगत स ॥

अतो मोतीराम निजगणगणेश विहितवान्, वराचार्य सत्सु प्रयुतगणिसम्पत्तिस्मद ।
मनोज रूपेण प्रगुरुममराणा मतिधर्ने—रथ कुर्वन्नामी मुनिगणसुरक्षा सततधी ॥

अवच्छेदात्पूर्वं गण इति क इत्यन्तिमपद, यदास्यात्सम्मेल सुवरपदवीभूषणमणि ।
गुणी वीरो धीरो मुनिपतिसुशिष्यो घनयम, सुधी शान्तोदान्तो गणपति सुनामामुनिवर ॥
सुशिष्य तस्यापि शुभद जयरामाख्यमनघ, विदुर्लोकाधीर यमिवरमदोष गुणगृहम् ।
तदीयान्तेवासी वरगुणगणालङ्कृतशम, मुनिश्शालिग्राम सुगुररुचिसङ्क्रेतनिपुण ॥
सुनाम्नात्मारामं क्रमगतसुशिष्यो वरगुरो—र्वतीह्याबालाद्य समुपचिततेजा वरयमी ।
सुगीतो विद्वद्भि परिविदितशास्त्रस्ततमति, कुले जात क्षात्रे परमकुलदीपो दिनमणि ॥
माता शीलवती पतिव्रतपरा सेवारता प्रेमभाक्, नाम्नासापरमेश्वरी पतिकुल वृद्धि नयन्ती मुदा
पुण्य सूनुमिम सुलक्षणयुत तेजस्विन सुन्दरम, सार्द्ध प्रादुरभावयत्सुयसा पुञ्जीकृतश्रेयसम् ॥
वरेण्यस्तेजस्वी सुधनि-मनसारामतनुज, सुकान्त सौम्याभो लघुवयसि सम्प्राप्तविरति ।
प्रशस्त कोशर्न्धृतविविधशब्दो निजमती, पुरीं राहों नाम्नीमवतरणपूतां विहितवान् ॥
सदाभ्यासे लग्नो मननरुचिरासीदविवर सुपाठाञ्छास्त्राणामचिरपठिताङ्कण्ठमकरोत् ।
प्रतिज्ञ कालज्ञो पवनगतिराप्त समयवित्, परेषा शास्त्राणि स्मृतिपथमशेषान्यगमयत ॥
महान्तोनेतार परमतुलविद्वासमविदु, महात्मा वीरात्मा प्रकृतिसरल पूजितपद ।
सदा भक्तौ लीन परिविजितकामो वरधृति, मनीषी विख्यात समलभत कीर्ति सुकृतिकृत् ॥

पुरातनी भारतराजधानी दिल्लीतिनाम्ना प्रथिता पृथिव्याम् ।
निवासिन श्रावकभावुकाजना, रताजिनेशस्य पदाब्जभक्तौ ॥

एष वाग्मी तथा सम्यक् पण्डित सर्वपूजित, तपस्वी मोहतमसश्छेत्ताय मुनिसत्तम ।
सूर्यवज्जैनसूत्राणा सम्यगर्थप्रकाशक इति ज्ञात्वा जनै प्रोक्तो जैन धर्मदिवाकर ॥
उपाध्याय पूर्वं चिरमभवदध्यापितमुनि, मुनीनामाचार्यस्तदनु यमिभिर्निश्चितकृत ।
सुवेत्ता तत्त्वाना गणिगणसुसम्मानितपद, प्रधानाचार्यश्च श्रमणगणशास्तातदनु वै ॥
श्रद्धावन्तो विपुलधनिनो यूथबद्धा गृहस्था, रूप कान्त रुचिरममल भातिरस्कुर्वदकम् ।
दृष्टवा पुण्य मुदितमनसो वदमाना विनीता, शान्तेर्लाभ स्तुतिपठनज प्राप्नुवन्तिस्म कामम् ॥
एषा व्याख्या सरलसुगमा बोधयन्ती पदार्थान्, साङ्गोपाङ्गा सुविवृतियुता मोदहेतु सुवर्णा ।
आचार्यैर्वै रुचिरलिखिता तेन धीरात्मना सा, मिथ्यात्वान्ध निखिलमपहर्तुं समर्था सुकल्पा ॥
लभन्ता कल्याण भवजलधिपार जनगणा अह वन्दे भूयश्चरणयुगल पद्मरुचिरम ।
तपस्वी पुण्यात्मा सुविमलयशस्वी महगणी, मनस्वी योगीश चिरतु सतत मङ्गलमहो ॥

प्रशस्यो यशस्वी तपस्वी मनीषी, समस्तागमाना पर पारदृश्वा ।
जनाना शुभस्योपदेष्टा मुनिर्यो, सदा त गुरु श्रीसमेत नमामि ॥

आचार्यचरणकमलचञ्चरीक —
प्रशिष्यो मुनिविक्रमः

प्रस्तावना

[लेखक—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री]

प्राक्कथन

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखते समय हमारे सामने उसके दो रूप आते हैं— (१) वहिरङ्ग और (२) अन्तरङ्ग। वहिरङ्ग रूप का अर्थ है उस ग्रन्थ के रचना-काल, कर्त्ता, भाषा, एवं वाह्य आकार से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग सूत्र सातवां अङ्ग है और सभी अङ्ग सुधर्मा स्वामी की रचना माने जाते हैं। उनका निरूपण प्रस्तावना के पहले खण्ड में किया जायेगा।

ग्रन्थ का दूसरा रूप अन्तरङ्ग है। इसका अर्थ है उसमें प्रतिपादित विषयों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग में दस आदर्श गृहस्थों का वर्णन है, जिन्हें श्रावक कहा जाता है। जैन धर्म में श्रावक का पद जीवन की उस भूमिका को प्रकट करता है जहां त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है, अतः समाज रचना की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

उपासकदशाङ्ग में ई० पू० ६०० का सांस्कृतिक चित्र है। आनन्द का जीवन तत्कालीन वाणिज्य व्यवसाय पर प्रकाश डालता है। राजा, ईश्वर, तल्वर आदि नाम राज्याधिकारियों के परिचायक हैं। गोशालक का निर्देश धार्मिक स्थिति की ओर संकेत करता है। चम्पा, राजगृह आदि नगरियां तथा राजाओं के नाम मगध तथा आस पास के जनपदों का भौगोलिक परिचय देते हैं। इन सबका निरूपण विविध परिशिष्टों में किया गया है।

प्रथम खण्ड

आगमो का संक्षिप्त परिचय

आदिकाल

महावीर से पहले का साहित्य—

जैन-साहित्य का प्राचीनतम रूप चौदह पूर्व माने जाते हैं। उनका परिचय आगे दिया जाएगा। यद्यपि इस समय कोई पूर्व उपलब्ध नही है, फिर भी उस साहित्य में से उद्धृत या उस आधार पर रचे गए ग्रन्थ विपुल मात्रा मे आज भी विद्यमान हैं।

पूर्वो की रचना का काल निश्चित रूप से नही बताया जा सकता। पूर्व' शब्द इस बात को सूचित करता है कि वे भगवान महावीर से पहले विद्यमान थे।

भगवती सूत्र मे जहाँ भगवान की परम्परा के साधुओ का वर्णन आता है, वहा उनके ग्यारह एव बारह अङ्ग पढने का उल्लेख है और जहाँ उनसे पूर्ववर्ती परम्परा वाले साधुओ का वर्णन आता है वहाँ ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के अध्ययन का निर्देश है। जिनभद्र ने तो यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि साधारण बुद्धि के लोगो के लिए चौदह पूर्वो मे से निकाल कर अङ्गो की रचना की गई। इन सब प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर से पहले का श्रुत-साहित्य ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के रूप में था। महावीर के पश्चात् कुछ समय तक बारह अङ्ग और चौदह पूर्व दोनो प्रकार का साहित्य चलता रहा। क्रमश पूर्व साहित्य लुप्त हो गया और अङ्ग साहित्य पठन-पाठन मे चलता रहा। भगवान पार्श्वनाथ ईसा से ८५० वर्ष पहले हुए। उनमे यदि ईसा के बाद की बीस शताब्दियाँ मिला दी जाएँ, तो कहा जा सकता है कि लगभग ३००० वर्ष पहले जैन परम्परा मे पूर्व नाम का विपुल साहित्य विद्यमान था। उसका आदिकाल इतिहास की पहुँच से पहले का है। उसका माप वर्षो की सख्या द्वारा नही, किन्तु कालचक्र के युगो द्वारा ही किया जा सकता है।

भगवान महावीर के बाद का श्रुत साहित्य अङ्ग, उपाग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि मे विभक्त है। उसकी सख्या के विषय मे विभिन्न परम्पराएँ हैं,

जिनका परिचय आगे दिया जाएगा। उससे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि जैन परम्परा मे शास्त्रीय ज्ञान का क्या स्थान है ?

जैन दर्शन मे ज्ञान के पाँच भेद किए गए हैं। शास्त्र या व्यक्ति द्वारा सीखी गई बातो को दूसरे भेद में गिना गया है। इसका शास्त्रीय नाम है श्रुत ज्ञान। इसका अर्थ है, सुना हुआ ज्ञान। ब्राह्मण परम्परा मे जो महत्व श्रुति या वेद का है, जैन-परम्परा म वही महत्व श्रुतज्ञान का दिया गया है। किन्तु दोनो मे दृष्टिकोण मे भेद है।

मीमासादर्शन वेद को अनादि मानता है। उसका कहना है कि वेद किसी का बनाया हुआ नही है। वह गुरु और शिष्य की परम्परा मे अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। उसकी परम्परा न कभी प्रारम्भ हुई और न कभी समाप्त होगी।

अन्य वैदिक दर्शन वेद को अनादि नही मानते। वे उसे ईश्वर की रचना मानते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे ईश्वर ऋषियो का वेदा का स देश देता है। तत्पश्चात ऋषि उनका प्रचार करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे इसी प्रकार वेद रचे जाते हैं।

जैन धर्म अपने आगमो को न अनादि मानता है और न ईश्वर की रचना। वह उन्हे ज्ञानी तथा चारित्र सम्पन्न महापुरुषो की रचना मानता है। तीर्थंकर उनका आशय अपने व्याख्यानो मे प्रकट करते हैं। शाब्दिक रचना गणधर करते हैं। वैदिक दर्शन वेदो की रचना के साथ जिस आधिदैविक तत्त्व को जोडते हैं, जन दर्शन उसे नही मानता। वैदिक दर्शन परम्परा को इतना ऊँचा स्थान देते हैं कि वह मानव बुद्धि के लिए अगम्य हो जाती है। जैन दर्शन परम्परा को मानव बुद्धि की देन मानता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदो मे परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नही है। किन्तु जैन परम्परा मे मानव का अधिकार छीना नही गया है। भगवान पार्श्वनाथ के समय आगमिक साहित्य चौदह पूर्वों मे विभक्त था। भगवान महावीर के समय उसे अङ्ग और उपागों मे बाँटा गया। पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म था, महावीर ने पञ्चयाम की स्थापना की। वस्त्र, प्रतिक्रमण तथा कई दूसरे विषयों में सशोधन किया गया। उत्तराध्ययन के केशी गौतम सवाद म उन बातो का वर्णन

मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि जैन आगमो मे अपरिवर्तनीयता की कोई भावना नही रही। इतना ही नही, जीतकल्प के नाम से भिन्न-भिन्न समय मे आचार्यो द्वारा बनाई गई मर्यादाओ को भी आगमो मे स्थान मिलता रहा।

श्रुतज्ञान के विषय मे दूसरा प्रश्न है उसके प्रामाण्य का। मीमासा व वेदान्त-दर्शन वेद को स्वत प्रमाण मानते हैं। उनमे कही हुई बाते इसलिए प्रमाण नही हैं कि उनका कहने वाला कोई निर्दोष विद्वान है बल्कि इसलिए प्रमाण हैं कि वे वेद की बाते हैं। जैन दर्शन भी आगमो को प्रमाण मानता है, किन्तु वह इसलिए कि उनका कहने वाला निर्दोष है। वह जैसा जानता है वैसा कहता है। साथ ही उसका ज्ञान भी ठीक है, क्योकि अभी तक उसकी कोई बात झूठी नही उतरी। इस प्रकार जैनदर्शन और वैदिकदर्शनो के दृष्टिकोण मे मौलिक भेद है। दोनो परम्परा का सम्मान करते हैं, किन्तु एक उसे सर्वोपरि सत्य मानता है और दूसरा उसे विशिष्ट ज्ञानी का अनुभव बताता है। दोनो के अनुसार उसमे अक्षर या मात्रा का भी परिवर्तन नही हो सकता। यहा तक कि उदात्त अनुदात्त आदि स्वरो मे भी परिवर्तन करने पर पाप माना गया है।

जैन दर्शन मे एक और विशेषता है। वहाँ अर्धमागधी भाषा में लिखे गए मूल ग्रन्थो को ही आगम नही माना गया, मूल के साथ अर्थ को भी आगम माना गया है। आचाराग आदि आगमो के अनुवाद भी आगम ही हैं। प्रतिक्रमण मे, जहाँ ज्ञान सम्बन्धी अतिचारो की चर्चा है तीन प्रकार का आगम बताया गया है—सूत्रागम, अर्थागम तथा तदुभयागम।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि जैन आगमो मे परिवर्तन की गुजाइश है तो "हीणक्खर, अच्चक्खर, पयहीण, विणयहीण, जोगहीण, घोसहीण' आदि मे अक्षरो की न्यूनाधिकता तथा घोष परिवर्तन को दोष क्यो माना गया? इसका उत्तर स्पष्ट है परिवर्तन की योग्यता होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाने बूझे यह अधिकार नही है। शुद्ध उच्चारण न करना या बिना समझे बूझे मूल या अर्थ मे परिवर्तन कर देना तो दोष ही है। साधारण बातचीत मे भी उच्चारण, प्रासगिकता, दबाव आदि का ध्यान रखा जाता है। इसकी उपेक्षा करने पर वाणी का प्रभाव कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यदि आगमो मे भी इन बातो को दोष बताया

गया है तो यह उचित ही है। विचारों का परिमार्जन और भाषा का सौष्ठव तो प्रत्येक बात के लिए आवश्यक है।

श्रुतज्ञान का व्यापक अर्थ है, साहित्य। वैदिक परम्परा में वेदों को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विविध प्रयत्न किए गए। पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि के द्वारा वेदों के पाठ तथा उच्चारण को अब तक जो अक्षुण्ण रखा गया है, वह एक महान् आश्चर्य है। हजारों वर्षों से चली आ रही चीज को इस प्रकार स्थिर रखने का उदाहरण संसार में दूसरी जगह नहीं मिलता। किन्तु जैन परम्परा ने इस विषय में जिस विशाल हृदयता का परिचय दिया है, वह वैदिक परम्परा में नहीं है। अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो जैन आचार्यों ने वैदिकदर्शन तथा अन्य साहित्य में जो रुचि दिखाई है वह तो वैदिक परम्परा में नहीं दिखाई देती। जब हम शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र सरीखे विद्वानों द्वारा किए गए जैनदर्शन के खण्डन को देखते हैं तो हँसी आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जैनदर्शन का कोई ग्रन्थ उठाकर देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। कुछ जैन आचार्यों ने भी वैदिकदर्शनों को बिना समझे ही उनका खण्डन कर दिया है, किन्तु सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा यशोविजय उपाध्याय आदि अनेक विद्वान ऐसे हैं जिनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उन्होंने वैदिक दर्शनों को विधिपूर्वक पढ़ा है और पूर्वपक्ष के रूप में अच्छी तरह लिखा है। वैदिकदर्शनों में ऐसा एक भी आचार्य नहीं मिलता। ब्राह्मण पण्डितों में अब भी यह धारणा बद्धमूल है कि नास्तिक ग्रन्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।

जैन परम्परा में दूसरी बात ग्रन्थ भण्डारों की है। जैसलमेर पाटण आदि के ग्रन्थ-भण्डार भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। वहाँ केवल जैन ही नहीं, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों का भी इतना अच्छा संग्रह मिला है जिनके आधार पर ही उन ग्रन्थों का संरक्षण किया जा सका है। वैदिक परम्परा में इस प्रकार के भण्डार सुनने में नहीं आए। कुछ भण्डार राज्याश्रित हैं किन्तु उनमें भी प्राचीन साहित्य कम है और मध्यकालीन अधिक।

जैन भण्डार और साहित्य ने भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। विण्टरनिज के शब्दों में वहाँ उन्हें इतिहास की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है।

किन्तु उन के सरक्षकों द्वारा ग्रन्थ सरक्षण की यह परम्परा आगे जाकर ग्रन्थगोपन के रूप मे परिणत हो गई। ग्रन्थो का पठन पाठन कम हो गया और उन्हे छिपा कर रखा जाने लगा। उन्हे अपरिचित व्यक्ति को दिखाते हुए भी सकोच होने लगा। सम्भव है मुस्लिम शासन मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिससे बाध्य हो कर ऐसा करना पडा।

किन्तु यह प्रवृत्ति अग्रजो के शासन मे भी चलती रही। परिणामस्वरूप जैन-ग्रन्थो का प्रचार बहुत कम हो पाया।

पूर्वो का परिचय

महावीर के बाद का आगम-साहित्य अङ्गप्रविष्ट तथा अनगप्रविष्ट के रूप मे विभक्त हुआ। अङ्गो मे बारहवा दृष्टिवाद है। उसके विविध अध्याया मे १८ पूव भी आ जाते हैं। इस प्रकार एक ओर अङ्ग साहित्य की उत्पत्ति पूर्वा से बताई जाती है, दूसरी ओर बारहवे अङ्ग मे सभी पूर्वा का समावेश किया जाता है। इस विरोधाभास का निराकरण इस प्रकार होता है—भगवान महावीर के बाद पूर्वो के आधार पर अङ्गो की रचना हुई। किन्तु पार्श्वनाथ के साधुओ मे पूर्वो की परम्परा लुप्त हो गई थी, सिर्फ ११ अङ्ग सूत्र ही रह गए थे, जब व महावीर के शासन मे सम्मिलित हो गए तो उनके साहित्य को भी अङ्गो में सम्मिलित कर लिया गया।

यहा एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि चौदह पूर्वो के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा गया है। अर्थात् चौदह पूर्व जान लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण हो जाता है। फिर अन्य अङ्ग साहित्य को पढने की आवश्यकता नही रहती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ११ अङ्गो मे प्रतिपादित ज्ञान पूर्वो से ही शब्दत या अर्थत उद्धृत किया गया।

शीलाकाचार्य ने आचाराग की टीका में पूर्वो को सिद्धसेन कृत सन्मति तर्क के समान द्रव्यानुयोग मे गिना है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वों का मुख्य विषय जैन मान्यताओ का दार्शनिक पद्धति से प्रतिपादन रहा होगा। प्रत्येक पूर्व के अन्त मे प्रवाद शब्द और उनका दृष्टिवाद मे समावेश भी इसी बात को प्रकट करता है। पूर्वो के परिमाण के विषय में पौराणिक मान्यता है कि अम्बारी सहित खडे हाथी

को ढकने म जितनी स्याही लगती है उतनी स्याही से एक पूर्व लिखा जायेगा। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रार्थ मे जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता था उनका परिमाण विशाल था। दृष्टिवाद तथा पूर्वों का सस्कृत-भाषा मे होना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उनका प्रयोग विद्वत्सभा मे होता होगा।

भगवान महावीर को भी कैवल्य प्राप्ति के पश्चात कुछ समय तक विद्वानो से शास्त्रार्थ करना पडा। उनकी तत्कालीन वाणी भी पूर्व साहित्य मे सम्मिलित करली गई होगी।

किन्तु महावीर को विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ की यह प्रणाली पसन्द नही आई, उन्होने इसे व्यर्थ का वाग्जाल समझा। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण मे उपदेश देना प्रारम्भ किया और उसके लिए जनता की बोली अर्धमागधी को अपनाया। अब भगवान का उपदेश पडितो को पराजित करने के लिए नही होता था। उनका ध्येय था जन-साधारण को धर्म के तत्त्व से अवगत कराना। जैन परम्परा मे यह दृष्टिकोण अब तक विद्यमान है। उस समय उन्होने जो उपदेश दिये वे अङ्ग-साहित्य मे उपनिबद्ध हुए। उनमे दार्शनिक भूमिका होने पर भी शैली पूर्णतया जनपदीय थी। इसलिए जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है कि स्त्री तथा सर्वसाधारण के लिए पूर्वों के आधार पर द्वादशागी की रचना हुई।

अब हम दृष्टिवाद मे पूर्व साहित्य के सन्निविष्ट होने के प्रश्न को लेते है। नन्दी सूत्र मे जहाँ दृष्टिवाद के उपकरणो का उल्लेख है वहा 'पूर्वगत' शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि दृष्टिवाद का वह प्रकरण पूर्व साहित्य के आधार पर रचा गया या उसका सार रहा होगा। पूर्व म जिन विषयो तथा मत मतान्तरो को लेकर विस्तृत चर्चा रही होगी, इसम इन्ही का सक्षिप्त परिचय रहा होगा।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है पूर्व साहित्य तथा दृष्टिवाद के लोप का। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर स्वामी के बाद एक हजार वर्ष तक जैन परम्परा का मुख्य लक्ष्य आत्मसाधना, चारित्र विकास तथा साधारण जनता मे प्रचार रहा है। मतमतान्तरो के खण्डन-मण्डन तथा विद्वानो म प्रयुक्त सस्कृत भाषा की ओर जैन मुनियो ने विशेष ध्यान नही दिया। खडन मडन को कोरा वाग्जाल समझ कर जन मानस तक पहुँचने के लिए स्थानीय बोलियो को अपनाया, तत्कालीन

जैन साहित्य मे शास्त्रार्थ पद्धति तथा हेतुविद्या सम्बन्धी उल्लेख आते है, इससे यह तो नही कहा जा सकता कि जैन आचार्य उनसे अनभिज्ञ थे किन्तु उनका स्वाभाविक रुचि दूसरी ओर थी। अत पूर्वो तथा दृष्टिवाद के अध्ययन अध्यापन का क्रम टूट गया, तथा काल की गति के अनुसार धारणाशक्ति भी धीरे धीरे क्षीण होती चली गई, जिससे समग्र पूर्व साहित्य और दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हो गया। इस बात को प्रमाणित करने के लिए भगवती सूत्र मे आया हुआ भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद पर्याप्त स्पष्टीकरण करता है। गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान महावीर ने स्वय प्रतिपादन किया है कि मेरे प्रवचन सम्बन्धी पूर्वो का ज्ञान एक हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओ के अनुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। भद्रबाहु का स्वर्गवास वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। उन्ही के साथ चतुर्दश पूर्वधर या श्रुतकेवली का लोप हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह लोप वीरनिर्वाण के १६२ वर्ष बाद माना जाता है। इस प्रकार दोनो मे ८ वर्ष का अन्तर है।

आचार्य भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा चली। उसका अन्त आर्यवज्र स्वामी के साथ हुआ। उनकी मृत्यु वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् अर्थात् ११४ वि० मे हुई। दिगम्बर मान्यतानुसार अन्तिम दश पूर्वधर धरसेन हुए और उनकी मृत्यु वीरनिर्वाण के २४५ वर्ष पश्चात हुई। श्रुतकेवली के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओ मे विशेष अन्तर नही है। दोनो की मान्यताओ मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उस समय मे भी केवल ८ वर्ष का अन्तर है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक दोनो परम्पराएँ प्राय एक थी। किन्तु दसपूर्वधर के विषय मे नाम का भेद है और समय मे भी २३९ वर्ष का भेद है। दिगम्बर परम्परानुसार भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा केवल १८३ वर्ष रही। श्वेताम्बरो के अनुसार यह परम्परा ४१४ वर्ष तक चलती रही।

आर्यवज्र के पश्चात् आर्यरक्षित हुए। वे ९ पूर्व सम्पूर्ण और दसवे पूर्व के २४ यविक जानते थे। ज्ञान का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। आर्यरक्षित के शिष्यो मे केवल दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्व सीख सके किन्तु वे भी अनाभ्यास के कारण नवम पूर्व को भूल गए। वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् पूर्वो का ज्ञान सर्वथा

लुप्त हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह स्थिति वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् हो गई।

पूर्वाश्रित साहित्य—

पूर्वों के लुप्त हो जाने पर भी उनके आधार पर बना हुआ या उनमें से उद्धृत साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इस प्रकार के साहित्य को निर्यूहित (प्रा०-णिज्जूहिय) कहा गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों के कुछ नाम निम्नलिखित हैं—

ग्रंथ का नाम	पूर्व का नाम
१ उवसग्गहरथोत	अज्ञात
२ ओहणिज्जुत्ति	पच्चक्खाणप्पवाय
३ कम्मपयडी	कम्मप्पवाय
४ प्रतिष्ठाकल्प	विज्जणुवाय
५ स्थापनाकल्प	
६ सिद्धप्राभृत	अग्गाणीय
७ पज्जोयाकप्प	
८ धम्मपण्णत्ति	आयप्पवाय
९ वक्कसुद्धि	सच्चप्पवाय
१० दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन	पच्चक्खाणप्पवाय
११ परिसहज्झयण	कम्मप्पवाय
१२ पचकप्प	अज्ञात
१३ दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार	पच्चक्खाणप्पवाय
१४ महाकप्प	अज्ञात
१५ निशीथ	पच्चक्खाणप्पवाय
१६ नयचक्र	नाणप्पवाय
१७ सयग	अज्ञात
१८ पंचसग्रह	अज्ञात
१९ सत्तरिया (कर्मग्रन्थ)	कम्मप्पवाय
२० महाकम्मप्रवृत्ति प्राभृत	"

२१ कषायप्राभृत	अग्राणीय
२२ जीवसमास	अज्ञात

दिगम्बरो मे आगम रूप से माने जाने वाले षट्खण्डागम और कषायप्राभृत भी पूर्वो से उद्धृत कहे जाते हैं।

चौदह पूर्वो के नाम तथा विषय—

१ उत्पाद–द्रव्य तथा पर्यायो की उत्पत्ति।

२ अग्रायणीय–सब द्रव्यो तथा जीवो के पर्याया का परिमाण। अग्र का अथ है परिमाण और अयन का अर्थ है परिच्छेद।

३ वीयप्रवाद–सकम एव अकम जीव तथा पुद्गलो की शक्ति।

४ अस्तिनास्तिप्रवाद–धर्मास्तिकाय आदि वस्तुएँ स्वरूप से हैं और पररूप से नही हैं, इस प्रकार स्याद्वाद का वणन।

५ ज्ञान प्रवाद–मति आदि पाँच ज्ञानो का स्वरूप एव भेद प्रभेद।

६ सत्य प्रवाद–सत्य, सयम अथवा सत्य वचन और उसके प्रतिपक्ष असत्य का निरूपण।

७ आत्म प्रवाद–जीवन का स्वरूप विविध नयो की अपेक्षा से।

८ कम प्रवाद या समय प्रवाद–कर्मो का स्वरूप भेद प्रभेद आदि।

९ प्रत्याख्यान प्रवाद–व्रत नियमो का स्वरूप।

१० विद्यानुप्रवाद–विविध प्रकार की आध्यात्मिक सिद्धिया और उनके साधन।

११ अवन्ध्य–ज्ञान, तप, सयम आदि का शुभ एव पाप कर्मा का अशुभ फल। इसे कल्याणपूर्व भी कहा जाता है।

१२ प्राणायु–इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन आदि प्राण तथा आयुष्य।

१३ क्रिया विशाल–कायिक, वाचिक आदि विविध पकार की शुभाशुभ क्रियाएँ।

१४ बिन्दुसार–लोक-बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप एव विस्तार।

पूव साहित्य इस बात का द्योतक है कि जैन परम्परा महावीर से पहले भी विद्यमान थी और उस समय उसके पास विशाल साहित्य था।

वर्तमान आगम

जैन परम्परा के अनुसार श्रुत-साहित्य का प्रारम्भ त्रिपदी से होता है। तीर्थंकर भगवान तीन पदों का उच्चारण करते हैं और गणधर उसी बीज को लेकर विशाल श्रुत साहित्य की रचना करते हैं। वह त्रिपदी निम्नलिखित है--

'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।"

अर्थात् "प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश वस्तु का लक्षण है। इसी सूत्र का विस्तार विशाल जैन दर्शन है।

भगवान महावीर की परम्परा मे उपरोक्त त्रिपदी का विस्तार करके सुधर्मा स्वामी ने बारह अङ्गो की रचना की।

(१) आचाराङ्ग	(७) उपासकदशाङ्ग
(२) सूत्रकृताङ्ग	(८) अन्तकृद्दशा
(३) स्थानाङ्ग	(९) अनुत्तरोपपातिक
(४) समवायाङ्ग	(१०) प्रश्न व्याकरण
(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)	(११) विपाक
(६) ज्ञाताधर्म कथा	(१२) दृष्टिवाद

कालक्रम से बारहवें दृष्टिवाद का लोप हो गया। शेष अङ्ग भी अपने मूल रूप मे उपलब्ध नही हैं, फिर भी ये महावीर की मौलिक परम्परा के प्रतीक हैं। दिगम्बर परम्परा म यह माना जाता है कि मूल आगम सर्वथा लुप्त हो गए और इस समय जो उपलब्ध हैं वे भगवान महावीर के ९८० वर्ष पश्चात देवर्द्धिगणी के संकलित किए हुए हैं।

गणधरों के बाद चौदह पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनिवरों ने जो कुछ लिखा वह आगमो मे सम्मिलित कर लिया गया। जैन परम्परा मे चौदह पूर्वधारी को श्रुत-केवली कहा जाता है अर्थात् वह सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान का धारक होता है।

इसके बाद सम्पूर्ण दस पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनियो ने जो कुछ लिखा उसे भी आगमों मे स्थान दे दिया गया। कहा जाता है--दस पूर्वो का ज्ञान सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है। मिथ्यादृष्टि दसवें पूर्व को पूरी तरह नही जान सकता।

दस पूर्वधारी का सम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य है, इसलिए उसके द्वारा रचा गया साहित्य भी आगम कोटि मे आ गया।

पूर्वो का ज्ञान लुप्त होने के बाद जो साहित्य रचा गया, उसे भी आगमो म स्थान मिला। इस प्रकार हम देखते है कि वीर-निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक नए प्रकरण रचे गए और उन्हे आगमो मे स्थान भी मिलता गया। यह कार्य नीचे लिखी तीन वाचनाओ मे हुआ।

तीन वाचनाएं

पाटलिपुत्र परिषद् (वी० नि० १६०)—

भगवान महावीर के १६० वर्ष पश्चात मगध मे बारह वर्ष का भयकर दुर्भिक्ष पडा। साधुओ को आहार पानी मिलना कठिन हो गया। वे इधर-उधर बिखर गए। उनके साथ आगमो का ज्ञान भी छिन्न भिन्न हो गया।

दुर्भिक्ष का अन्त होने पर समस्त सघ एकत्रित हुआ और आगमो को सुरक्षित रखने पर विचार हुआ। जिस मुनि को जितना स्मरण था, उसने कह सुनाया। इस प्रकार ११ अङ्ग तो सुरक्षित हो गए किन्तु बारहवाँ दृष्टिवाद किसी को याद न निकला। उस समय आर्य भद्रबाहु ही चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे और वे योग साधना के लिए नेपाल गए हुए थे। सघ ने श्रुत रक्षा के लिए स्थूलभद्र तथा अन्य पाँच सौ साधुओ को उनके पास भेजा। भद्रबाहु महाप्राण नामक ध्यान मे लगे हुए थे। इसलिए अध्यापन के लिए समय कम मिलता था। ऊब कर दूसरे साधु तो वापिस चले आए किन्तु स्थूलभद्र वहाँ रह गए। उन्होने सेवा एव परिश्रम द्वारा दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु शेष चार पूर्वों को केवल मूलमात्र सीख सके। उसके लिए भी दूसरो को सिखाने की मनाही थी। इस प्रकार भगवान महावीर के दो सौ वर्ष पश्चात् श्रुतज्ञान का ह्रास प्रारम्भ हो गया। वी० नि० २९१ मे आर्यसुहस्ति के समय भी राजा सम्प्रति के राज्य मे दुर्भिक्ष पडा। ऐसे सकटो के समय श्रुतज्ञान का ह्रास स्वाभाविक था।

पाटलिपुत्र वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइण्णय, आवश्यकचूर्णि और

हेमचन्द्र के परिशिष्ट और आदि-पर्व में मिलता है। तित्थोगालीय का सारांश निम्नलिखित है—

भगवान महावीर के बाद सातवें पुरुष चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु हुए, जिन्होंने बारह वर्ष तक योगमार्ग का अवलम्बन किया और सूत्रार्थ की निबन्धा के रूप में रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश में प्रबल अनावृष्टि हुई। इस कारण साधु दूर देशों में चले गए। कोई वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में, कोई नदियों के तट पर और कोई समुद्र के तट पर जाकर संयमी जीवन बिताने लगे। संयम में दोष लगने से डरने वाले कुछ साधुओं ने अन्न-जल का परित्याग करके अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया।

बहुत वर्षों बाद जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो बचे हुए साधु फिर मगध देश में आ पहुँचे और चिरकाल के पश्चात् एक दूसरे को देखकर अपना नया जन्म मानने लगे।

इसके बाद साधुओं ने परस्पर पूछ-ताछ कर ग्यारह अङ्ग संकलित किए, पर दृष्टिवाद का जानने वाला कोई न मिला। वे कहने लगे—पूर्वश्रुत के बिना हम जिन-प्रवचन का सार कैसे समझ सकेंगे? हाँ, चौदह पूर्वों के ज्ञाता आर्य भद्रबाहु इस समय भी विद्यमान हैं। उनके पास से इस समय भी पूर्वश्रुत प्राप्त हो सकता है। परन्तु उन्होंने बारह वर्ष के लिए योग धारण कर रखा है, इसलिए वाचना देंगे या नहीं, यह संदेहास्पद है। इसके बाद श्रमण संघ ने अपने दो प्रतिनिधि भेजे और भद्रबाहु से प्रार्थना की—"पूज्य क्षमाश्रमण! वर्तमान समय में आप जिन-तुल्य हैं। पाटलिपुत्र में 'महावीर का संघ" आपसे प्रार्थना करता है कि आप श्रमण-संघ को पूर्वश्रुत की वाचना दें।"

प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—"श्रमणो! मैं इस समय वाचना देने में असमर्थ हूँ। आध्यात्मिक साधना में व्यस्त होने के कारण मुझे वाचना से कोई प्रयोजन भी नहीं है।"

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा—"क्षमाश्रमण! इस प्रकार प्रयोजन का अभाव बता कर आप संघ की अवज्ञा कर रहे हैं। इस पर आपको क्या दण्ड मिलेगा, यह विचार कीजिए।"

भद्रबाहु ने कहा—"मैं जानता हूँ, इस प्रकार बोलने वाले का संघ बहिष्कार कर सकता है।"

स्थविर बोले—"आप यह जानते हुए भी संघ की प्रार्थना का अनादर करते हैं ? आप ही बताइये, हम आपको संघ के अन्दर कैसे रख सकते हैं ? क्षमाश्रमण ! हमने आपसे प्रार्थना की किन्तु आप वाचना देने के लिए तैयार नहीं हुए। इसलिए आज से आप संघ से पृथक् कर दिए गए। बारह संभोग से किसी प्रकार का व्यवहार आपके साथ न रखा जाएगा।"

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे। अपयश से डरते थे। जल्दी सम्भल गए और बोले—"श्रमणो ! मैं एक शर्त पर वाचना दे सकता हूँ। वह यह है कि वाचना लेने वाले मुझे न बुलावें और मैं उनको न बुलाऊँ। यदि यह स्वीकार है तो कायोत्सर्ग का ध्यान पूरा होने के बाद, यथा अवकाश मैं वाचना दे सकूँगा।"

भद्रबाहु की शर्त को स्वीकार करते हुए स्थविरों ने कहा—"क्षमाश्रमण ! जैसा आप कहेंगे और जैसी आपकी इच्छा है हम मानने को तैयार हैं।"

इसके बाद ग्रहण और धारण में समर्थ बुद्धिशाली ५०० साधु विद्यार्थी के रूप में और प्रत्येक की सेवा सुश्रूषा के लिए दो दो साधु इस प्रकार १५०० साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुँचे।

वाचना की इच्छा से इतने साधु वहाँ पहुँच तो गए किन्तु कठिनाई में पड गए। भद्रबाहु ने वाचना का जो क्रम रखा उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे विदा होने लगे और अन्त में केवल स्थूलभद्र रह गए। एक पद, आधा पद जो कुछ भी मिलता वे नम्रतापूर्वक सीख लेते किन्तु हताश होकर छोड़ने को तैयार नहीं हुए। इस प्रकार रहते-रहते आठ वर्षों में स्थूलभद्र ने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया। इसके बाद भद्रबाहु की योग साधना पूरी होगई और उन्होंने सर्वप्रथम स्थूलभद्र से सम्भाषण करते हुए पूछा—"भद्र ! तुम्हें भिक्षा और स्वाध्याय योग में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है ?"

स्थूलभद्र ने कहा—"मुझे कोई कष्ट नहीं है। मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। अब तक मैंने कितना सीख लिया और अभी कितना शेष है ?"

भद्रबाहु ने कहा—"अभी तक तुमने सरसों के दाने जितना सीखा है, और मेरु जितना शेष है।"

स्थूलभद्र तनिक भी विचलित या हतोत्साह नहीं हुए। फिर बोले—"भगवन्! मैं अध्ययन से थका नहीं हूँ। मन मे एक ही विचार आता है कि अपने इस अल्प जीवन मे उस मेरु तुल्य श्रुतज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूंगा ?"

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा—"स्थूलभद्र! अब तुम इस विषय की चिन्ता मत करो। मेरा ध्यान पूर्ण हो गया है और तुम बुद्धिमान हो। मैं दिन-रात वाचना देता रहूँगा, इससे दृष्टिवाद पूर्ण हो जाएगा।"

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होने दस पूर्व सांगोपांग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्त में बैठकर ग्यारहवां पूर्व याद कर रहे थे। उस समय उनकी सात बहनें भद्रबाहु के पास वन्दनार्थ आईं और स्थूलभद्र के विषय मे पूछने लगीं। भद्रबाहु ने स्थान बता दिया। उधर स्थूलभद्र पूर्वों मे प्रतिपादित मन्त्र विद्या का परीक्षण कर रहे थे। इसलिए वे सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्वियाँ सिंह को देख कर डर गईं, वापिस लौट आईं और भद्रबाहु से कहने लगीं—"क्षमा-श्रमण! आपने जो स्थान बताया वहाँ स्थूलभद्र नहीं हैं। उनके स्थान पर विकराल सिंह बैठा हुआ है। न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ!"

भद्रबाहु ने कहा—"आर्यिकाओ! वह सिंह तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है।"

आचार्य के वचन सुनकर साध्वियाँ फिर वहाँ गईं तो स्थूलभद्र को बैठा पाया।

बहनों को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास वाचना लेने गए। भद्रबाहु ने कहा—"अनगार! जो तुमने पढ़ा है वही बहुत है। तुम्हें आगे पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। गुरु के वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का ख्याल आया। वे पश्चात्ताप करने लगे और गुरु के चरणों मे गिरकर अपराध के लिए क्षमा मांगने लगे। गच्छ के दूसरे साधुओं ने भी स्थूलभद्र की इस भूल को क्षमा करके आगे की वाचना देने के लिए प्रार्थना की।

स्थूलभद्र और श्रमण-संघ की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—"श्रमणो! इस विषय में अधिक आग्रह मत करो। मैं वाचना क्यों नहीं देना चाहता, इसका विशेष कारण है। मैं स्थूलभद्र के दोष के कारण नहीं किन्तु भविष्य का विचार करके शेष पूर्वों का अध्ययन बन्द करना चाहता हूँ। जब स्थूलभद्र जैसा त्यागी भी श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने के लिए तैयार हो गया तो दूसरों की बात ही

क्या है ? श्रमणो ! उत्तरोत्तर विषम समय आ रहा है। मानसिक एव आध्यात्मिक शक्तियो का ह्रास हो रहा है। मनुष्य की क्षमता एव गभीरता नष्ट हो रही है। ऐसी स्थिति मे शेष पूर्वो का प्रचार करना कुशलदायी नही है।"

आचार्य का यह उत्तर सुन कर स्थूलभद्र दीनता पूर्वक बोले—"भगवन् ! अब कभी दुरुपयोग नही करूँगा। आप जैसा कहेगे सभी नियमो का पालन करूँगा। कृपया मुझे तो शेष चार पूर्व बता ही दीजिए।"

अति आग्रह के वश हो कर भद्रबाहु ने कहा—'स्थूलभद्र ! विशेष आग्रह है तो मैं शेष पूर्व तुम्हे बता दूगा। पर उन्हे दूसरो को पढाने की अनुज्ञा नही दूगा। तुम्हे यह अनुज्ञा केवल दस पूर्वो के लिए मिलेगी। शेष चार पूर्व तुम्हारे साथ ही समाप्त हो जाएँगे।" इस प्रकार अतिम चार पूर्व विच्छिन्न हो गए।

भद्रबाहु और स्थूलभद्र की उपरोक्त घटनाएँ कई महत्वपूर्ण बातो को प्रकट करती हैं। इनसे प्रतीत होता है कि—१ उस समय सघ का सगठन इतना दृढ था कि भद्रबाहु सरीखे समर्थ महापुरुष भी उसकी अवहेलना नही कर सकते थे सघ का कार्य आत्म साधना से भी बढ कर माना जाता था।

२ ग्यारह अगो के होते हुए भी पूर्वो को विशेष महत्व दिया जाता था। इसका कारण उनका सूक्ष्म विचार रहा होगा।

३ साधु के लिए लौकिक विद्याओ का उपयोग वर्जित था।

४ ज्ञान-दान करते समय योग्यायोग्य पात्र का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

माथुरी वाचना (वी० नि० ८२७-८४०)

जैन आगमो का सकलन करने के लिए दूसरी वाचना वीर-निर्वाण के बाद ८२७ और ८४० के बीच मथुरा मे हुई। इसीलिए यह माथुरी वाचना कही जाती है। इसके सयोजक आचार्य स्कन्दिल थे। वे पादलिप्त सूरि के कुल मे विद्याधर गच्छ के आचार्य थे। आर्यसुहस्ति के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध हुए उनके चार शिष्यो ने चार गच्छ चलाए। द्वितीय शिष्य विद्याधरगोपाल ने विद्याधर गच्छ की स्थापना की। उस परम्परा मे खपटाचार्य और पादलिप्त सूरि भी हुए। युग-प्रधान पट्टावली मे इनका युग इस प्रकार बताया गया है वज्र (वर्ष) आर्यरक्षित (१३ वर्ष) पुष्पमित्र (२० वर्ष) वज्रसेन (३ वर्ष) नागहस्ती (६६ वर्ष) रेवती-मित्र (५६ वर्ष) ब्रह्मदीपकसिंह (७८ वर्ष) स्कन्दिल (१३ वर्ष)।

जिस प्रकार भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष के कारण श्रुत परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कन्दिल के समय भी दुष्काल के कारण आगमों का ज्ञान अस्तव्यस्त हो गया। बहुत से श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो गए। अवशिष्ट श्रमणों में भी पठन-पाठन की प्रवृत्ति मन्द हो गई। आचार्य स्कन्दिल ही एक श्रुतधर बचे थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर उनकी अध्यक्षता में मथुरा में श्वेताम्बर श्रमण सघ एकत्रित हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने में लग गया। उनको जितना पाठ याद था, उतना लिख लिया गया। इस प्रकार सारा पाठ लिख लेने के बाद आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को उसकी वाचना दी। इसको स्कन्दिली वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी वाचना का वर्णन आचार्य मलयगिरि की नन्दी टीका, ज्योतिषकरण्ड की टीका भद्रेश्वर की कथावली और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में मिलता है। कहा जाता है कि उस समय कालिक श्रुत और अवशिष्ट पूर्व-श्रुत को सगठित किया गया। माथुरी वाचना में नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण बातें मालूम पड़ती हैं—

१ उन दिनों जैनधर्म का केन्द्र मगध से हट कर मध्यदेश में आ गया था। सम्भवतया दुर्भिक्ष के कारण ऐसी स्थिति आई हो और मगध के दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु इधर चले आए हों और वहीं विचरने लगे हों।

२ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि मथुरा ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद ग्यारहवीं शताब्दी तक लगभग १३०० वर्ष जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। (देखो श्रमण अगस्त १९५३) ककाली टीले में जैन स्तूप या स्थापत्य के जो अन्य अवशेष मिले हैं वे तो ई० पू० छठी शताब्दी अर्थात् भगवान महावीर के समकालीन हैं। किन्तु शिलालेख प्राय ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पश्चाद्वर्ती हैं। इससे जैन परम्परा की यह बात पुष्ट होती है कि भगवान महावीर के समय जैन धर्म बहुत अधिक फैला हुआ था।

३ वीर निर्वाण के ३०० वर्ष बाद मौर्य राजा बृहद्रथ को मार कर उसका सेनानी पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठ गया। वह केवल वैदिक धर्म का अनुयायी ही नहीं था, अन्य धर्मों से द्वेष भी करता था। नन्द और मौर्य राजाओं ने अपने २ धर्म में निष्ठा के साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार किया। अशोक और सम्प्रति ने तो बौद्ध और जैन धर्म के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। पुष्यमित्र ने

उनके द्वारा बनाए हुए सघाराम और उपाश्रयो को नष्ट करके जैन एव बौद्ध भिक्षुओ को भगाना आरम्भ किया । उसने साधुओ पर कर लगाया और उनके कपडे उतरवा लिए । सम्भवतया उसी समय मगध जैन एव बौद्ध श्रमणो से शून्य हो गया ।

वल्लभी वाचना (वी० नि० ८३० के लगभग)

जिस समय मथुरा मे आय स्कन्दिल ने आगमोद्धार करके उनकी वाचना शुरु की उसी समय नागार्जुन सूरि ने वल्लभी नगरी (सौराष्ट्र) म श्रमण सघ एकत्रित किया । और दुर्भिक्ष के बाद बचे हुए आगमो का उद्धार किया । वाचक नागार्जुन एव अन्य श्रमणो को जो जो आगम अथवा प्रकरण ग्रन्थ याद थे वे सब लिख लिए गए । विस्मृत स्थलो का पूर्वापर सम्बन्ध देखकर सन्दभ मिलाया गया और फिर वाचना दी गई। इस वाचना मे आचाय नागार्जुन प्रमुख थे, इसलिए इसे नागार्जुनी वाचना भी कहा जाता है ।

माथुरी और वल्लभी दोनो स्थाना की वाचनाएँ प्राय एक ही समय मे हुई । इसलिए यह कहना अनावश्यक है कि आय स्कन्दिल और नागार्जुन एक ही समय मे विद्यमान थे । किन्तु वाचनाओ के बाद उनका परस्पर मिलना नही हुआ। इसलिए दोनो वाचनाओ मे परस्पर कुछ पाठ-भेद रह गया, उसका उल्लेख टीकाओ मे अब तक पाया जाता है । नागार्जुन की वाचनाओ मे मेल वाले अश को टीकाकार "नागार्जुनीयास्तु" कह कर बता देते हैं । वल्लभी वाचना का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे प्रकरण ग्रन्थो को भी श्रुत ज्ञान मे स्थान मिल गया ।

देवर्द्धिगणी (वी० नि० ९८०)

उपरोक्त वाचनाओ के लगभग १५० वष पश्चात् वल्लभी नगर (सौराष्ट्र) मे श्रमण सघ फिर सम्मिलित हुआ । उस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे । उसमे उपरोक्त वाचनाओ मे सम्मिलित साहित्य के अतिरिक्त जो ग्रन्थ या प्रकरण आदि थे, उन्ह सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया ।

इस श्रमण सम्मेलन मे दोनो वाचनाओ के पाठो का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका उन्ह एक रूप दे दिया गया । जो महत्वपूण भेद थे, उन्हे पाठान्तर के रूप मे चूर्णियो मे सगृहीत किया । कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ जो एक ही, वाचना मे थे वे ज्यो के त्यो प्रमाण मान लिए गए ।

उपर्युक्त व्यवस्था के बाद सभी आगम एव प्रकरण ग्रन्थ स्कन्दिल की माथुरी

वाचना के अनुसार लिखे गए। नागार्जुनी वाचना का पाठ भेद टीका में लिख दिया गया। जिन पाठान्तरों को नागार्जुन की परम्परा वाले छोड़ने को तैयार नही थे, उनका मूलसूत्र में भी (वाचनान्तर पुन) वायणतरे पुण (देखो कल्पसूत्र वायणातरे पुण अय तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ दीसइ) शब्दो द्वारा उल्लेख किया गया।

देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में जो वाचना हुई उसमें नीचे लिखी बात महत्त्वपूर्ण हैं—

१ माथुरी और नागार्जुनी वाचनाओं का समन्वय किया गया। जैन परम्परा के लिए यह अत्यन्त महत्त्व की बात है।

२ शास्त्रो के लेखन की परिपाटी आरभ की गई। यद्यपि लेखन आर्य स्कन्दिल के समय ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसे प्रोत्साहन देवर्द्धिगणी के बाद ही मिला।

३ जैन आगमो का अन्तिम रूप स्थिर कर दिया गया। इसके बाद जो ग्रन्थ रचे गए उन्हे आगमो मे नही लिया गया।

नन्दी-सूत्र के अनुसार आगमों का ग्रन्थ विभाजन—

आगमो की सख्या के विषय में कई मान्यताएँ हैं। एक परम्परा चौरासी आगम मानती है। दूसरी परम्परा के अनुसार उनकी सख्या पैतालीस है। स्थानकवासी सम्प्रदाय केवल बत्तीस आगमो को प्रमाण मानती है। आधुनिक प्रचलित मान्यताओ की चर्चा में न जाकर इस नन्दी सूत्र द्वारा किए गए विभाजन का प्रस्तुत करते हैं। सक्षेप मे आगम दो प्रकार के हैं—अगप्रविष्ट और अगबाह्य।

अगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आयार, सूयगड, ठाण, समवाअ, विवाहपन्नत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अन्तगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइ, विवागसुय, दिट्ठिवाअ।

अगबाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक तथा आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक के छ भेद हैं—सामाइय, चउवीसत्थय, वदणय, पडिक्कमण, काउस्सग्ग तथा पच्चक्खाण।

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कालिय तथा उक्कालिय।

कालिक के अनेक भेद हैं—उत्तराज्झयण, दसा, कप्प, ववहार, निसीह, महानिसीह, इसिभासिय, जबूदीवपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती, चदपन्नत्ती, खुड्डियाविमाणविभत्ती, महल्लियाविमाणविभत्ती, अगचूलिया, वग्गचूलिया, विवाह-

चूलिया, अरुणोववाअ, वरुणोववाअ, गरुलोववाअ, धरणोववाअ, वेसमणोववाअ, वेलधरोववाअ, देविंदोववाअ, उट्ठाणसुअ, नागपरियावणिआ, निरयावलिया, कप्पिआ, कप्पवडंसिआ, पुप्फिआ, पुप्फचूलिआ, वण्हीदसा इत्यादि। इनके अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीणक। दूसरे से लेकर तेइसवे तीर्थंकर तक सख्यात प्रकीणक। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक। उत्कालिक-श्रुत भी अनेक प्रकार के हैं—दशवैकालिक, कप्पिआकप्पिअ, चुल्लकप्पसुअ, महाकप्पसुअ, उववाइअ, रायपसेणिअ, जीवाभिगम, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमाय, नदी, अणुओगदाराइ, देविंदत्थओ, तदुलवेआलिय, चदविज्झय, सूरपण्णत्ती, पोरिसीमडल, मडलपवेम, विज्जाचरणविणिच्छय, गणिविज्जा, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरायसुअ, सलेहणासुअ, विहारकप्प, चरणविही, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण इत्यादि।

उपरोक्त विभाजन मे बहुत से ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही हैं। आवश्यक के वन्दना आदि छ भेद स्वतन्त्र आगम न होकर एक ही आगम के विभिन्न प्रकरण हैं। अगो मे बारहवे दृष्टिवाद का लोप हो चुका है। आज कल नीचे लिखे अनुसार विभाजन किया जाता है--

१ ग्यारह अग दृष्टिवाद को छोड कर।

२ बारह उपाग—उववाइय, रायप्पसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सूरपण्णत्ती जबूदीवपण्णत्ती, चदप्पण्णत्ती, कप्पिया, कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा।

३ चार मूल—आवस्सय, दसवेआलिय, उत्तरज्झयण और पिंडनिज्जुत्ति।

४ छेद—निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, पचकप्प, महानिसीह।

५ दस पइण्णा—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, सथारओ, तदुलवेयालिय, चदवेज्झओ, देविंदत्थव, गणिविज्जा महापच्चक्खाण वीरत्थव।

आगमो का विषय विभाजन—

आयरक्षित ने आगमो को विषय की दृष्टि से चार अनुयोगो मे विभक्त किया है।

१ चरणकरणानुयोग २ धमकथानुयोग ३ गणितानुयोग ४ द्रव्यानुयोग।

आचार का प्रतिपादन करने वाले आचाराग, दशवैकालिक, आवश्यक आदि

सूत्रो को प्रथम अनुयोग मे गिना जाता है। धार्मिक दृष्टान्त, कथा एव चरित्र का वर्णन करने वाले ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि दूसरे अनुयोग मे आते हैं। गणित का प्रतिपादन करने वाले सूरपण्णत्ती, चदपण्णत्ती आदि गणितानुयोग मे आते हैं। दार्शनिक तत्त्वो का प्रतिपादन करने वाले दृष्टिवाद आदि द्रव्यानुयोग मे आते हैं।

उपरोक्त चार अनुयोगो मे विषय की दृष्टि से आगमो का विभाजन होने पर भी भेद-रेखा स्पष्ट रूप मे नही खीची जा सकती। उत्तराध्ययन मे धर्मकथाओ के साथ साथ दार्शनिक तथ्यों का भी पर्याप्त निरूपण है। भगवती तो सभी विषयो का समुद्र है। आचाराग मे भी यत्र तत्र दार्शनिक तत्त्व मिल जाते हैं। इसी प्रकार कुछ को छोडकर अन्य सभी आगमो मे चार अनुयोगो का सम्मिश्रण है। इसलिए उपरोक्त विभाजन को मुख्य विषय की दृष्टि से स्थूल विभाजन ही मानना चाहिए।

श्रीमद्राजचन्द्र इन चारो अनुयोगो का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखते हैं—

यदि मन शकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिए। प्रमाद मे पड गया हो तो चरणकरणानुयोग का, कषाय से अभिभूत हो गया हो तो धर्मकथानुयोग का और जडता प्राप्त कर रहा हो गणितानुयोग का।

साख्यदर्शन की दृष्टि से देखा जाय तो शका और कषाय रजोगुण के परिणाम हैं और प्रमाद एव अज्ञान (जडता) तमोगुण के इन दोनो प्रभावो को दूर करने सत्व गुण की वृद्धि के लिए उपरोक्त अनुयोगो का चिन्तन लाभदायक है। इनमें दूसरे अनुयोगो का चिन्तन करणानुयोग के लिए है। द्रव्यानुयोग से दर्शन अर्थात् दृष्टि की शुद्धि होती है और दृष्टि की शुद्धि से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। इसलिए चरणकरणानुयोग ही प्रधान है।

भगवद्गीता या हिन्दु साधना के साथ तुलना की जाय तो कहा जा सकता है कि द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है, चरणकरणानुयोग का कर्मयोग से तथा धर्मकथानुयोग का भक्तियोग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की एक प्रणाली है अत यह राजयोग से सम्बन्ध रखता है।

भारतीय सस्कृति के दो स्रोत

भारत का सास्कृतिक इतिहास दो परम्पराओ के सघर्ष का परिणाम है। एक ओर धम को जीवन निर्वाह का साधन मानकर चलने वाली ब्राह्मण परम्परा है, दूसरी ओर जीवन को धम साधना का उपकरण मानने वाली श्रमण परम्परा। एक ने धम को व्यवसाय के रूप मे अपनाया, दूसरी ने आध्यात्मिक साधना के रूप मे। एक ने भौतिक सुख को मुख्य रख कर धम का उसकी साधना माना, दूसरी ने भौतिक एषणाओ से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार को लक्ष्य बनाया। एक ने प्रेम की उपासना की, दूसरी ने श्रेय की। एक ने चाहा 'हम सौ साल तक जीएँ, हमारा शरीर तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ रहे गौएँ दूध देने वाली हो, समय पर वृष्टि हो, शत्रुओ का नाश हो।" दूसरी ने कहा "आत्मसाधना के पथ पर आगे बढते जाओ, जीने या मरने की चिन्ता मत करो, इस शरीर इन इन्द्रियो को, धन सम्पत्ति तथा सवस्व को आत्म साधना के पथ पर स्वाहा कर दो।" एक ने सुख सम्पत्ति के लिए देवताओ की खुशामद की, उनसे भीख माँगी। दूसरी ने कहा 'सयम और तप के माग पर चलो, देवता तुम्हारे चरण चूमेगे।" एक ने शरीर को प्रधानता दी, दूसरी ने आत्मा को। एक ने बाह्य क्रिया काड को महत्व दिया, दूसरी ने मनोभावो को। एक ने मनुष्य को किसी दिव्य शक्ति के हाथ मे कठपुतली समझा, दूसरी ने कहा तुम स्वय उस दिव्य शक्ति के केन्द्र हो।

वैदिक काल से लेकर आज तक का समस्त साहित्य इन दो धाराओ के सघर्ष को प्रकट करता है। जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणो मे पहली परम्परा का विकास है, उपनिषदो मे उसकी प्रतिक्रिया है। एक ओर यज्ञो के अनुष्ठान मे सारा जीवन लगा देने को कहा गया है, दूसरी ओर यज्ञ रूपी नौका को अदृढ बताया गया है। एक ओर वैदिक क्रिया काड को सर्वोत्कृष्ट माना गया है, दूसरी ओर उसे अपरा विद्या कह कर आत्मविद्या की उपेक्षा होना बतलाया है। सूत्रकाल मे गृह्यसूत्र फिर उसी क्रियाकाड मे समाज को बाधने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर जैन, बौद्ध, आजीविक आदि के रूप मे स्वतन्त्र विचारधाराएँ उसका विरोध करती हैं। महाभारत तथा पुराणो मे सभी प्रकार के विचारो का सकलन है। मध्यकाल मे श्रमण परम्परा के दो रूप हो गए हैं। पहला रूप जैन और बौद्ध धम के रूप मे पल्लवित हुआ, जिसने वैदिक परम्परा का सवथा त्याग कर के स्वतन्त्र विकास किया। दूसरा

परिणामस्वरूप बहुत से धर्म राष्ट्र या जाति तक सीमित रह गए। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण धर्म राष्ट्र तक सीमित रहा। और यहूदी एवं पारसी धर्म जाति विशेष तक। इन सब धर्मों को लौकिक धर्म कहा गया।

इसके विपरीत कुछ धर्मों ने मानवता की समस्याओं को सुलझाने के लिए आध्यात्मिकता का आश्रय लिया। उन्होंने दार्शनिक चिन्तन द्वारा यह प्राप्त किया कि भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व ही सब समस्याओं का बीज है। ऐसे धर्मों के सामने जाति या भूगोल सम्बन्धी कोई परिधि न थी। वे लोकोत्तर धर्म कहे गए।

भारत की लोकोत्तर धर्म परम्पराओं में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण अद्वैतवादी परम्पराओं का है। उनकी मान्यता है कि 'स्व' का इतना व्यापक बना दो, जिसमें सब कुछ समा जाय। "पर" कुछ न रहे। जब तक "दूसरा" है, भय बना रहेगा (द्वितीयाद्वै भयम् भवति) जब सब एक ही हो गए, तो कौन किस से डरेगा, कौन किस की हिंसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यवादी परम्पराओं का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नहीं है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा)। बौद्ध परम्परा ने मुख्यतया इस बात पर बल दिया है। जब वास्तव में सब शून्य है तो अहंता या ममता कैसी?

उपरोक्त दोनों मान्यताओं का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नहीं करता। लौकिक दृष्टि से बाह्य और आभ्यन्तर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएँ सत्य हैं। उन में रहने वाली अनेकता एवं विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समानता स्वाभाविक है और विषमता परागत। घट और पट के परमाणुओं में समानता होने पर भी रचना आदि में भेद होने के कारण विषमता हो गई। इसी प्रकार सभी जीवों या आत्माओं में मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की विकृतियों के कारण विषमता आ गई। प्राणियों का पृथक् २ अस्तित्व बुरा नहीं है। बुराई या दुःखों का कारण परस्पर वैषम्य भावना है। इस वैषम्य बुद्धि को दूर करके प्राणी मात्र के प्रति समता की बुद्धि स्थापित करना जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु है। उसकी मान्यता है कि 'स्व' बुरा नहीं है किन्तु दूसरों के प्रति वैषम्य

बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वदिक परम्परा म मन्ध्योपासना तथा मुसलमानो मे नमाज नित्यकम के रूप मे विहित है इसी प्रकार जैन गृहस्थो के लिए सामायिक है। उसका अथ है—समता की आराधना या उसे जीवन मे उतारने का अभ्यास। सामायिक जैन साधु का तो जीवन व्रत है, महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बात उसी के सहायक तत्त्व हैं। क्षेत्र की दृष्टि मे समता की इस आराधना के दो विभाग हैं, आचार मे समता और विचार मे समता। आचार म समता का अथ है, अहिंसा और यह जैन आचार-शास्त्र का केन्द्र बिन्दु है। विचार मे समता का अथ है, स्याद्वाद, यह जैन दर्शनशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए जैन परम्परा मे बताया गया है कि स्वार्थ बुद्धि या कषाय से प्रेरित होकर दूसर के प्राणो को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। प्राण दस हैं—पाच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, वचन, और शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अथ प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुँचाना ही हिंसा नही है। किन्तु दूसरे की ज्ञानेन्द्रियो पर प्रतिबन्ध लगाना अर्थात् उन्हे स्वतन्त्र होकर देखने, सुनने आदि से रोकना, स्वतन्त्र चिन्तन एव भाषण पर प्रतिबन्ध लगाना एव स्वतन्त्र विचरण मे रुकावट डालना भी हिंसा है।

स्याद्वाद—का अर्थ है दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्व देना जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दशन के अनुसार कोई ज्ञान सवथा मिथ्या नही है और न सवज्ञ के अतिरिक्त किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतिया सापेक्ष सत्य हैं अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न अपेक्षाओ से अनेक रूपो मे प्रकट किया जा सकता है। वे रूप आपातत परस्पर विरोधी होने पर भी मिथ्या नही है। अपनी २ अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मो को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है, तो मिथ्या है।

आचार और विचार की इस समता को जीवन मे उतारने के लिए आचाराङ्ग-सूत्र मे एक उपाय बताया है कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उनके स्थान पर अपने को रख कर देखे। जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदान्त के अनुसार व्यक्तिके स्व केन्द्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा में आत्म बुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विषमता का कारण मोह है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन में जैसे २ इनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जिस जीव में मोह की उत्कृष्ट मात्रा है वह मिथ्यात्वी है। अर्थात वह आत्म विकास के मार्ग पर आया ही नहीं। वह दृष्टि एवं चारित्र दोनों दृष्टियों से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मन्द कषाय वाले उन व्यक्तियों की है जो आत्म विकास के मार्ग को अच्छा तो मानते हैं किन्तु उस पर चलने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वे सम्यग् दृष्टि हैं अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा ठीक मार्ग पर होने पर भी चारित्र की दृष्टि से अविकसित हैं। तीसरी श्रेणी मन्दतर कषाय वाले गृहस्थों की है जो चारित्र को आंशिक रूप से अपनाते हैं। चौथी श्रेणी मन्दतम कषाय मुनियों की है जो चारित्र को पूर्णतया अपनाते हैं। कषाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त श्रेणी विभाजन का आधार कर्म सिद्धान्त है और यह माना गया है कि प्राणियों में विषमता का कारण कर्म बन्ध है। व्यक्ति के भले बुरे आचार एवं विचारों के अनुसार आत्मा के साथ कर्म परमाणु बँध जाते हैं और वे ही सुख-दुःख आदि का कारण बनते हैं। वे जैसे २ दूर होते जाते हैं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए हैं सभी परमात्मा बन गये हैं। उनके अतिरिक्त जगत का रचयिता या नियन्ता कोई व्यक्ति विशेष नहीं है।

व्यवहारिक क्षेत्र में विषमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है—बाह्य वस्तुओं का परिग्रह और विचारों का परिग्रह। वस्तुओं का परिग्रह आचार में हिंसा को जन्म देता है और विचारों का परिग्रह विचार सम्बन्धी हिंसा को।

जैन साधुओं के लिए पांच महाव्रतों का विधान है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव में देखा जाय तो ये अहिंसा या अपरिग्रह का ही

विस्तार है। अपरिग्रह के बिना अहिंसा की साधना नही हो सकती। ये पाचो महाव्रत जैन साधना के मूल तत्त्व हैं।

जैन धर्म, दर्शन एव परम्परा को विहगम दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि सब का केन्द्र बिन्दु एक मात्र समता है। वही समता नीचे चार क्षेत्रो मे बट गयी है–

१ आचार मे समता—अहिंसा जैन आचार का मूल तत्त्व।

२ विचार मे समता—स्याद्वाद जैन-दर्शन का मूल तत्त्व।

३ प्रयत्न और फल मे समता—कर्म सिद्धान्त—जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।

४ सामाजिक समता—व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुण पूजा—जैन सघ व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओ के विषय मे सक्षिप्त बताया जा चुका है। चौथी के विषय मे कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं, गुरु उस आदर्श पर पहुँचने के लिये पथ प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति विशेष को नही रखा गया न ही किसी वर्ण विशेष को महत्व दिया गया है। किन्तु आध्यात्मिक विकास के द्वारा प्राप्त पदो को महत्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँच गये हैं वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत विकसित हैं, वे गुरु हैं।

जैन परम्परा मे नमस्कार मन्त्र तथा मगल पाठ का बहुत महत्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे उसका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार मन्त्र मे पाच पदो को नमस्कार है। अर्हन्त अर्थात् जीवन मुक्त सिद्ध अथवा पूर्ण मुक्त ये दोनो देव तत्त्व के रूप मे माने जाते हैं। शेष तीन हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनो गुरु तत्त्व मे आते हैं।

मगल-पाठ मे अर्हन्त, सिद्ध, साधु एव धर्म इन चार को मगल, लोकोत्तम तथा शरण बताया गया है।

जैन अनुष्ठानो मे सामायिक के बाद प्रतिक्रमण का स्थान है। इसका अर्थ है—प्रत्यालोचना। व्यक्ति जान कर या अनजान मे किये गये कार्यों का पर्यवेक्षण

करता है और अङ्गीकार किये हुए व्रतों में किसी प्रकार की स्खलना के लिये पश्चात्ताप प्रकट करता है। यह प्रतिक्रमण रात्रि के लिए प्रातः सूर्योदय से पहले तथा दिन के लिये सायं सूर्यास्त होने पर किया जाता है। साधु के लिए दोनों समय वाला प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। पन्द्रह दिन के लिए किया जाने वाला पाक्षिक, चार मास के पश्चात् किया जाने वाला चातुर्मासिक तथा वर्ष के अन्त में किया जाने सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। जिस दिन यह प्रतिक्रमण किया जाता है उसे संवत्सरी या पर्युषण कहते हैं। यह जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन प्रतिक्रमण करके पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि नहीं करता, उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नहीं है।

प्रतिक्रमण के अन्त में संसार के समस्त जीवों से क्षमा प्रार्थना द्वारा मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है। वह इस प्रकार है—

खामेमि सव्वजीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणई॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सब प्राणियों से मेरी मित्रता है किसी से वैर नहीं है।

संक्षेप में जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु

नीचे लिखे सिद्धान्तों में प्रकट किया जा सकता है—

१ प्राणी मात्र के प्रति समता की आराधना ही जैन साधना का लक्ष्य है।

२ विषमता का कारण मोह है। विचारों का मोह एकान्त या दृष्टि दोष है। व्यवहार में मोह चरित्र दोष है। इन दोनों को दूर करके ही आत्मा परम आत्मा बन सकता है।

३ मनुष्य के सुख दुःख पर किसी बाह्य शक्ति का नियन्त्रण नहीं है व्यक्ति स्वयं ही उसका कर्ता तथा भोक्ता है।

४ मनुष्य सर्वोपरि है चारित्र सम्पन्न होने पर वह देवों का भी पूज्य बन जाता है।

५ मनुष्यो मे परस्पर जन्मकृत कोई भेद नही है। ब्राह्मण या शूद्र सभी साधना के द्वारा परम-पूज्य अर्थात देवाधिदेव बन सकते हैं।

जैन धर्म और व्यक्ति

व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि मे देखा जाय तो जन धम म वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो पूर्णतया विकसित एव शक्तिशाली व्यक्तित्व क लिए आवश्यक हैं।

हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियो मे घबरा जाता है उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागो म बाट सकते हैं—

१ प्रतिकूल व्यक्ति—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है हमे हानि पहुँचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नही है, उसके सम्पर्क मे आने पर यदि हम घबरा जाते हैं या मन ही मन कष्ट का अनुभव करत हैं तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमने अहिंसा को जीवन मे नही उतारा और सवमत्री का पाठ नही सीखा।

२ प्रतिकूल विचार—अपने जमे हुए विश्वासो के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते हैं, उन विचारो को नही सुनना चाहते या उन पर सहानुभूति के साथ मनन नही कर सकते तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि के अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन मे नही उतारा।

३ प्रतिकूल वातावरण—इसके तीन भेद हैं—

(क) इष्ट की अप्राप्ति अर्थात धन सम्पत्ति सुख सुविधाएँ परिजन आदि जिन वस्तुओ को हम चाहते हैं उनका न मिलना।

(ख) अनिष्ट की प्राप्ति—अर्थात् रोग प्रियजन का वियोग सम्पत्ति नाश आदि जिन बातो को हम नहीं चाहते उनका उपस्थित होना।

(ग) विघ्न बाधाएँ—अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि म विविध प्रकार की अड़चन आना। इन तीनो परिस्थितियो मे घबरा जाना व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमे कर्म सिद्धान्त पर विश्वास नही है। दूसरे शब्दो

में व्याकुलता, घबराहट एवं उत्साह हीनता के दो कारण हैं। या तो हम परावलम्बी हैं अर्थात् हम मानते हैं की सुख की प्राप्ति आत्मा को छोड़कर अन्य तत्वों पर अवलम्बित है अथवा ये मानते हैं कि आत्मा दुर्बल होने के कारण प्रतिकूल परिस्थिति एवं विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। जैन धर्म में आत्मा को अनन्त चतुष्टयात्मक माना गया है। अर्थात् यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप है। सुख को बाहर ढूंढने का अर्थ है हमें आत्मा के अनन्त सुख में विश्वास नहीं है, इसी प्रकार विघ्न बाधाओं के सामने हार मानने का अर्थ है हमें आत्मा के अनन्त वीर्य में विश्वास नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं जैन धर्म व्यक्तित्व विकास के सभी आवश्यक तत्त्वों को उपस्थित करता है।

जैन धर्म और समाज

समाज-शास्त्र का अर्थ है—"स्व" और "पर" के सम्बन्धों की चर्चा। इसकी दो भूमिकाएं हैं लौकिक तथा लोकोत्तर। दार्शनिक या आध्यात्मिक भूमिका को लोकोत्तर भूमिका कहा जायेगा और भौतिक अस्तित्व के लिए जो परस्पर व्यवहार आवश्यक है उसे लौकिक भूमिका। लोकोत्तर भूमिका की दृष्टि से वेदान्त का कथन है कि "स्व" का इतना व्यापक बना दो कि "पर" कुछ न रहे। 'तत्त्वमसि' का सन्देश संकुचित परिधि वाले जीव को प्रेरणा देता है कि वह अपने को ब्रह्म समझे, जिसमें जड़ और चेतन, सारा विश्व समाया हुआ है। जिससे भिन्न कुछ नहीं है। दूसरी ओर बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है, कि "स्व" को इतना सूक्ष्म बनाते जाओ कि वह कुछ न रहे। सब कुछ "पर" हो जावे। तृष्णा रहित जीवन यहाँ तक कि आध्यात्मिक साधना भी "पर" के लिए बन जाय। महायान इसी का प्रतिपादन करता है। जैन धर्म का कथन है कि "स्व' और "पर" दोनों का अस्तित्व वास्तविक है यह सदा रहा है और भविष्य में रहेगा, उसे मिटाया नहीं जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि "स्व" का जीवन ऐसा बन जाय जिससे "पर" का लेश मात्र भी शोषण न हो। इसी प्रकार वह इतना स्वावलम्बी हो जाय कि "पर" उसका शोषण न कर सकें। जब तक भौतिक अस्तित्व है यह अवस्था नहीं प्राप्त हो

सकतो। अत भौतिक अस्तित्व के साधना काल मे इन दोनो वृत्तियो का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास के पूर्ण होने पर मानव समस्त भौतिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष परमात्मावस्था या परमपद है।

लौकिक दृष्टि से मनुष्य की वृत्तियो को तीन भूमिकाओ मे बाटा जा सकता है–(१) स्वार्थ (२) परार्थ और (३) परमार्थ।

(१). स्वार्थ भूमिका मे मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व तथा सासारिक कामनाओ की पूर्ति को सर्वोपरि मानता है। इसके लिए दूसरो की हिंसा या शोषण करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करता। यह भूमिका धर्म शास्त्र की दृष्टि मे ससार या पाप की भूमिका समझी जाती है। वेदान्त मे इसे अविद्या कहा गया है। बौद्ध दर्शन मे मोह या मिथ्यात्व। योगदर्शन मे चित्तवृत्ति के दो प्रवाह बताए गए हैं–ससार प्राग्भारा और कैवल्यप्राग्भारा। उपरोक्त अवस्था का सम्बन्ध प्रथम प्रवाह से है।

(२) परार्थवृत्ति मे मनुष्य 'स्व' के क्षेत्र को कुटुम्ब, परिवार, जाति तथा राष्ट्र से बढाता हुआ समस्त विश्व तक फैला देता है। उसके हित को अपना हित तथा अहित को अपना अहित मानने लगता है क्षेत्र जितना सकुचित होगा व्यक्ति उतना ही स्वार्थी कहा जाएगा। तथा क्षेत्र जितना विकसित होगा उतना ही परार्थी। जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि की उन्नति के लिए जो कार्य किए जाते हैं वे सभी इस कोटि मे आते हैं।

(३) परार्थ की तरतमता का जानने के चार तत्त्व हैं–(१) क्षेत्र की व्यापकता (२) त्याग की उत्कटता (३) उद्देश्य की पवित्रता और (४) परिणाम का मगलमय होना। क्षेत्र की व्यापकता का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्या क्षेत्र विशेष तक सीमित परार्थ वृत्ति धर्म का अङ्ग बन सकती है? एक व्यक्ति अपनी जाति अथवा राष्ट्र की सीमा मे प्रत्येक सदस्य का कल्याण एव विकास चाहता है और इसके लिए उस क्षेत्र के बाहर हिंसा तथा अत्याचार करने मे भी नही हिचकता। हिटलर मुसोलिनी, स्टालिन आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्होने जिस वर्ग या क्षेत्र को ऊँचा उठाया वह उन्हे देवता या ईश्वर मानता रहा किन्तु बाह्य क्षेत्र के लिए वे दानव सिद्ध हुए। दूसरी श्रेणी उन लोगो की है जो अपने क्षेत्र मे परस्पर रचनात्मक परार्थवृत्ति का अनुसरण करते हैं।

किन्तु उसके बाहर तटस्थ हैं। तीसरे वे हैं जिनका लक्ष्य व्यापक है किन्तु कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अपनी शक्ति तथा मर्यादा के अनुसार आगे बढ़ते हैं अर्थात् वे समस्त विश्व का कल्याण चाहते हैं। किन्तु रचनात्मक कार्य करने के लिए सुविधानुसार क्षेत्र चुन लेते हैं। उपरोक्त दोनों वर्ग धर्म की कोटि में आते हैं।

यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है, परार्थ के लिए रचनात्मक कार्य का रूप क्या होगा? क्या कोई ऐसा कार्य है जिसमें किसी को कष्ट न पहुँचे? एक व्यापारी अपने जाति-बन्धु को ऊँचा उठाने के लिए व्यापार में लगा देता है और कुछ ही दिनों में उसे लखपति बना देता है। क्या यह उपकार धर्म कहा जाएगा? इसके उत्तर में कई अपेक्षाएँ हैं, व्यापारी ने यदि उसकी सहायता किसी लौकिक स्वार्थ से की है, तो वह कार्य सामाजिक दृष्टि से उचित होने पर भी धर्म कोटि में नहीं आता किन्तु यदि ऐसा कोई स्थूल स्वार्थ नहीं है तो स्वार्थ त्याग की दृष्टि से वह धर्म है। साथ ही उसका परिणाम दरिद्र जनता का शोषण है तो वह आदि में मंगल होने पर भी परिणाम में मंगल नहीं है। परिणाम में मंगल तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करता हुआ ऊँचा उठे और किसी के लिए अमंगल न बने। भौतिक दृष्टि से की गई सहायताओं में धर्म का वह शुद्ध रूप नहीं आता। वह त्यागी जीवन में ही आ सकता है। अतः जिस प्रकार परम मंगल की पराकाष्ठा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति में होती है इसी प्रकार परम मंगल की शुद्ध साधना मुनि जीवन में ही हो सकती है। सामाजिकता और शुद्ध धर्म का मेल सम्भव नहीं।

फिर भी व्यक्ति जब तक उस स्तर पर नहीं पहुँचता तब तक स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर धीरे धीरे सामाजिकता का विकास उपादेय ही है। परार्थ, परमार्थ पर पहुँचने की साधना है। स्वार्थ के लिए सब कुछ करना, किन्तु परार्थ के समय हिंसा अहिंसा आदि की चर्चा करना दम्भ या मिथ्याचार है।

जैन धर्म में व्यक्ति का लक्ष्य परमार्थ माना गया है किन्तु उसकी साधना के लिए परार्थ या समाज हित को भी उपादेय बताया गया है। इस भूमिका को श्रावक की भूमिका कहा गया है। जहाँ व्यक्ति पर नागरिक की दृष्टि से उत्तरदायित्व डाला जाता है, और उसके लिए विधि तथा निषेध द्वारा मार्ग का प्रदर्शन है। विधि

के रूप मे वह पर-पोषण अर्थात् पर-हित या परोपकार के कार्यों को अपनाता है। और निषेध के रूप मे पर-शोषण के क्षेत्र को सकुचित करता जाता है।

आध्यात्मिक या कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म मोहनाश पर बल देता है। इसके मुख्य चार भेद हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ।

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास इन्ही की उत्तरोत्तर न्यूनता पर अवलम्बित है। यह न्यूनता दो प्रकार से सम्पादित होती है, निरोध द्वारा तथा मगली करण द्वारा। मन मे क्रोध उठने पर उसके बुरे परिणामो को सोचना, मैत्रीभावना द्वारा द्वेषवृत्ति को शान्त करना चित्त को आत्मचिन्तन मे लगा देना आदि निरोध के मार्ग हैं किन्तु क्रोध को किसी उपयोगी प्रवृत्ति म बदल देना उसका मगलीकरण है। क्रोध का उदय तब होता है जब व्यक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति मे बाधा खडी हो जाती है। वह बोलना चाहता है किन्तु किसी कारण नही बोल पाता, करना चाहता है किन्तु नही कर पाता। इसी प्रकार खाने पीने, उठने बैठने, देखने-सुनने आदि के विषय म इच्छा का व्याघात होने पर मनुष्य क्रोध करने लगता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह उत्साह का व्याघात है। इसकी सहारक प्रतिक्रिया क्रोध है और रचनात्मक प्रतिक्रिया शुभकार्य मे द्विगुणित उत्साह है। व्यक्ति जब दूसरे का हित करता है तो छिपे रूप म अस्मिता का पोषण होता है, और उसे सात्विक आनन्द प्राप्त होता है, उत्साह की वृद्धि होती है और क्रोध वृत्ति अपने आप घट जाती है। यह क्रोध के मगलीकरण की प्रतिक्रिया है।

दूसरी कषाय 'मान' है। यह अहकार, अभिमान, दर्प आदि शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमे मनुष्य अपने को दूसरो की अपेक्षा बडा समझता है और दूसरो से आदर सत्कार की अपेक्षा रखता है। यह आकाक्षा वेश-विन्यास, आडम्बर, धन वैभव का प्रदर्शन या अन्य बाह्य तत्त्वो के आधार पर पूरी की जाती है तो वह हेय है किन्तु यदि उसी आकाक्षा को दूसरो की सहायता, उदारता तथा आन्तरिक गुणो के विकास द्वारा पूरा किया जाए तो व्यक्ति समाजहित के साथ साथ आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होता है।

तीसरी कषाय 'माया' है। दूसरे की निन्दा, कपट, कुटिलता आदि इसी मे आते हैं। जब इसका प्रयोग किसी के प्रति ईर्ष्या या बुरी भावना से प्रेरित होकर किया

जाता है तो हेय है, परन्तु यदि इसका प्रयोग दूसरों के हित साधन या रचनात्मक कार्यों में किया जाए तो उसीका नाम कार्य कुशलता हो जाता है जो समाज के लिए उपयोगी तत्त्व है।

चौथी कषाय 'लोभ' है। व्यक्ति जब धन सम्पत्ति या अन्य किसी बाह्य वस्तु में इतना आसक्त हो जाता है कि भले बुरे का विवेक नहीं रहता, उस वस्तु की प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है तो वह लोभ है और वह हेय है किन्तु यदि मूर्छा अथवा आसक्ति का शमन करते हुए लगन या निष्ठा को कायम रखा जाय तो वही वृत्ति उपयोगी तत्त्व बन जाती है।

राग, द्वेष आदि अन्य पाप वृत्तियों का भी इसी प्रकार परिष्कृत और मंगलमय बनाया जा सकता है। श्रावक की चर्या में इसी मंगलीकरण की मुख्यता है। वह सामाजिकता के द्वारा चित्त का परिष्कार करता है और इस प्रकार आत्मशुद्धि की ओर बढ़ता है।

जहाँ समाज संगठन का लक्ष्य 'स्व' वर्ग तक सीमित है और उसके सामने विश्व-कल्याण या आत्मशुद्धि सरीखा कोई पारमार्थिक लक्ष्य नहीं है। वहाँ सामाजिकता या राष्ट्रीयता घातक बन जाती है। हिटलर कालीन जर्मनी तथा दूसरों के द्वारा अपने भौतिक विकास की इच्छा करने वाले अनेक संगठनों के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्हें स्वस्थ समाज नहीं कहा जा सकता। रचनात्मक कार्य की दृष्टि से सामाजिकता किसी क्षेत्र तक सीमित रह सकती है किन्तु उसका लक्ष्य सर्वोदय या आत्मकल्याण ही होना चाहिए तभी उसे स्वस्थ सामाजिकता कहा जा सकता है। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है, कि 'मेरी सब प्राणियों से मित्रता है।' 'किसी से वैर नहीं है।' सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यापक होने पर भी मित्रता का क्रियात्मक रूप असीम नहीं हो सकता, पर उसके साथ यह भी लगा हुआ है कि मेरा किसी से वैर नहीं है। अर्थात् अपने विकास में मित्रता का पोषण दूसरों के शोषण द्वारा नहीं होना चाहिए। यह आदर्श स्वस्थ समाज रचना के लिए अनिवार्य है।

द्वितीय खण्ड

उपासकदशांग-अन्तरंग परिचय

जैन साधना या विकास का मार्ग—

जैन धर्म के अनुसार साधना द्वारा किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति नही की जाती, किन्तु अपना ही स्वरूप जो बाह्य प्रभाव के कारण छिप गया है, प्रकट किया जाता है। जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन साधना का लक्ष्य है। इस पद की प्राप्ति के लिए जीव अपने विकारो को दूर करता हुआ क्रमश आगे बढता है। विकास की इन अवस्थाओ को गुण-श्रेणी कहा जाता है। इनका विभाजन आचार्यो ने कई प्रकार से किया है। पूज्यपाद ने अपने समाधि तन्त्र मे नीचे लिखी तीन श्रेणिया बताई हैं—

१ बहिरात्मक—मिथ्यात्व से युक्त आत्मा, जो बाह्य प्रवत्तियो मे फसा हुआ और आत्माभिमुख नही हुआ।

२ अतरात्मा—सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् और पूर्ण विकास से पहले, साधक आत्मा।

३ परमात्मा—पूर्ण विकास कर लेने के पश्चात्।

गुणस्थानो की दृष्टि से उन्ही को चौदह श्रेणिया मे बाँटा गया है। कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से उन्हे चार श्रणियो मे बाटा गया है।

आत्मा मे जो चार अनन्त बताए गए हैं उनको दबाने वाले चार कर्म हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को ढापता है, दर्शनावरणीय दर्शन को, अन्तराय वीर्य को और मोहनीय आध्यात्मिक सुख को। इनमे से पहले तीन कर्मो का नाश विकास की अन्तिम अवस्था मे होता है। बीच की अवस्था मे जो विकास होता है वह मोहनीय कर्म के क्रमिक हटने से सम्बन्ध रखता है। ज्यो ज्यो मोहनीय का प्रभाव कम होता जाता है त्यो-त्यो जीव ऊची श्रेणियो मे चढता जाता है। और अन्त मे उसका सब नाश करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दर्शन मे जो स्थान तृष्णा का है, वही स्थान जैन दर्शन मे मोह का है। जिसे कर्म सिद्धान्त मे मोहनीय-

कर्म कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व या विपरीत श्रद्धा को उत्पन्न करता है। उसका प्रभाव हटने पर ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। इसलिए आध्यात्मिक विकास क्रम में पहला कदम सम्यक्त्व है।

चारित्रमोहनीय चारित्र का बाधक है। उसके कारण जीव क्रोध, मान, माया तथा लोभ में फँसा रहता है। उपरोक्त कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर प्रत्येक के चार भेद किए गए हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्याना वरणी और संज्वलन। इनमें अनन्तानुबन्धी तीव्रतम है। उसके रहते जीव सम्यक्त्व को भी नहीं प्राप्त कर सकता। उसे तथा दर्शन मोहनीय को दूर करके ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। दूसरी शक्ति अप्रत्याख्यानावरणी को दूर करके वह श्रावक बनता है, तीसरी को दूर करके साधु और चौथी को दूर करके परमात्मा। इसी आधार पर विकास मार्ग को भी नीचे लिखी चार श्रेणियों में विभाजित किया जाएगा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु और केवली।

सम्यग्दृष्टि—

आत्म शुद्धि के मार्ग पर चलने की पहली सीढ़ी सम्यक्त्व है। इसी को सम्यग् दर्शन या सम्यग्दृष्टि भी कहा जाता है। सम्यक्त्व का अर्थ है ठीक रास्ते को प्राप्त करना। जब जीव इधर-उधर भटकना छोड़कर आत्म विकास के ठीक रास्ते को प्राप्त कर लेता है, तो उसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व वाला कहा जाता है। ठीक मार्ग को प्राप्त करने का अर्थ है, मन में पूरी श्रद्धा होना कि यही मार्ग कल्याण की ओर ले जाने वाला है। उस मार्ग पर चलने की रुचि जागृत होना और विपरीत मार्गों का परित्याग करना।

शास्त्रों में सम्यक्त्व के दो रूप मिलते हैं—पहला बाह्य रूप है। उस का अर्थ है देव, गुरु और धर्म में श्रद्धा। दूसरा आभ्यन्तर रूप है इसका अर्थ है आत्मा की वह निर्मलता जिससे सत्य को जानने की स्वाभाविक अभिरुचि जागृत हो जाए। नीचे इन दोनों रूपों का वर्णन किया जायगा।

सम्यक्त्व का बाह्य रूप—

जब कोई व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है, तो नीचे लिखी प्रतिज्ञा करता है—

अरिहंतो मह देवो, जाव जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्त, इअ सम्मत्त मए गहिय ॥

अर्थात्—समस्त जीवन के लिए अरिहन्त मेरे देव हैं। साधु गुरु हैं और जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादन किया हुआ तत्त्व ही धम है। इस प्रकार मैं सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ।

देव—

सम्यक्त्व की व्यवस्था मे सबसे पहले देव तत्त्व आता है। भारतीय परम्परा मे उसकी कल्पना के दो रूप हैं। पहला रूप वैदिक परम्परा मे मिलता है। उसमे देव की कल्पना वरदाता के रूप मे की गई है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओ की स्तुति करने से वे इच्छापूर्ति करते थे। उसके बाद जब अनेक देवताओ का स्थान एक देवता ने ले लिया तो वह भी भक्तो को सुख देने वाला बना रहा। जिन धर्मों का मुख्य ध्येय सासारिक सुखो की प्राप्ति है, उन्होने देवतत्त्व को प्राय इसी रूप मे माना है।

जैन धम अपने देवता से किसी वरदान की आशा नही रखता। वह उसे आदर्श के रूप मे स्वीकार करता है। वास्तव मे देखा जाय तो आत्मशुद्धि के माग मे वरदान का कोई स्थान नही है। इस माग मे आगे बढने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वय परिश्रम करना होता है। कदम कदम बढा कर आगे चलना होता है। कोई किसी को उठा कर आगे नही रख सकता। यहाँ कोई दूसरा यदि उपयोगी हो सकता है तो इतना ही कि माग बताने के लिए आदश उपस्थित कर दे। जिससे साधक उस लक्ष्य को सामने रख कर चलता रहे। जैन धर्म का देवतत्त्व उसी आदश का प्रतीक है। वह बताता है कि हमे कहाँ पहुँचना है। वह हमारी यात्रा का चरम लक्ष्य है।

अरिहन्त और ईश्वर—

पातञ्जलयोगदशन मे भी ईश्वर की कल्पना आदश के रूप मे की गई है। उसमे बताया गया है कि जो पुरुष विशेष सासारिक क्लेश, कम विपाक तथा उनके फल से सदा अछूता रहा है, वही ईश्वर है। उसीका ध्यान करने मे चित्त स्थिर होता है। और साधक उत्तरोत्तर विशुद्धि तथा ऊँची समाधि को प्राप्त करता है। जैन धम मे भी अरिहन्त का ध्यान उसी उद्देश्य से किया जाता है। किन्तु अरिहन्त

और योगदर्शन के ईश्वर में भी एक भेद है। योगदर्शन का ईश्वर कभी कर्मों से लिप्त नहीं हुआ। वह सदा से अलिप्त है। इसके विपरीत अरिहन्त हमारे सरीखी साधारण अवस्था से उठ कर परम अवस्था को पहुंचे हैं। वे जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। योगदर्शन का ईश्वर सदा से सिद्ध है। जैन धर्म के अरिहन्त साधना द्वारा सिद्ध हुए हैं। योगदर्शन के ईश्वर आदर्श थे और आदर्श रहेंगे। जीव उस अवस्था को कभी नहीं पहुंच सकता। अरिहन्त भी आदर्श हैं, किन्तु साधना करता हुआ प्रत्येक जीव उनके बराबर हो सकता है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र में चलने वाले जहाजों के लिए ध्रुव के समान है। जिसे देख कर सभी चलते हैं किन्तु वहां पहुंचता कोई नहीं। अरिहन्त परले किनारे पर पहुंचे हुए जहाज के प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जहां पहुंचने पर प्रत्येक जहाज स्वयं प्रकाशस्तम्भ बन जाएगा।

अरिहन्त शब्द की व्याख्या—

अरिहन्त शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या के अनुसार अरिहन्त शब्द का अर्थ है—शत्रुओं का नाश करने वाला। जिस साधक ने क्रोध, मान माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्म शत्रुओं का नाश कर दिया है, वही अरिहन्त है। जैन साधक अपने आदर्श के रूप में उस व्यक्तित्व को रखता है जिसने आत्मा की सभी दुर्बलताओं का अन्त कर दिया है। 'अरिहन्त' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'अर्हत्' के रूप में की जाती है। इसका अर्थ है योग्य। जो जीव आत्म-विकास करते हुए पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, मुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वह अर्हत् है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में अनन्तज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख है और अनन्त वीर्य है। कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की ये शक्तियां दबी हुई हैं। अर्हत् अवस्था में ये पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं। इस शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति संस्कृत की 'अर्ह पूजायाम्' धातु से की जाती है अर्थात् जो व्यक्ति पूजा के योग्य है वह अर्हत् है।

यहां एक बात उल्लेखनीय है। जो अर्थ ईश्वरत्व के रूप में किसी व्यक्ति विशेष [illegible] विकास कर लिया वह चाहे कोई [illegible]

[illegible] तीर्थ [illegible] महापुरुष [illegible]

पूण विकास कर लिया । उसमे गुणो का महत्व है, व्यक्ति का नही । प्रत्येक नए काल के साथ नए तीर्थकर उत्पन्न होते हैं नए युगप्रवर्तक होते ह, नए वन्दनीय होते हैं । पुराने मोक्ष चले जाते हैं, फिर वापिस नही लौटते । धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी काल के गभ मे विलीन हो जाती है । नए युग की जनता नए तीर्थकरा की वदना करती है । पुरानो को भूल जाती है । अरिहत न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं, न ईश्वर के अश हैं । वे वह आत्माएँ हैं जिन्होने अपने आप में साए हुए ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है । जो अपनी तपस्या तथा परिश्रम के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा बने हैं । जैन धम उन्ही का देव के रूप मे मानता है ।

गुरु——

देवतत्त्व के बाद दूसरा नम्बर गुरुतत्त्व का आता है । प्रत्येक जैन यह प्रतीज्ञा करता है कि साधु मेरे गुरु हैं । साधु का अथ है पाँच महाव्रतो की साधना करने वाला । वे महाव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) पाणाइवाआओ वेरमण–प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग ।
(२) मुसावाआओ वेरमण–मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग ।
(३) अदिन्नादानाओ वेरमण–अदत्तादान अर्थात् चोरी का परित्याग ।
(४) मेहुणाओ वेरमण–मैथुन का परित्याग ।
(५) परिग्गहाओ वेरमण–परिग्रह का त्याग ।

इन महाव्रतो की रक्षा के लिए साधु पाच समितियाँ तथा तीन गुप्तियो का पालन करता है । बाइस परीषहो को जीतता है । भिक्षाचरी, निवास, विहार, भोजन आदि प्रत्येक चर्या मे सावधान रहता है ।

सयम के लिए आवश्यक उपकरणो का छोडकर अपने पास कोई परिग्रह नही रखता । रुपया, पैसा तथा धातु से बनी हुई वस्तुएँ रखना भी जैन साधु के लिए वर्जित है । वस्त्र पात्र भी इतने ही रखते हैं जिन्हे स्वय उठा सके । विहार म किसी सवारी को काम मे नही लाते । सदा पैदल चलत हैं । अपना सारा सामान अपने ही कधो पर उठाते हैं, नौकर या कुली नही रखते । स्वावलम्बन उनकी चर्या का मुख्य अङ्ग है ।

प्राकृत भाषा मे जैन साधुओ के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है । उसके

और योगदर्शन के ईश्वर मे भी एक भेद है। योगदर्शन का ईश्वर कभी कर्मों से लिप्त नही हुआ। वह सदा से अलिप्त है। इसके विपरीत अरिहंत हमारे सरीखी साधारण अवस्था से उठ कर परम अवस्था को पहुँचे हैं। वे जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। योगदर्शन का ईश्वर सदा से सिद्ध है। जैन धर्म के अरिहंत साधना द्वारा सिद्ध हुए हैं। योगदर्शन के ईश्वर आदर्श थे और आदर्श रहेगे। जीव उस अवस्था को कभी नही पहुँच सकता। अरिहंत भी आदर्श हैं, किन्तु साधना करता हुआ प्रत्येक जीव उनके बराबर हो सकता है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र मे चलने वाले जहाजो के लिए ध्रुव के समान है। जिसे देख कर सभी चलते हैं किन्तु वहाँ पहुँचता कोई नही। अरिहंत परले किनारे पर पहुँचे हुए जहाज के प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जहा पहुँचने पर प्रत्येक जहाज स्वयं प्रकाशस्तम्भ बन जाएगा।

अरिहंत शब्द की व्याख्या—

अरिहंत शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या के अनुसार अरिहन्त शब्द का अर्थ है—शत्रुओ का नाश करने वाला। जिस साधक ने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्म शत्रुओ का नाश कर दिया है, वही अरिहन्त है। जैन साधक अपने आदर्श के रूप मे ऐसे व्यक्तित्व को रखता है जिसने आत्मा की सभी दुर्बलताओ का अंत कर दिया है। "अरिहंत" शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति "अर्हत्" के रूप मे की जाती है। इसका अर्थ है योग्य। जो जीव आत्म-विकास करते हुए पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, मुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वह अर्हन् है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा मे अनन्तज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख है और अनन्त वीर्य है। कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की ये शक्तिया दबी हुई हैं। अर्हत् अवस्था मे वे पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं। इस शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति संस्कृत की 'अर्ह पूजायां' धातु से की जाती है, अर्थात् जो व्यक्ति पूजा के योग्य है वह अर्हत् है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। जैन धर्म, देवतत्त्व के रूप मे किसी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नही करता। जिस आत्मा ने पूर्ण विकास कर लिया वह चाहे कोई हो, अरिहन्त है और देव के रूप मे वन्दनीय है।

यद्यपि जैन परम्परा इतिहास के रूप मे चौवीस तीर्थंकरो तथा दूसरे महापुरुषो को मानती है। उन्हे वन्दना भी करती है किन्तु इसलिए कि उन्होने आत्मा का

पूर्ण विकास कर लिया। उसमे गुणो का महत्व है, व्यक्ति का नही। प्रत्येक नए काल के साथ नए तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं, नए युगप्रवर्तक होते हैं, नए वन्दनीय होते हैं। पुराने मोक्ष चले जाते हैं, फिर वापिस नही लौटते। धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी काल के गर्भ मे विलीन हो जाती है। नए युग की जनता नए तीर्थंकरो की वदना करती है। पुरानो को भूल जाती है। अरिहत न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं, न ईश्वर के अश हैं। वे वह आत्माएँ हैं जिन्होने अपने आप मे सोए हुए ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है। जो अपनी तपस्या तथा परिश्रम के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। जैन धर्म उन्ही को देव के रूप मे मानता है।

गुरु—

देवतत्त्व के बाद दूसरा नम्बर गुरुतत्त्व का आता है। प्रत्येक जैन यह प्रतीना करता है कि साधु मेरे गुरु हैं। साधु का अर्थ है पाच महाव्रतो की साधना करने वाला। वे महाव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) पाणाइवाआओ वेरमण–प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग।
(२) *मुसावाआओ वेरमण–मृषावाद अर्थात असत्य भाषण का परित्याग।*
(३) अदिन्नादानाओ वेरमण–अदत्तादान अर्थात् चोरी का परित्याग।
(४) मेहुणाओ वेरमण–मैथुन का परित्याग।
(५) परिग्गहाओ वेरमण–परिग्रह का त्याग।

इन महाव्रतो की रक्षा के लिए साधु पाच समितिया तथा तीन गुप्तियो का पालन करता है। बाइस परीषहो को जीतता है। भिक्षाचरी, निवास, विहार भोजन आदि प्रत्येक चर्या मे सावधान रहता है।

सयम के लिए आवश्यक उपकरणो को छोडकर अपने पास कोई परिग्रह नही रखता। रुपया, पैसा तथा धातु से बनी हुई वस्तुएँ रखना भी जैन साधु के लिए वर्जित है। वस्त्र-पात्र भी इतने ही रखते हैं जिन्हे स्वय उठा सके। विहार मे किसी सवारी को काम मे नही लाते। सदा पैदल चलते हैं। अपना सारा सामान अपने ही कधो पर उठाते हैं, नौकर या कुली नही रखते। स्वावलम्बन उनकी चर्या का मुख्य अङ्ग है।

प्राकृत भाषा मे जैन साधुओ के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। उसके

संस्कृत मे तीन रूप होते हैं—श्रमण, शमन और समन। इन तीन रूपों म जैन साधु की चर्या का निचोड आ जाता है। सबसे पहले जैन साधु श्रमण होता है। वह आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सभी बातो मे अपने ही श्रम पर निभर रहता है। आध्यात्मिक विकास के लिए तपस्या तथा सयम द्वारा स्वय श्रम करता है। भौतिक निर्वाह के लिए भी दूसरे पर निभर नही रहता। अपने सारे काम स्वय करता है। भिक्षा के लिए भी कई घरों मे थोडा-थोडा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है। किसी पर बोझ नही बनता। जैन साधु शमन भी होता है। वह क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो तथा इन्द्रिय वृत्तियो का शमन करता है। अपनी *आवश्यकताओ तथा इच्छाओं को सीमा मे रखता है। अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण* बात यह है कि साधु समता का आराधक होता है। वह सभी प्राणियो पर सम-दृष्टि रखता है। न किसी को शत्रु समझता है, और न किसी को मित्र। सुख और दुःख मे समान रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता मे समान रहता है। निन्दा और स्तुति मे समान रहता है। स्व और पर के प्रति समान रहता है। इस प्रकार वह समस्त विश्व को समान दृष्टि से देखता है। इसी बात का लक्ष्य मे रख कर उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है, "समयाए समणो होइ।"

देवतत्त्व साधना के आदर्श को उपस्थित करता है तो गुरुतत्त्व साधना का मार्ग बताता है। साधक को इधर उधर विचलित होने से रोकता है। शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है। गर्व आने पर शान्त करता है।

धर्म तत्त्व—

सम्यक्त्व मे तीसरी बात धर्म तत्त्व अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्तो की है। इसके लिए जैन कहता है कि जिन ने जो कुछ कहा है वही मेरे लिए तत्त्व है। जैन शब्द भी इसी आधार पर बना है। जिनो के द्वारा बताए हुए रास्ते पर चलने वाला जैन है।

जिन का अर्थ है जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। शास्त्रो मे जिन की परिभाषा देते हुए दो बातें बताई जाती हैं। पहली–जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। दूसरी जिसने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। कोई व्यक्ति जब गलत बात कहता है तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। *या तो कहने वाला उस बात को* पूरी तरह जानता ही नही या जानते हुए भी किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा

कहता है। जिसमे ये दोनो दोष नही हैं। वे पूर्णज्ञानी भी हैं और स्वार्थों से ऊपर हैं। इसलिए उनके द्वारा कही हुई बात मिथ्या नहीं हो सकती।

यहाँ बुद्धि वादियों की ओर से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति प्रत्येक बात को अपनी बुद्धि मे जाँच कर क्यो न स्वीकार करे। किन्तु यह बात ठीक नही है। मनुष्य की बुद्धि इतनी क्षुद्र है कि सभी बातो का परीक्षण वह स्वय नही कर सकती। विज्ञान के क्षेत्र मे भी हमे प्राचीन अन्वेषणो को मान कर चलना होता है। यदि नया युग पुराने अनुभवो से लाभ न उठाए और प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्वेषण नए सिरे से प्रारम्भ करे तो प्रगति असम्भव है। हम जहाँ थे, वहाँ रह जाएँगे। इसलिए पुराने अनुभवो पर विश्वास करते हुए आगे बढना होता है। कुछ दिनो बाद व्यक्ति स्वय उन अनुभवो को साक्षात्कार कर लेता है। उस समय दूसरे के अनुभव पर विश्वास के स्थान पर सारा अनुभव अपना ही बन जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र म इसी को कैवल्य अवस्था कहते हैं। उस दशा को प्राप्त करने से पहले दूसरे के अनुभवो पर विश्वास करना आवश्यक है।

बुद्धि मे एक दोष और भी है। वह प्राय हमारे मन मे जमे हुए अनुराग के सस्कारो का समर्थन करती है। यदि हम किसी को अच्छा मानते हैं तो बुद्धि उसी का समर्थन करती हुई दो गुण बता देगी। यदि किसी को बुरा मानते हैं तो बुद्धि उसके दोष निकाल लेगी। बुद्धि के आधार पर सत्य को तभी जाना जा सकता है जब चित्त शुद्ध हो। वह अनुराग और घृणा से ऊँचा उठा हुआ हो। चित्त शुद्धि के लिए साधना आवश्यक और श्रद्धा उसका पहला पाया है। हाँ, श्रद्धेय मे जिन गुणो की आवश्यकता है उसे जिन शब्द द्वारा स्पष्ट बता दिया गया है। जो व्यक्ति राग, द्वेष से रहित तथा पूर्ण ज्ञान वाला है चाहे कोई भी हो उसकी वाणी मे विश्वास करने से कोई हानि नहीं है।

इसी बात को ऐतिहासिक दृष्टि से लिया जाता है तो श्रुतज्ञान या जैन आगमो की चर्चा की जाती है। जो ज्ञान दूसरो के अनुभव सुनकर प्राप्त किया जाय उसे श्रुत ज्ञान कहा जाता है। जैन परम्परा मे जो ज्ञानवान् महापुरुष हुए हैं उनका अनुभव आगमो म मिलता है, इसीलिए आगमो मे श्रद्धा रखने का प्रतिपादन किया जाता है।

सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप—

देव, गुरु और धर्म में विश्वास के रूप में सम्यक्त्व का जो स्वरूप बताया गया है, वह बाह्य कारणों की अपेक्षा रखता है, इसलिए बाह्य है। सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप आत्मा की शुद्धि पर निर्भर है। वास्तव में देखा जाय तो बाह्य रूप आभ्यन्तर रूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जब आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि आती है तो जीव में सत्य को जानने की स्वाभाविक रुचि प्रकट होती है। उस शुद्धि से पहले जीव सांसारिक सुखों में फँसा रहता है।

जब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जीव में पहले-पहल उस प्रकार की शुद्धि कैसे आती है। इसके लिए संक्षेप में आत्मा का स्वरूप और उसके संसार में भटकने के कारणों को जानना आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा अनादि तथा अनन्त है। न तो यह कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट होगा। चार अनन्त इसके स्वभाव हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य। अर्थात् आत्मा अनन्त वस्तुओं को जान सकता है। वह अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति का भंडार है।

आत्मा के ये गुण कर्मबन्ध के कारण दबे हुए हैं। कर्मों के कारण वह अल्पज्ञ, अल्पद्रष्टा, अल्पसुखी तथा अल्पशक्ति बना हुआ है। कर्मों का बन्धन दूर होते ही उसके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाएँगे और वह अनन्तज्ञानी, अनन्तद्रष्टा, अनन्तसुखी तथा अनन्तशक्ति वाला बन जाएगा। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न। कर्मों का आवरण जैसे-जैसे पतला और अल्प होता जाता है आत्मा के गुण अपने आप प्रकट होते जाते हैं।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। पुद्गल द्रव्य के वे परमाणु जो आत्मा के साथ मिल कर उसकी विविध शक्तियों को कुण्ठित कर डालते हैं वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वे संस्कार जो आत्मा को बहिर्मुखी बनाए रखते हैं, उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होने देते वे भावकर्म हैं। इन कर्मों के कारण जीव अनादिकाल से संसार में भटकता रहा है और तब तक भटकता रहेगा जब तक उनसे छुटकारा नहीं पा लेता।

सम्यक्त्व के पांच चिन्ह—

सम्यग्दृष्टि के जीवन में स्वाभाविक निर्मलता आ जाती है। उसका चित्त शान्त हो जाता है। दृष्टि दूसरे के गुणों पर जाती है, दोषों पर नहीं। दुःखी को

देखकर उसके मन में स्वाभाविक करुणा उत्पन्न होती है। बिना किसी स्वार्थ के दूसरे की सेवा करके उसके मन में प्रसन्नता होती है। शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के पाँच चिन्ह बताए गए हैं—

१ शम—सम्यग्दृष्टि व्यर्थ के झगडे तथा कदाग्रहों से दूर रहता है, उसकी वृत्तियां शान्त होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय मन्द होते हैं। राग और द्वेष में उत्कटता नहीं होती। इसी का नाम शम है।

२ संवेग—सम्यग्दृष्टि का मन सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उसका मन त्याग की ओर झुका रहता है। शास्त्रों में इसकी उपमा तप्त लोह पद न्यास से दी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को तपे हुए लोहे पर चलने के लिए कहा जाय तो वह डरते-डरते पैर रखता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक प्रपंचों में डरते-डरते घूमता है।

३ निर्वेद—सांसारिक भोगों के प्रति स्वाभाविक उदासीनता।

४ अनुकम्पा—संसार के सभी प्राणियों का दुःख दूर करने की इच्छा।

५ आस्तिक्य—आत्मा आदि तत्त्वों के अस्तित्व में दृढ विश्वास।

सम्यक्त्व के भेद—

कारक, रोचक तथा दीपक—

यह बताया जा चुका है कि देव, गुरु और धर्म में दृढ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। विश्वास कई प्रकार का होता है। असली विश्वास वह है जो कार्य करने की प्रेरणा दे। हमें यदि विश्वास हो जाय कि जिस कमरे में हम बैठे हैं उसमें सांप है तो कभी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकते। बार बार चारों ओर दृष्टि दौड़ाते रहेंगे और पूरी तरह सावधान रहेंगे। कोशिश यह करेंगे कि जल्दी से जल्दी उस कमरे से बाहर निकल जायं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में यह विश्वास जम गया कि सांसारिक काम-भोग दुर्गति में ले जाने वाले हैं वह कभी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। वह कभी धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि के मोह में नहीं फंस सकता। कर्तव्य बुद्धि से जब तक गृहस्थ अवस्था में रहेगा, निर्लेप होकर रहेगा। हमेशा यह भावना रहेगी कि इस प्रपंच से छुटकारा कब मिले। इस प्रकार की चित्तवृत्ति को सम्यक्त्व कहा जाता है। वह मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करता है। वहाँ सोचना और करना एक साथ चलते हैं। यही सम्यक्त्व मनुष्य को आगे बढ़ाता है।

रोचक सम्यक्त्व—

कुछ लोगो का विश्वास रुचि उत्पन्न करके रह जाता है। ऐसे विश्वास वाला व्यक्ति धर्म मे श्रद्धा करता है, धर्म की बात उसे सुनना अच्छा लगता है। धार्मिक पुरुषो के दर्शन व धर्मचर्चा मे आनन्द आता है किन्तु वह कुछ करने के लिए तैयार नही होता। ऐसे सम्यक्त्व को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपक सम्यक्त्व—

कुछ लोग श्रद्धावान् न होने पर भी दूसरो मे श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह मिथ्यात्व ही है। फिर भी दूसरो मे सम्यक्त्व का उत्पादक होने से सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यक्त्व के पाच अतिचार—

ऊपर बताया जा चुका है कि अगीकृत मार्ग मे दृढ विश्वास साधना की प्रथम भूमिका है। डावाडोल मन वाला साधक आगे नही बढ सकता। उसे सदा सावधान रहना चाहिए कि मन मे किसी प्रकार की अस्थिरता या चचलता तो नही आ रही है। जैन शास्त्रो मे इसके निम्नलिखित पाच दोष बताए गए हैं—

१ शका—शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित तात्त्विक बातों मे सन्देह होना। जिस व्यक्ति की आत्मा उसके ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों तथा उनको आच्छादन करने वाले कर्मो को उनसे छुटकारा प्राप्त करने के लिए प्रतिपादित मार्ग मे विश्वास नही है वह आगे नही बढ सकता। अत सिद्धान्तो मे अविचल विश्वास होना आवश्यक है। उनमे शका या सन्देह होना सम्यक्त्व का पहला दोष है।

२ काक्षा—अपने मार्ग को छोड कर दूसरे मार्ग की ओर झुकाव। प्राय देखा गया है कि व्यक्ति जिन बातो से अधिक परिचित हो जाता है उसके प्रति आकर्षण कम हो जाता है और नई बाते अच्छी लगती हैं। अगीकृत मार्ग में भी ऐसी कठिनाइया आने लगती हैं, लेकिन यह हृदय की दुर्बलता है। साधना का मार्ग कठोर है और कठोर रहेगा। उससे बचने के लिए इधर-उधर भागना एक प्रकार का विघ्न है। आज कल धार्मिक उदारता के नाम पर इस दोष को प्रश्रय दिया जा रहा है और एक निष्ठा को साम्प्रदायिकता या सकुचित मनोवृत्ति कह कर बदनाम किया जा रहा है। इन दोनो का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए यदि धार्मिक कट्टरता दूसरो से द्वेष या घृणा के लिये प्रेरित करती है तो यह वास्तव मे बुरा है।

धर्म किसी से द्वेष करने के लिये नही कहता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी मार्गों को एक सरीखा कह कर किसी पर चलने का प्रयत्न न किया जाय। एक ही लक्ष्य पर अनेक मार्ग पहुँच सकते हैं किन्तु चलना एक ही पर होगा। जैन शास्त्रो मे सिद्धों के जो पन्द्रह भेद बताए गए हैं उनमे स्वलिंग सिद्ध के समान परलिंग सिद्ध को भी स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है कि साधक साधु के वेश म हो या अन्य किसी वेश मे, जैन परम्परा का अनुयायी हो या अन्य का, चारित्र शुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर भी किसी एक मार्ग का पकड कर उस पर दृढतापूर्वक चलना आवश्यक है। सर्व-धर्म समभाव का यह अर्थ नही है कि किसी पर न चला जाय। जो व्यक्ति आन्दोलन द्वारा लोक प्रिय बनना चाहता है वह कैसी ही बातें करे किन्तु किसी दूसरे मार्ग को बुरा न मानते हुए भी चलना किसी एक पर ही होगा, साधक का कल्याण इसी मे है। एक लक्ष्य और एक निष्ठा साधना के अनिवार्य तत्त्व हैं। प्रथम दोष लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और द्वितीय निष्ठा से।

३ विचिकित्सा—फल के प्रति सन्देहशील होना। धार्मिक साधना का अंतिम फल मोक्ष या निर्वाण है। आवान्तर फल आत्म शुद्धि है जो निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। तब तक साधक को धैर्य रखना चाहिये और अपने अनुष्ठानो मे लगे रहना चाहिए। लक्ष्य सिद्धि के प्रति सन्देहशील होना साधना का तीसरा दोष है।

४ पर-पाषड प्रशसा—इसका अर्थ है अन्य मतावलम्बी की प्रशसा करना। यहाँ 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है स्वय जिस मत को स्वीकार किया है उससे भिन्न मत की प्रशसा। उदाहरण के रूप मे बताया गया है कि व्यक्ति पुरुषार्थ तथा पराक्रम द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसे बनाना या बिगाडना उसके हाथ मे है। इसके अतिरिक्त गोशालक नियतिवाद को मानता है उसका कथन है कि पुरुषार्थ व्यर्थ है जो कुछ होना है अवश्य होगा। उसमे परिवर्तन लाना सम्भव नही है। तीसरी परम्परा ईश्वरवादियों की है जिनका कथन है कि हमारा भविष्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे है हमे अपने उद्धार के लिये उसी से प्रार्थना करनी चाहिए। इन मान्यताओ के सत्यासत्य की चर्चा म न जाकर यहा इतना कहना ही पर्याप्त है कि साधक इनकी प्रशसा करता है या इन के प्रति

सहानुभूति रखता है तो उसकी निष्ठा में शिथिलता आ जायेगी, अत इस से बचे रहने की आवश्यकता है। 'पर' शब्द का दूसरा अर्थ अन्य मतावलम्बी है। शिष्टाचार के नाते सभी को आदर देना साधक का कर्त्तव्य है। किन्तु प्रशसा का अर्थ है उसकी विशेषताओं का अभिनन्दन। यह तभी हो सकता है जब साधक या तो उन्हें अच्छा मानता है या हृदय मे बुरा मानता हुआ भी ऊपर से तारीफ करता है। पहली बात शिथिलता है जो कि साधना का विघ्न है, दूसरी बात कपटाचार की है जो चारित्र शुद्धि के विपरीत है।

५ पर-पाषण्ड सस्तव—इसका अर्थ है भिन्न मत या उसके अनुयायी के साथ परिचय या मेल-मिलाप रखना। यह भी एक-निष्ठा का बाधक है। पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन मे चित्त विक्षेप के रूप मे साधना के नौ विघ्न बतलाए हैं—व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। इनमें सशय उपरोक्त शका के समान है और भ्रातिदर्शन विचिकित्सा के समान। बौद्ध धर्म मे इन्ही के समान पाँच नीवरण बताए गए हैं।

श्रावक-धर्म

जैन साधक की दूसरी श्रेणी श्रावक धर्म है। इसे सयमासयम, देशविरति, गृहस्थ-धर्म आदि नामों द्वारा प्रकट किया जाता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्रमण परम्परा मे त्याग पर अधिक बल दिया गया है। वहाँ विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख सामग्री उसमे बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है। फिर भी जैन परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप मे एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहाँ त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है। बौद्ध सघ मे केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते हैं, गृहस्थो के लिये स्थान नही है। किन्तु जैन सघ मे दानो सम्मिलित हैं। जहा तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है। बौद्ध भिक्षु अपनी चर्या में रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियो मे भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नही कर सकता। परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु सस्था का कार्य है, सघ के भरण-पोषण एव बाह्य सुविधाओ का ध्यान रखना श्रावक सस्था का कार्य है।

जैन साहित्य म श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला, "श्रु" धातु से बना है जिसका अर्थ है सुनना। जो सूत्रों का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है। श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रतीत होता है जैन परम्परा मे श्रावको द्वारा स्वय शास्त्राध्ययन की परिपाटी नही रही। यत्र तत्र साधुओ के अध्ययन और उन्हे पढाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है। अध्ययन करने वाले साधुओ की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है। इसका दूसरा अर्थ "श्रा पाके" धातु के आधार पर किया जाता है। इस धातु से सस्कृत रूप "श्रापक" बनता है जिसका प्राकृत मे "सावय" हो सकता है किन्तु सस्कृत मे "श्रावक" शब्द के साथ इसकी सगति नही बैठती। इस शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है।

श्रावक के लिए बारह व्रतो का विधान है। उनमे से प्रथम पाच अणु-व्रत या शील व्रत कहे जाते हैं। अणु-व्रत का अर्थ है छोटे व्रत। साधु हिंसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अत उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप मे करता है अत उसके अणुव्रत कहे जाते हैं। शील का अर्थ है आचार अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच चारित्र या आचार की आधार शिला हैं। इसीलिए इनको शील कहा जाता है। बौद्ध साहित्य मे भी इनके लिए यही नाम मिलता है। योग दर्शन मे इन्हे यम कहा गया है और अष्टाग योग की आधारशिला माना गया है। और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं। व्यक्ति, देश काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं अर्थात् धर्माधर्म या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमो की जाँच अहिंसा आदि के आधार पर करनी चाहिए। किन्तु इन्हे किसी दूसरे के लिए गौण नही बनाया जा सकता। हिंसा प्रत्येक अवस्था मे पाप है उसके लिए कोई अपवाद नही है। कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो हिंसा पाप है अहिंसा धर्म है, सत्य आदि के लिए भी यही बात है। किन्तु इनका पूर्णतया पालन वही हो सकता है जहाँ सब प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं। हमारी प्रत्येक हलचल मे सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है अत साधक के लिए विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढता चला जाय। साधु और श्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाएँ हैं। श्रावक के भेद

सात व्रतो को शिक्षा व्रत कहा गया है। वे जीवन मे अनुशासन लाते हैं। इनमे से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिए हैं और हमारी व्यावसायिक हल-चल, दैनन्दिन रहन महन एव शरीर सचालन पर नियत्रण करते हैं और शेप चार आतरिक शुद्धि के लिए हैं। इन दोनो श्रेणियो मे विभाजन करने के लिए प्रथम तीन को गुण व्रत और शेप चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है।

इन वारह व्रतो के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप म सम्यक्त्व व्रत है। जहाँ साधक की दृष्टि अन्तमुखी वन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्व देने लगता है इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। वारह व्रतो का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का सचय करता जाता है। उत्साह वढने पर वह घर का भार पुत्र को सौंप कर धर्म स्थान म पहुँच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म-चिन्तन मे विताने लगता है। उस समय वह ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर वढता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान वना लेता है। जब वह यह देखता है कि मन मे उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और वल क्षीण होता जा रहा है तो नहीं चाहता की शारीरिक दुर्वलता मन को प्रभावित करे और आत्मचिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्ताएँ होने लगें। इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड देता है। आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म चिन्तन मे लीन रहता है। जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है, वहाँ यह भी नही चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाए। जीवन और मृत्यु सुख और दुःख सव के प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्त चित्त से स्थूल शरीर को छोड देता है। श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन मे है। अव हम सक्षेप मे इन व्रतो का निरूपण करेंगे। प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागो मे विभक्त है। पहला भाग विधान के रूप म है। जहा साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को सकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एव उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे वढने पर व्रत टूट जाता है। दूसरे भाग म उन दोषो का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सम्भावना वनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हे जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। श्रावक के लिए दिनचर्या के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है। उसमें वह प्रतिदिन इन व्रतो एव

सभावित दोपो को दोहराता है किसी प्रकार का दोप ध्यान मे आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य म उनके निर्दोप पालन की घोपणा करता है । इन सम्भावित दोपो को अतिचार कहा गया है ।

जन शास्त्रो मे व्रत के अतिक्रमण की चार कोटिया वताई गई है—

१ अतिक्रम—व्रत का उल्लघन करने का मन मे ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना ।

२ व्यतिक्रम—उल्लघन करने के लिए प्रवृत्ति ।

३ अतिचार—व्रत का आशिक रूप मे उल्लघन ।

४ अनाचार—व्रत का पूणतया टूट जाना ।

अतिचार की सीमा वहा तक है जव कोई दोप अनजान म लग जाता है, जान-बूझ कर व्रत भग करने पर अनाचार हो जाता है ।

अहिंसा व्रत—

अहिसा जैन परम्परा का मूल है । जैन धम और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है । आचाराग सूत्र म भगवान महावीर ने घोपणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल म हो चुके हैं, जो वर्त्तमान मे हैं तथा जो भविष्य मे होगे उन सवका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोप या स्वर है कि विश्व मे जितने प्राणी, भूत, जीव या सत्व हैं किसी को नही मारना चाहिए। किसी को नही सताना चाहिए । किसी को कष्ट या पीडा नही देनी चाहिए । जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होने कहा जव तुम किसी को मारना, सताना या पीडा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रख कर साचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हे मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नही लगता । उसी प्रकार दूसरे का भी अच्छा नही लगता । उसी सूत्र म भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, वाह्य युद्धो से कोई लाभ नही ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिसा के दो रूप उपस्थित किये । एक वाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना । दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अथ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना ।

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म का उत्कृष्ट मगल बताया है। इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अन्त मे तीनो अवस्थाओ मे मगल रूप है वह धर्म है। साथ ही उसके तीन अग बताए गए हैं—१ अहिंसा, २ सयम, ३ तप। वास्तव मे देखा जाए तो सयम और तप अहिंसा के ही दो पहलू हैं। सयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियो के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओ या कुसस्कारो के साथ। श्रावक के अणुव्रतो तथा शिक्षाव्रतो का विभाजन इन्ही दो रूपो को सामने रख कर किया गया है। सयम और तप की पूर्णता के रूप मे ही मुनियो के लिए एक ओर महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओ का विधान है और दूसरी ओर बाह्य आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओ का विधान है। पांच महाव्रतो म भी वस्तुत देखा जाए तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिंसा अर्थात व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते हैं, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिंसा अर्थात् विचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य मे कहा है—"अहिंसा भूतानामनभिद्रोह ।" द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि उसम मुख्यतया विचार पक्ष को सामने रखा गया है, जैन दर्शन विचार और व्यवहार दोनो पर बल देता।

जैन दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है, वह विचारो की अहिंसा है इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारो को जितना महत्व देता है दूसरो के विचारो को भी उतना दे। असत्य सिद्ध होने पर अपने विचारो को छोडने पर तैयार रहे और सत्य सिद्ध होने पर दूसरे के विचारो का भी स्वागत करे। जैन दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणो को भी उपस्थित करते हैं। वे दृष्टिकोण मिथ्या नही होते किन्तु सापेक्ष होते हैं। परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमे से किसी एक का चुनाव किया जाता है। इस चुनाव का द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है।

उमास्वाति ने अपने "तत्त्वार्थसूत्र" मे हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।" इस व्याख्या मे दो भाग हैं, पहला भाग है—"प्रमत्तयोगात।" योग का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, प्रमत्त का अर्थ है—प्रमाद मे युक्त। वे पांच हैं—

१ मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुएँ जिनसे मनुष्य की विवेक शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

२ विषय—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियो के विषय, जिनके आकर्षण मे पड कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है।

३ कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग जो मनुष्य को पागल बना देते हैं।

४ निद्रा—आलस्य या अकमण्यता।

५ विकथा—स्त्रियो के सौन्दर्य, देश विदेश की घटनाएँ, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय उथल पुथल आदि के सम्बन्ध म व्यथ की चर्चाएँ करते रहना। प्रमाद की अवस्था मे मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राणो पर आघात पहुँचे यह हिंसा है। इसका अथ है यदि गृहस्थ हित बुद्धि से प्रेरित होकर कोई काय करता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा नही है।

उपरोक्त व्याख्या म प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है। जैन शास्त्रो मे प्राण के दस भेद हैं। पाच इन्द्रियो के पाच प्राण हैं, मन, वचन, काया के तीन, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा। दूसरे को ऐसी चोट पहुँचाना जिसस देखना, या सुनना बन्द हो जाए आघात है। उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियो मे बाधा डालना प्रतिबन्ध है। दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात मे रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तगत है और हिंसा है। दूसरे की खुली हवा का रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है।

यहा यह प्रश्न होता है कि जहा एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तिया के कारण दूसरे नागरिक के रहन सहन एव सुख सुविधा म बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन म हस्तक्षेप करता है चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधो द्वारा शान्ति भग करता है क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नही है ? यही साधु और श्रावक की चर्या मे अन्तर हो जाता है। साधु किसी पर हिंसात्मक नियत्रण नही करता वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नही देना चाहता। इसके विपरीत श्रावक या इस बात की

छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है। नागरिक जीवन मे बाधा डालने वाले पर यथोचित नियन्त्रण रख सकता है।

साधु और श्रावक की अहिंसा म एक बात का अ तर और है। जन धम के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव हैं और उन्ह स्थावर कहा गया है। दूसरी ओर, चलने वाले जीवो को त्रस कहा गया है।

साधु अपने लिए, भोजन बनाना, पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नही करता, वह भिक्षा पर निर्वाह करता है, इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मर्यादित रूप मे प्रवृत्तियाँ करता है और उनमे पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि स्थावर जीवो की हिंसा होती ही रहती है। उस सूक्ष्म हिंसा का उसे त्याग नही होता वह केवल स्थूल अर्थात् त्रस जीवो की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार श्रावक की चर्या मे दो छूटें हैं। पहली अपराधी का दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की। इसी आधार पर श्रावक के व्रतो को सागारी अर्थात् छूट वाले कहा जाता है इसके विपरीत साधु को अनगार कहा जाता है।

अहिंसा का विध्यात्मक रूप—

अहिंसा को जीवन मे उतारने के लिये मैत्री भावना का विधान किया गया ह श्रावक प्रतिदिन यह घोषणा करता है—मैं सब जीवो को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें मेरी सब स मित्रता है, किसी से वैर नही है। इस घोषणा मे श्रावक सवप्रथम स्वय क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नही है, मैं सबको अभय प्रदान करता हूँ। दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियो से क्षमा याचना करता है और स्वय निभय होना चाहता है। वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहाँ वह शोषक न बने और न शोषित, न भयोत्पादक बने और न भयभीत और न शासक बने और न त्रस्त, न उत्पीडक बने न पीडित। तीसरे चरण मे वह सब से मित्रता की घोषणा करता है। अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है। मित्रता का मूल आधार है प्रति दान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना। एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख सुविधा, आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नहीं रहता इसके विपरीत जब अपनी सुख सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है। मित्रता

की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियो का हितैषी एव रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है। चौथा चरण है, मेरा किसी से वैर नही है। वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेप, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण हैं, म उन सब को धो चुका हूँ और शुद्ध एव पवित्र हृदय ले कर विश्व के सामने उपस्थित होता हूँ। जो व्यक्ति कम से कम वर्ष मे एक बार इस प्रकार घोषणा नही करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोषणा को अपना ले तो विश्व की अनेक समस्याएँ सुलझ जाएँ।

अहिंसा और कायरता––

अहिंसा पर प्राय यह आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है। शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति सघर्ष की हिम्मत नही रखता वही अहिंसा को अपनाता है किन्तु यह धारणा ठीक नही है। कायर वह होता है जो मन मे प्रतिकार की भावना होने पर भी डर कर प्रत्याक्रमण नही करता है, ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नही है, वह तो आक्रमण से भी बडी हिंसा है। महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारो मे परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिए अहिंसक बनना असम्भव है। अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है। छोटा बालक बहुत सी वस्तुएँ तोड-फोड डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है। बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ जाता है। मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है कि दूसरे द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध नहीं आता प्रत्युत उपस्थित किये गये कष्टो, झझटो तथा हानियो से सघर्ष करने मे अधिकाधिक आनन्द आता है। अहिंसक शत्रु से डर कर क्षमा नही करता। किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है।

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं। जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही हैं, अर्थात् जिन्हे धन-सम्पत्ति, मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नही है जो समस्त स्वार्थो को त्याग चुके है वे ही ऐसा कर सकते हैं। दूसरों के लिए अहिंसा की दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाए किन्तु अपराधी का दमन करने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है। उसमें भी अपराधी को

सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नही। द्वेष बुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जाएगा।

भारतीय इतिहास मे अनेक जैन राजा-मन्त्री, सेनापति तथा बड़े-बड़े व्यापारी हो चुके हैं। समस्त प्रवृत्तिया करते हुए भी वे जैन बने रहे। उनके उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि प्रवृत्तिमय जीवन मे भी अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत मे यह निश्चय करता है कि मै निरपराध त्रस जीवो की हिंसा नही करूँगा अर्थात् उन्हे जान बूझ कर नही मारूँगा। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन मे सम्भावना बनी रहती थी। वह इस प्रकार हैं—

१ बन्ध—पशु तथा नौकर, चाकर आदि आश्रित जनो को कष्टदायी बन्धन मे रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है।

२ वध—उन्हे बुरी तरह पीटना।

३ छविच्छेद—उनके हाथ, पाँव आदि अगो को काटना।

४ अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना। नौकरो से अधिक काम लेना भी अतिभार है।

५ भक्तपानविच्छेद—उन्हे समय पर भोजन, पानी न देना। नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालो को कष्ट पहुँचे।

इन पाँच अतिचारो से ज्ञात होता है कि श्रावक सस्था का विकास मुख्यता वैश्य वर्ग मे हुआ था। कृषि गोपालन तथा वाणिज्य उनका मुख्य धन्धा था। आनन्द के अध्ययन मे इन तीनो का विस्तृत वर्णन है। भगवान महावीर के गृहस्थ अनुयायियो मे राजा, सेनापति तथा अन्य आयुध जीवी भी सम्मिलित थे। किन्तु महावीर का मुख्य लक्ष्य मध्यवर्ग था। उनके मतानुसार स्वस्थ समाज की रचना ऐसा वर्ग ही कर सकता है जो न स्वय दूसरे का शोषण करता है और न दूसरे के शोषण का लक्ष्य बनता है। तत्कालीन समाज मे ब्राह्मण और क्षत्रिय शोषक थे एक बुद्धि द्वारा शोषण करता था एव शस्त्र द्वारा। दोनो परस्पर मिलकर समाज पर आधिपत्य जमाये हुए थे। दूसरी ओर शूद्र का शोषितवर्ग था उन्हे सम्पत्ति

रखने का अधिकार नहीं था। दूसरो की सेवा करना और दूसरो द्वारा दिए गए बचे खुचे भोजन तथा फटे-पुराने वस्त्रो पर निर्वाह करना ही एकमात्र धर्म था। ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा शूद्र महावीर के श्रमण सघ मे सम्मिलित होकर एक सरीखे हो गए, उनका परस्पर भेद समाप्त हो गया और सर्व-साधारण के वन्दनीय बन गए। किन्तु जहा तक गहस्थ जीवन का प्रश्न है महावीर ने वैश्य समाज को सामने रक्खा और वह परम्परा अब तक चली आ रही है।

सत्य व्रत—

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद विरमण अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग है। उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असद के तीन अर्थ हैं—(१) असत् अर्थात जो बात नही है उसका कहना। (२) बात जैसी है उसे वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप मे भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पडे उसी को बिगाड कर रक्खा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाए। सत्यवादी का कर्तव्य है कि दूसरे के सामने वस्तु को वास्तविक रूप मे रखे उसे बनाने या बिगाडने का प्रयत्न न करे। (३) इसका अर्थ है असत बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। यह दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थ सिद्धि मूलक—अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे को गलत बात बताना। (२) द्वेषमूलक—दूसरे का हानि पहुँचाने की भावना।

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है। किन्तु दुर्भावना से प्रेरित, मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमे आ जाते हैं।

सत्य की श्रेष्ठता के विषय मे दो वाक्य मिलते हैं। पहला उपनिषदो मे है—'सत्यमेवजयते नानृत' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं। दूसरा वाक्य जैन शास्त्रो मे मिलता है 'सच्च लोगम्मि सारभूय' अर्थात् सत्य ही दुनिया मे सारभूत है। इन दोनों मे भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य म हिंसा मिली हुई है जीत मे हारने वाले की हिंसा छिपी हुई है अहिंसक मार्ग तो वह है जहा शत्रु और मित्र दोनो की जीत होती है। हार किसी की नहीं होती। दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है उसी पर दुनिया टिकी हुई है। जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन

का मूल्य सत्य पर आधारित है यहा जीत और हार का प्रश्न नही है ।

उपनिषदो म सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य मे रख कर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है। जैन धम आचार प्रधान है अत अहिंसा को सामने रखकर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है ।

श्रावक अपने सत्य व्रत मे स्थूल मृषावाद का त्याग करता है । उन दिनो स्थूल-मृषावाद के जो रूप थे यहाँ उनकी गणना की गई है ।

१ कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या के विषय मे झूठी बातें कहना। उसकी आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के विषय में दूसरे को धोखा देना। इस असत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा कन्यापक्ष मे ऐसी कटुता आ जाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है ।

२ गवालीक—गाय, भैंस आदि पशुओ का लेन देन करते समय झूठ बोलना। वर्तमान समय को लक्ष्य मे रखकर कहा जाए तो क्रय विक्रय सम्बन्धी सारा झूठ इसमे आ जाता है ।

३ भूम्यलीक—भूमि के सम्बन्ध मे झूठ बोलना ।

४ स्थापनामृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिए झूठ बोलना ।

५ कूटसाक्षी—लोभ मे आकर झूठी साक्षी देना। उपरोक्त पाँचो बातें व्यवहार शुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं और स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक हैं। इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—बिना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना ।

(२) रहस्याभ्याख्यान—राग मे आकर विनोद के लिए किसी पति पत्नी अथवा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना, किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना ।

(३) स्वदार-मन्त्रभेद—आपस म प्रीति टूट जाए, इस ख्याल से एक दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना ।

(४) मिथ्योपदेश—सच्चा-झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना ।

(५) कूट-लेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि ।

तत्त्वार्थ सूत्र मे सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है इसका अर्थ है किसी की धरोहर रखकर इन्कार कर जाना ।

अचौर्य व्रत--

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है वह स्थूल चोरी का त्याग करता है । इसके नीचे लिखे रूप हैं--

दूसरे के घर मे सेध लगाना, ताला तोडना या अपनी चाबी लगा कर खोलना, बिना पूछे दूसरे की गाठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियो को लूटना अथवा डाके मारना ।

इस व्रत के पाँच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं--

१ स्तेनाहृत--चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर मे रखना ।

२ तस्कर-प्रयोग--आदमी रख कर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना ।

३ विरुद्धराज्यतिक्रम--भिन्न भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ बन्धन लगा देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं ऐसे राज्य के नियमो का उल्लघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है ।

४ कूटतुला-कूटमान--नाप तथा तोल म बेईमानी ।

५ तत्प्रतिरूपक व्यवहार--वस्तु मे मिलावट या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना ।

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारो का व्यापार तथा व्यवहार मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह बताने की आवश्यकता नही ।

स्वदार सन्तोष व्रत—

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है । इसमे वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है । यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है । और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्यावश्यक है । इसके पाँच अतिचार निम्न हैं—

१ इत्वरिक परिगृहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो । भारतीय सस्कृति मे विवाह-सम्बन्ध समस्त जीवन के लिए होता है ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनो मे सहयोग देती है जैसा कि

आनन्दादि श्रावको की पत्नियां के जीवन से सिद्ध होता है। इसके विपरीत जो स्त्री कुछ समय के लिए अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, जीवन के उत्थान में सहायक नही हो सकती। श्रावक को ऐसी स्त्री के पास गमन नही करना चाहिए।

२ अपरिगृहीतागमन—वेश्या आदि के साथ सहवास।

३ अनगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात सहवास के प्राकृतिक अगो को छोड़कर अन्य अगो से सहवास करना।

४ परविवाहकरण—दूसरो का परस्पर सम्बन्ध कराना।

५ कामभोग-तिव्राभिलाष—विषय-भोग तथा काम वासना म तीव्र आसक्ति।

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिए उसकी मर्यादा निश्चित है, अपनी सन्तान तथा आश्रित जनो का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है। इसी प्रकार पशु धन रखने वाले को गाय, भैंस आदि पशुओ का सम्ब ध भी कराना पड़ता है श्रावक को इसकी छूट है।

परिग्रह परिमाण व्रत—

इसका अर्थ है श्रावक को धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए। सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का एक साधन है। साधन वही तक उपादेय होता है जहाँ तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है, यदि सम्पत्ति सुख के स्थान पर दुखो का कारण बन जाती है और आत्म विकास को रोकती है तो हेय हो जाती है। इसीलिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है। वहाँ साधु वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो के साथ ही अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं करता। श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है।

वर्तमान मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है। वह "स्व' के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिए "स्व" को मानने लगा है। भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए समस्त आध्यात्मिक गुणो को तिलाजलि दे रहा है। परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है। परिग्रह परिमाण व्रत इस बात की ओर सकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नही है।

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। ससार म सोना, चाँदी, भूमि,

अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नही है। यदि एक व्यक्ति उसका अधिक सचय करता है तो दूसरे के साथ सघर्ष होना अनिवार्य है। इसी आधार पर राजाओ और पूँजीपतियो मे परस्पर चिरकाल से सघर्ष चले आ रहे हैं, जिनका भयकर परिणाम साधारण जनता भोगती आ रही है। वर्तमान युग मे राजाओ और व्यापारियो ने अपने २ सगठन बना लिए हैं और उन सगठनो मे परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है। इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप मे रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया। दूसरी ओर भूपतियो की सत्ता लालसा और उसके परिणाम स्वरूप होने वाले भयकर युद्धो को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग मे लाई गई फिर भी समस्याएँ नही सुलझी। जब तक व्यक्ति नही सुधरता सगठना से अपेक्षित लाभ नही मिल सकता। क्योकि सगठन व्यक्तियो के समूह का ही नाम है। परिग्रह परिमाण व्रत वैयक्तिक जीवन पर अकुश रखने के लिए कहता है। इसमे नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है।

१ क्षेत्र—(खेत) अर्थात उपजाऊ भूमि की मर्यादा।
२ वस्तु—मकान आदि।
३ हिरण्य—चाँदी।
४ सुवर्ण—सोना।
५ द्विपद—दास, दासी।
६ चतुष्पद—गाय, भैस, घोडे आदि, पशु धन।
७ धन—रुपये पैसे आदि सिक्के या नोट।
८ धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि खाद्य सामग्री।
९ कुप्य या गोप्य—तावा, पीतल आदि अन्य धातुएँ।

कही २ हिरण्य मे सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुएँ ग्रहण की गई हैं और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है—हीरे, माणिक्य, मोती आदि रत्न।

इस व्रत के अतिचारो मे प्रथम आठ को दो दो की जोडी मे इकट्ठा कर दिया गया है और नवे को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पाँच अतिचार बताए गए हैं—

१ क्षेत्रवस्तु परिमाणातिक्रम २ हिरण्यसुवर्ण परिमाणातिक्रम ३ द्विपदचतुष्पद परिमाणातिक्रम ४ धन-धान्य परिमाणातिक्रम ५ कुप्य परिमाणातिक्रम।

दिशा परिमाण व्रत—

पाँचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई है। छठे दिशा परिमाण व्रत मे प्रवृत्तियो का क्षेत्र सीमित किया जाता है। श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एव चारो दिशाओ मे निश्चित सीमा से आगे बढ कर म कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नही करूँगा। साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नही है क्योकि उसकी प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नही होती। वह किसी को कष्ट नही पहुँचाता प्रत्युत् धर्म प्रचारार्थ ही घूमता है। विहार अर्थात धर्म-प्रचार के लिए घूमते रहना उसकी साधना के आवश्यक अग हैं किन्तु श्रावक की प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक भी होती हैं अत उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है।

विभिन्न राज्यो मे होने वाले सघर्षों को सामने रखकर विचार किया जाए तो इस व्रत का महत्व ध्यान म आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग मे भी इसका कितना महत्व है। यदि विभिन्न राज्य अपनी अपनी राजनीतिक एव आर्थिक सीमाएँ निश्चित करलें तो बहुत से सघर्ष रुक जाएँ। श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों मे परस्पर व्यवहार के लिये पचशील के रूप में जो आचार सहिता बनाई है उसम इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे के राज्य मे हस्तक्षेप नही करेगा।

इस व्रत के पाच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ उर्ध्वदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।

२ अधोदिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण।

३ तिरछीदिशा अर्थात पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण म मर्यादा का अतिक्रमण।

४ क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल म मर्यादा के क्षेत्र को बढा लेना।

५ स्मृति अन्तर्धान—मर्यादा का स्मरण न रखना।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

सातवें व्रत में वैयक्तिक आवश्यकताओ पर नियत्रण किया गया है उपभोग का अर्थ है भोजन पानी आदि वस्तुएँ जो एक बार ही काम में आती हैं। परिभोग का

अथ है वस्त्र, पात्र शय्या आदि वस्तुएँ जो अनेक वार काम मे लाई जा सकती हैं। उपभोग और परिभोग शब्दो का उपरोक्त अथ भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशा २ मे तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ म किया गया है। उपासकदशागसूत्र की अभयदेवीय टीका मे उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अथ भी दिया गया है अर्थात् एक वार काम मे आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है।

इस व्रत मे दो दृष्टिया रखी गई हैं भोग और कम। भोग की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर २६ वाते गिनाई गई हैं जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है उनमे भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुएँ आ गई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे किस प्रकार का अनुशासन था किस प्रकार वह अपने कार्य मे जागरूक है। उनमे स्नान तथा दन्त धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है। अत जैनियो के गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है वह जैन हो या अजैन उसके लिए धम को दोष देना उचित नही है। दूसरी दृष्टि कम की अपेक्षा से है। श्रावक को ऐसे कम नही करने चाहिएँ जिनमे अधिक हिंसा हो जैसे—कोयले बनाना, जगल साफ करना, बैल आदि को नथना या खस्सी करना आदि। उसको ऐसे धन्दे भी नही करने चाहिएँ जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो जैसे—दुराचारिणी स्त्रियो की नियुक्ति करके वेश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओ को सहायता देना आदि। इनके लिए १५ कर्मादान गिनाए गए हैं। उपरोक्त २६ बातो तथा १५ कर्मादानो के लिये प्रथम आनन्द नाम का अध्ययन देखना चाहिए।

अनर्थदण्ड विरमण व्रत—

पाँचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे मे सम्पत्ति या स्वाथमूलक प्रवृत्तिया की, सातवें म प्रतिदिन व्यवहार मे आने वाली भोग्यसामग्री पर नियन्त्रण किया गया, आठवें मे हलचल या शारीरिक चेष्टाओ का अनुशासन है श्रावक के लिए व्यथ की वात करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन हाथ पैर हिलाना वर्जित है। इसी प्रकार उन्हे अपनी घरेलू वस्तुएँ व्यवस्थित रखनी चाहिएँ। ऐसा कोई काय नही करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनथ-दण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप बताए गए हैं—

१ अपध्यानाचरित—चिंता या क्रूर विचारों के कारण होने वाली हिंसा। धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणों से मनुष्य को चिंताएँ होती रहती हैं किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नही होता किन्तु अपनी ही आत्मा मलिन होती है इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने पर भी कोई लाभ नही होता ऐसे विचारो का अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है।

२ प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा। घी, तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओं को बिना ढके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी मे आ जाती है। यदि कोई व्यक्ति सडक पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार मे दूसरे का ध्यान नही रखता और ऐसी चेष्टाएँ करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे ये सब प्रमादाचरित हैं।

३ हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिए शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ ही हिंसा के प्रति निमित्त बनना पडे। हिंसात्मक कार्यों के लिए आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमे आ जाती है।

४ पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने, पीटने या तंग करने के लिए दूसरों को उभारना। बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी द्वेष बुद्धि के किसी भिखमंगे, या घायल पशु को तंग करने लगते हैं पास मे खडे दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिए उन्हे उकसाते हैं यह सब पापकर्मोपदेश है। इसी प्रकार चोरी, डकैती वेश्यावृत्ति आदि के लिए दूसरों को प्रेरित करना ऐसी सलाह देना इसी के अन्तर्गत है।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ कंदर्प—कामोत्तेजक चेष्टाएँ या बातें करना।

२ कौत्कुच्य—भांडो के समान हाथ, पैर मटकाना नाक मुँह आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३ मौखर्य—मुखर अर्थात् वाचाल बनना। बढ-चढ कर बातें करना और अपनी शेखी मारना।

४ संयुक्ताधिकरण—हथियारों एवं हिंसक साधनों को आवश्यकता के बिना ही जोड कर रखना।

५ उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग सामग्री को आवश्यकता से अधिक बढाना।

वैभव प्रदर्शन के लिए मकान, कपडे, फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक सग्रह करना इस अतिचार के अन्तगत है। इससे दूसरो मे ईर्ष्या वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्ही की व्यवस्था मे उलझ जाता है।

सामायिक व्रत--

छठे, सातवे और आठवे व्रत मे व्यक्ति का बाह्य चेष्टाओ पर नियन्त्रण बताया गया। नवे से लेकर बारहवे तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिए हैं। इनका अनुष्ठान साधना के रूप मे अल्प समय के लिए किया जाता है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सध्या वन्दन तथा मुसलमानो मे नमाज़ दैनिक कृत्य के रूप मे विहित है उसी प्रकार जैन परम्परा मे सामायिक और प्रतिक्रमण है। सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता का उतारने का अभ्यास। साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य-समता का अनुष्ठान है। श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के लिए उसका अनुष्ठान करता है। समता का अर्थ है 'स्व' और 'पर' मे समानता। जैन धर्म का कथन है जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है। हमे दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रख कर सोचना चाहिए, उसके कष्टो को अपना कष्ट उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए। समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा नही करेगा। किसी को कठोर शब्द नही कहेगा और न किसी का बुरा सोचेगा। पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार मे समता का अर्थ है अहिंसा, जो कि जैन आचार शास्त्र का प्राण है। विचार मे समता का अर्थ है स्याद्वाद जो कि जैन दर्शन की आधार शिला है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना। साधक अपने पिछले कृत्यों की ओर लौटता है उनके भले बुरे पर विचार करता है, भूलो के लिए पश्चात्ताप करता है और भविष्य मे उनसे बचे रहने का निश्चय करता है। श्रावक और साधु दोनो के लिए प्रतिक्रमण का विधान है इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्तव्य है।

श्रावक के व्रतो मे सामायिक का नवा स्थान है किन्तु आत्म शुद्धि के लिए विधान किए गए चार व्रतो मे इसका पहला स्थान है। इसके पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं--

१ मनोदुष्प्रणिधान—मन मे बुरे विचार लाना।
२ वचन दुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण।
३ काय दुष्प्रणिधान—शरीर की कुप्रवृत्ति।
४ स्मृत्यकरण—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना।
५ अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता से करना।

देशावकाशिक व्रत—

इस व्रत मे श्रावक यथानियत दिन-रात या अल्प समय के लिए साधु के समान चर्या का पालन करता है। सामायिक प्रायः दो घडी के लिए की जाती है और उसमे सारा समय धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है। खाना, पीना, नींद लेना आदि वर्जित हैं, इस व्रत में भोजन आदि वर्जित नहीं है, किन्तु उसमे अहिंसा का पालन आवश्यक है।

इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है। अर्थात् इसमें साधक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता।

श्रावक के लिए चौदह नियमों का विधान है अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादा निश्चित करनी चाहिए इससे जीवन मे अनुशासन तथा दृढ़ता आती है। इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१ आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाने के लिए किसी को भेजना।
२ प्रेष्यप्रयोग—नौकर, चाकर आदि को भेजना।
३ शब्दानुपात—शाब्दिक संकेत द्वारा बाहर की वस्तु मँगाना।
४ रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना।
५ पुद्गलप्रक्षेप—कंकर, पत्थर आदि फेंक कर किसी को संबोधित करना।

पौषधोपवास व्रत—

"पौषध" शब्द संस्कृत के उपवसथ शब्द से बना है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्म स्थान में रहना। आज कल इसी को उपाश्रय या पौषधशाला

कहा जाता है। उपवसथ अर्थात् धम स्थान मे निवास करत हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह दिन-रात अर्थात आठ प्रहरो का होता है और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पव तिथियो पर किया जाता है।

इस व्रत मे नीचे लिखा त्याग किया जाता है—

१ भोजन, पानी आदि चारो प्रकार के आहारो का त्याग।

२ अब्रह्मचर्य का त्याग।

३ आभूषणो का त्याग।

४ माला, तेल आदि सुगधित द्रव्यो का त्याग।

५ समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियो का त्याग।

इसके पाँच अतिचार निवास-स्थान की देख रख के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

अतिथि सविभाग व्रत—

सविभाग का अथ है अपनी सम्पत्ति या अपनी भोग्य वस्तुओ म विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना। अतिथि के लिए किया जाने वाला विभाजन अतिथि सविभाग है। वैदिक परम्परा मे भी अतिथि सेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यो म गिनी गई है किन्तु जैन परम्परा मे अतिथि शब्द का अथ कुछ भिन्न है। यहाँ निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले विशिष्ट व्यक्तियो को ही अतिथि माना गया है। उन्ह भोजन, पानी वस्त्र आदि देना अतिथि सविभाग व्रत है। इसके नीचे लिखे पाँच अतिचार हैं—

१ सचित्त निक्षेपण—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार मे कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके।

२ सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना।

३ *कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमन्त्रित करना।*

४ परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

५ मात्सर्य—मन मे ईर्ष्या या दुर्भावना रख कर दान देना।

जैन धम मे अनुकम्पादान और सुपात्र दान का विशेष महत्व है। अनुकम्पा सम्यक्त्व का अग है इसका अथ प्रत्येक दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिए यथाशक्ति यथोचित सहायता देना अनुकम्पा मे सम्मिलित है। इससे आत्मा मे उदारता,

आचार्य श्री जी की श्रुत-साधना

मानव का जीवन एक सतत प्रवाह शील सरिता के समान है। यह विराट विश्व उस प्रवाह की आधार भूमि है। विश्व के इस आधार-तल में ही जीवन की सरिता का प्रवाह प्रवहमान रहता है। जीवन और जगत दर्शन शास्त्र के मुख्य विषय हैं। जीवन क्या है? जगत क्या है? और इन दोनों में क्या सम्बन्ध है? दर्शन शास्त्र का यही प्रतिपाद्य विषय रहा है। जीवन, चिन्तन का पूर्वगामी धर्म है और जगत जीवन का आवश्यक आधार है। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के अनुसार दार्शनिक सम्पूर्ण जगत का द्रष्टा है। यदि जीवन के भौतिक धर्मों व परिपालन की विवशता को दार्शनिक जीवन की सीमा कहा जाए, तो उक्त धर्मों का पालन करते हुए भी विचार और चिन्तन द्वारा उनका संस्कार और उस संस्कार के द्वारा मानवी संस्कृति का विकास करने का प्रयास दार्शनिक की विशेषता है।

आचार्य श्रद्धेय आत्मारामजी महाराज अपने युग के एक गम्भीर दार्शनिक विद्वान थे। वे समाज और राष्ट्र के केवल द्रष्टा ही नहीं रहे, बल्कि प्रेरक भी रहे हैं। जीवन और जगत की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन कर के उन्होंने उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न भी किया था। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में समन्वय साधने का प्रयास उन्होंने किया था। अपने युग के प्रसुप्त मानव को झकझोर कर उन्होंने जागृत किया था और कहा था—Stand up, be bold and be strong उठो, वीर बनो और सुदृढ़ हो कर जीवन के समर में खड़े हो जाओ। इस संसार में विजेता वही बनता है जो अपने व्यतीत अतीत पर आंसू नहीं बहाता। हम बहुत विलाप कर चुके हैं। अब रोना बन्द करो और अपने पैरों पर खड़े हो कर सच्चा इंसान बनने का प्रयत्न करो—We have wept long enough, no more weeping, but stand on your feet and be men

आचार्य श्री जी अपने युग के एक महान् विद्वान और आगमों के व्याख्याकार थे। आगमों पर सुन्दर सरल और सरस भाषा में व्याख्या करके उन्होंने जनता का महान् उपकार किया है। स्वाध्याय प्रेमी जनों के लिए उन्होंने आगम के रहस्य को समझने के लिए एक सरल मार्ग बना दिया है। जो सुन्दर भी और विशाल भी

ज्ञान उन्होने अपने गुरु से प्राप्त किया था, उसे अपने स्वय के श्रम से पल्लवित करके जन-जन के जीवन की भूमि मे उन्होने उसे मुक्त हस्त विखेर दिया था। कोई भी ज्ञान पिपासु उनके द्वार पर आ कर प्यासा नही लौटता था। अत आचाय श्री जी अपने युग के एक प्रकाश स्तम्भ थे। उन का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था, जिससे हजारो हजार लोगो ने प्रेरणा एव स्फूर्ति प्राप्त की थी—In him was a life and the life was the light of men

आचाय श्री जी क्या थे ? ज्ञान के सागर और-शान्ति के अग्रदूत। समाज के एक वग विशेष को उनकी शान्ति नीति पसन्द नही थी। अत वे लोग उनकी तीव्र आलोचना भी करते थे। परन्तु अपनी आलोचना से व्याकुल हो कर उन्होने कभी भी अपने शान्ति-पथ का परित्याग नही किया। वे अपने शान्ति के पथ पर आगे ही बढते रहे। उनकी इस मधुरता का और मृदुता का बहुत से लोगो ने मजाक भी उडाया। आचाय श्री जी फिर भी अपने पथ से विचलित नही हुए। सघ हित मे वे सदा अभय हो कर अग्रसर होते रहे। सघ को वे व्यक्ति से अधिक पूज्य एव श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण है कि सघ सेवा मे उन्होने कभी प्रमाद नही किया। अपने आलोचको से उन्होने ईसा की भाषा मे यही कहा—Father, forgive them, for they know not what they are doing वास्तव मे आलोचक वैर-भाव मे अपने दिल और दिमाग की शान्ति को खो बैठे थे। फिर भी आचार्य श्री जी ने उन पर प्रसन्नता की ही वर्षा की। यही उनकी सब मे बडी महानता थी।

आचाय श्री जी का जीवन बाल्य काल मे ही ज्ञान साधना म सलग्न रहा। उन्होने अपनी सहज एव तीव्र बुद्धि से अल्प काल मे ही सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश जैसी कठिन प्राचीन भाषाओ को सहज ही सीख लिया। प्राकृत भाषा पर तो आपका असाधारण अधिकार था। प्राकृत भाषा म आप निबन्ध भी लिखते रहते थे। स्थानकवासी समाज मे प्राकृत सस्कृत के अध्ययन की ओर सब मे पहले आपने ही ध्यान खीचा था। आगमो का गम्भीर और सर्वांगीण अध्ययन कर आपने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी। स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना के अतिरिक्त आपने अनेक आगमो की हिन्दी भाषा मे व्याख्या कर स्वाध्याय प्रेमियो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। आज भी उनके अनेक व्याख्या ग्रन्थ समाज मे बडे आदर के साथ पढ

जाते हैं। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी व्याख्या शैली अत्यन्त सुन्दर, सरल और सरस होती है जिससे साधारण पाठक भी लाभ उठा सकता है।

अब उपासकदशाङ्ग सूत्र का प्रकाशन हो रहा है। प्रस्तुत आगम मे भगवान महावीर के दस प्रमुख श्रावकों के जीवन का सुन्दर वर्णन किया है। आनन्द श्रावक के जीवन मे श्रावक के द्वादश व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आशा है, कि अन्य आगमो की भाँति इसका प्रकाशन भी बहुत सुन्दर होगा। आचार्य श्री जी के अन्य आगम भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित होने चाहिए। क्या ही अच्छा हो! यदि आचार्य श्री जी के समस्त ग्रन्थों का नवीन शैली मे सुन्दर प्रकाशन हो सके। इससे पाठकों का बड़ा हित होगा।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने केवल श्रुत सेवा ही नही की, बल्कि समाज सेवा भी की है। पंजाब सम्प्रदाय के पहले वे उपाध्याय थे, फिर पंजाब संघ के आचार्य बने। सादडी सम्मेलन मे सब ने मिलकर उन्होंने आचार्य पद पर आसीन किया था। श्रमण संघ के आचार्य पद पर रहकर आपने जो संघ सेवा की, वह सर्व विदित है संघ को आपने एक सूत्र में बाँध रखने का पूरा प्रयत्न किया। कुछ लोगो ने आपकी निन्दा और अवहेलना भी की। फिर भी आपने अपने मार्ग का परित्याग नही किया। आप की संघ सेवा भी आपकी श्रुत सेवा के सम्मान सदा अजर अमर रहेगी।

मेरे स्नेही स्वामी श्री रत्न मुनि जी आचार्य श्री जी के ग्रन्थो का प्रकाशन कर रहे हैं। उन की यह श्रुत भक्ति आचार्य श्री जी की सच्ची सेवा होगी। श्री रत्न मुनि जी ने अपने तन से और अपने मन से आचार्य श्री जी की जो सेवा, भक्ति और उपासना की है, यह इनके जीवन की एक महान विशेषता है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य मे भी वे अपने इस सेवा पथ पर अग्रसर होते रहेंगे और आचार्य श्री जी के अमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन करा कर समाज में से ज्ञान की अमर ज्योति को बुझने न देंगे।

जैन भवन,
लोहा मंडी, आगरा। — विजय मुनि

उपासकदशांग-सूत्रम्

(उवासगदसाओ)

प्रथम अध्ययन

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण चपा नाम णयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ ॥ १ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी आसीत। वणकम। पूणभद्रचैत्यम्। वणकम् ॥

शब्दाथ—तेण कालेण—उस काल। तेण समएण—उस समय अर्थात् अवसर्पिणी काल के चतुथ आरे के अन्तिम समय मे। चम्पा नाम णयरी—चपा नाम की नगरी थी। वण्णओ—नगरी का वणन अन्यत्र वर्णित नगरी के समान समझ लेना चाहिए। पुण्णभद्दे चेइए—नगरी के बाहर पूणभद्र यक्ष का चैत्य था। वण्णओ—यक्ष चैत्य का वणन भी अन्य चैत्यो के समान ही है।

भावाथ—उस समय अर्थात प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चतुथ आरे के अन्त मे चम्पा नाम की प्रसिद्ध नगरी थी उसका वणन अन्य नगरियो के समान समझ लेना चाहिए। नगरी के बाहर पूणभद्र यक्ष का चैत्य था।

टीका—इस सूत्र मे धमकथानुयोग का वर्णन है। अथ के रूप म आगम का प्रतिपादन तीर्थङ्कर करते हैं। उसका सूत्र के रूप मे गुम्फन गणधर करते हैं। समस्त आगम साहित्य चार अनुयोगो मे विभक्त है। (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग तथा (४) द्रव्यानुयोग। प्रथम अनुयोग म ५ महाव्रत, १० श्रमणधम, १७ प्रकार के सयम १० वैयावृत्य, ६ ब्रह्मचय की गुप्तियाँ, ज्ञानादि तीन रत्न, १२ प्रकार का तप तथा चार कषायों के निग्रह

आदि का वर्णन है। ४ पिण्डविशुद्धियां, ५ समितियां, १२ भावनाएँ, १२ प्रतिमाएँ, ५ इन्द्रियों का निग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तियां, ४ प्रकार के अभिग्रह भी चरणकरणानुयोग मे आते हैं। आचाराङ्ग, आदि सूत्र इसी अनुयोग का प्रतिपादन करते हैं। धर्मकथानुयोग म ज्ञाता धर्मकथाङ्ग (नायाधम्म कहाओ), उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ), अन्तकृद्दशाङ्ग (अन्तगडदसाओ), अनुत्तरौपपातिक (अणुत्तरोववाई), विपाक (विवाग), औपपातिक (उववाई), राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय), पांच निरयावलिकादि (निरयावलियाओ) तथा उत्तराध्ययनादि आते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्दीवपण्णत्ति), चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ति) तथा सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ति), गणितानुयोग विषयक हैं। सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग), स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग), (समवायाङ्ग), भगवती (विवाहपण्णत्ति), (जीवाभिगम), प्रज्ञापना (पण्णवणा), नन्दी तथा अनुयोगद्वार द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे धर्म-कथानुयोग का वर्णन है। अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के अन्तिम भाग में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण में पूर्णभद्र नाम का चैत्य था। इन दोनों का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। काल वह द्रव्य है जिसके कारण दिन, पक्ष, मास, वर्ष, आदि का व्यवहार होता है अथवा समयों के समूह का नाम काल है और समय काल के अविभाज्य अंश को कहते हैं। पूर्णभद्र यक्ष के आयतन के कारण उक्त उद्यान का नाम पूर्णभद्र प्रसिद्ध हो गया।

जम्बू स्वामी का प्रश्न और प्रस्तुत सूत्र का निर्देश—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू पज्जुवासमाणे एवं वयासी—"जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते! अंगस्स उवासगदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?"

एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—आणंदे१, कामदेवे य२, गाहावइचुलणीपिया३, सुरादेवे४, चुल्लसयए५, गाहावइकुण्डकोलिए६, सद्दालपुत्ते७, महासयए८, नंदिणीपिया९, सालिहीपिया१० ॥

जइ ण, भते ! समणेण जाव सम्पत्तेण सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स ण भते ! समणेण जाव सम्पत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ? ॥ २ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मा समवसृत । यावत् जम्बू पर्युपासीन एवमवादीत्—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन षष्ठस्य अगस्य ज्ञाताधमकथानाम् अयमर्थ प्रज्ञप्त सप्तमस्य खलु भदन्त ! अगस्य उपासकदशाना श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थ प्रज्ञप्त ? एव खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अगस्य उपासकदशाना दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा—आनन्द, कामदेवश्च गाथापतिश्चुलिनीपिता सुरादेव चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, शालिहीपिता च ।

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अगस्य उपासकदशाना दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थ प्रज्ञप्त ?

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल और उस समय, अज्ज सुहम्मे—आर्य सुधर्मा स्वामी, समोसरिए—चम्पा नगरी मे आये, जाव—यावत्, जम्बू पज्जुवासमाणे—जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए एव वयासी—यह कहा—जइण भन्ते !—हे भदन्त ! यदि समणेण भगवया महावीरेण जाव सम्पत्तेण—श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। छट्ठस्स अगस्स नायाधम्मकहाण—ज्ञाताधमकथा नामक छठे अङ्ग का, अयमट्ठे पण्णत्ते—यह अर्थ कहा है तो, सत्तमस्स ण भन्ते ! अगस्स उवासगदसाण—हे भगवन् ! उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग का, के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ बताया है ?, एव खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार, समणेण जाव सम्पत्तेण—मोक्षस्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के, दस अज्झयणा पण्णत्ता—दश अध्ययन कहे हैं, त जहा—वे इस प्रकार हैं—आणदे—आनन्द, कामदेवे य—और कामदेव, गाहावइचुलिणीपिया—चुलिनीपिता, सुरादेवे—सुरादेव, चुल्लसयए—चुल्लशतक, गाहावइकुण्डकोलिए—गाथापति कुण्डकौलिक,

सद्दालपुत्ते—सद्दालपुत्र, महासयए—महाशतक, नन्दिनीपिया—नन्दिनीपिता, सालिहीपिया—और सालिहीपिता।

जइणं भंते !—जम्बू स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! यदि, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने, सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं—सप्तम अंग उपासकदशा के, दस अज्झयणा पण्णत्ता—दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं। पढमस्स णं भंते !—तो हे भगवन् ! प्रथम अध्ययन का, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान महावीर ने के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—उस काल तथा उस समय आर्य सुधर्मा स्वामी चम्पा नगरी में आये। जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए पूछा—हे भगवन् ! मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अङ्ग ज्ञाताधर्मकथा का जो भाव बताया है उसे मैं सुन चुका हूँ। हे भगवन् ! मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अङ्ग उपासकदशा का क्या भाव बताया है ? आर्य सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! मुक्ति प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आनन्द २ कामदेव ३ गाथापति चुलनीपिता ४ सुरादेव ५ चुल्लशतक ६ गाथापति कुण्डकौलिक ७ सद्दालपुत्र ८ महाशतक ९ नन्दिनी पिता और १० सालिहीपिता।

जम्बू स्वामी ने फिर पूछा—हे भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन निरूपित किये हैं तो प्रथम अध्ययन का क्या भाव बताया है ?

टीका—उन दिनों आर्य सुधर्मा स्वामी पूर्णभद्र नामक उद्यान में आये, उनके सुशिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने उपासना करते हुए पूछा हे भगवन् ! श्रमण भगवान् ने ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र का जो वर्णन किया है वह मैंने सुन लिया, अब मुझे बताइये कि भगवान् ने सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग का क्या अर्थ बताया है ? इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू ! भगवान ने उपासकदशाङ्ग सूत्र में १० अध्ययनों का वर्णन किया है। आनन्द कामदेव, गाथापति चुलनीपिता, सुरादेव,

चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिया।

सुधर्मा के साथ अज्ज (आय अथवा अर्य) विशेषण है उसका भाव निम्नलिखित है—"'अज्ज' इति अर्यते-प्राप्यते यथाभिलषित तत्त्वजिज्ञासुभिरित्यर्य, आर्यो वा स्वामीत्यर्थ, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्य आरात्-पृथक् यायते प्राप्यते अर्थाद गुणैरिति, अथवा विषयकाष्ठ कर्तकत्वेनारा सादृश्यादारा—रत्नत्रयम, तद याति—प्राप्नोति इति निरुक्तवृत्याऽऽकारलोपे कृते—आर्य, सर्वथा सकलकलमषराशिकलुषितवृत्ति-रहित इत्यर्थ", तथा चोक्तम्—

अज्जइ भविहि आरा जाइज्जइ हेय धम्मओ जो वा।
रयणत्तयरूव वा, आर जाइत्ति अज्ज इय वुत्तो॥*

'अज्ज' शब्द की सस्कृत छाया अय और आय दोनो प्रकार की होती है। तत्त्व के जिज्ञासुओ द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे आय कहते हैं और अय का अय स्वामी है। अथवा जो त्यागने योग्य समस्त धर्मों से भिन्न गुणो के कारण प्राप्तव्य हो उसे आय कहते हैं। अथवा रत्नत्रय १ सम्यग् दर्शन २ सम्यग ज्ञान और ३ सम्यक् चरित्र—आरा के समान हैं, क्योकि वे पाच इन्द्रियो के विषय रूपी काष्ठ को काटते हैं, उस रत्नत्रय की जिन्हे प्राप्ति हो गई है, उ हे आर्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन की वृत्ति पूण रूप से निर्दोष है, वे आय हैं।

'सत्तमस्स अगस्स' जैन परम्परा मे श्रुतज्ञान को पुरुष का रूप दिया गया है और आचाराङ्गादि आगमो को अङ्ग बताया है। इस क्रम मे उपासकदशाङ्ग नामक आगम का सातवा स्थान है अत इसे सप्तम अङ्ग कहा गया है अत पुरुष के १२ अङ्ग हैं, वह रूपक इस प्रकार है—

"यथा पुरुषस्य द्वौ चरणौ, द्वे जघे, द्वावूरू, द्वौ गात्रार्द्धौ, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्चेत्येतैर्द्वादशभिरगैरभिव्यक्ति दीप्तिरुपलब्धिश्च भवति, तथात्र श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य सत्याचारादीनि द्वादशागानि।"

---

* अयत भविभि आरात यायत हेयधमना या वा।
रत्नत्रयरूप वा र यातीति आय रयुक्त॥

सद्दालपुत्ते—सद्दालपुत्र, महासयए—महाशतक, नन्दिनीपिया—नन्दिनीपिता, सालिहीपिया—और सालिहीपिता ।

जइण भंते !—जम्बू स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! यदि, समणेण जाव सम्पत्तेण—मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने, सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण—सप्तम अग उपासकदशा के, दस अज्झयणा पण्णत्ता—दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं। पढमस्स ण भंते !—तो हे भगवन् ! प्रथम अध्ययन का, समणेण जाव सम्पत्तेण—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान महावीर ने, के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—उस काल तथा उस समय आर्य सुधर्मा स्वामी चम्पा नगरी मे आये। जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए पूछा—हे भगवन् ! मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छुटे अङ्ग ज्ञाताधमकथा का जो भाव बताया है उसे मैं सुन चुका हूँ। हे भगवन् ! मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने सातवे अङ्ग उपासकदशा का क्या भाव बताया है ? आर्य सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! मुक्ति प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सातव अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आनन्द २ कामदेव ३ गाथापति चुलनिपिता ४ सुरादेव ५ चुल्लशतक ६ गाथापति कुण्डकौलिक ७ सद्दालपुत्र ८ महाशतक ९ नन्दिनी पिता और १० शालिहीपिया ।

जम्बू स्वामी ने फिर पूछा—हे भगवन् ! यदि श्रमण भगवान महावीर ने सप्तम अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन निरूपित किये हैं तो प्रथम अध्ययन का क्या भाव बताया है ?

टीका—उन दिनो आर्य सुधर्मा स्वामी पूर्णभद्र नामक उद्यान मे आये, उनके सुशिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने उपासना करते हुए पूछा हे भगवन् ! श्रमण भगवान् ने ज्ञाताधमकथाङ्ग सूत्र का जो वर्णन किया है वह मैंने सुन लिया, अब मुझे बताइये कि भगवान् ने सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग का क्या अर्थ बताया है ? इस प्रश्न के उत्तर मे सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू ! भगवान् ने उपासकदशाङ्ग सूत्र मे १० अध्ययनो का वर्णन किया है। आनन्द, कामदेव, गाथापति चूलिनीपिता, सुरादेव,

चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिया।

सुधर्मा के साथ अज्ज (आय अथवा अय) विशेषण है उसका भाव निम्नलिखित है—" 'अज्ज' इति अर्यते-प्राप्यते यथाभिलषित तत्त्वजिज्ञासुभिरित्यर्य, आर्यो वा स्वामीत्यर्थ, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्य आरात्-पृथक् यायते-प्राप्यते अर्थाद गुणैरिति, अथवा विषयकाष्ठ कर्तकत्वेनारा सादृश्यादारा—रत्नत्रयम, तद याति—प्राप्नोति इति निरुक्तवृत्त्याऽऽकारलोपे कृते—आर्य, सवथा सकलकल्मषराशिकलुषितवृत्ति-रहित इत्यर्थ ", तथा चोक्तम्—

अज्जइ भविहिं आरा जाइज्जइ हेय धम्मओ जो वा।
रयणत्तयरूव वा, आर जाइत्ति अज्ज इय वुत्तो॥*

'अज्ज' शब्द की सस्कृत छाया अय और आर्य दोनो प्रकार की होती है। तत्त्व के जिज्ञासुओ द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे आर्य कहते हैं और अय का अथ स्वामी है। अथवा जो त्यागने योग्य समस्त धर्मों से भिन्न गुणो के कारण प्राप्तव्य हो उसे आय कहते हैं। अथवा रत्नत्रय १ सम्यग् दशन २ सम्यग् ज्ञान और ३ सम्यक् चरित्र—आरा के समान हैं, क्योंकि वे पाच इन्द्रियो के विषय रूपी काष्ठ को काटते हैं, उस रत्नत्रय की जिन्हे प्राप्ति हो गई है, उन्हे आर्य कहते हैं। तात्पय यह है कि जिन की वृत्ति पूर्ण रूप से निर्दोष है, वे आय हैं।

'सत्तमस्स अगस्स' जैन परम्परा मे श्रुतज्ञान को पुरुष का रूप दिया गया है और आचाराङ्गादि आगमो को अङ्ग बताया है। इस क्रम म उपासकदशाङ्ग नामक आगम का सातवा स्थान है अत इसे सप्तम अङ्ग कहा गया है, श्रुत पुरुष के १२ अङ्ग हैं, वह रूपक इस प्रकार है—

"यथा पुरुषस्य द्वौ चरणौ, द्वे जघे, द्वावूरू, द्वौ गात्रार्द्धौ, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्चेत्येतैर्द्वादशभिरगैरभिव्यक्ति दीप्तिरुपलब्धिश्च भवति, तथात्र श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य सत्याचारादीनि द्वादशागानि।"

---

* अयते भविभि, आरात् यायते हेयधर्मतो या वा।
रत्नत्रयरूप वा आर यातीति आय उच्यते॥

तत्र १ दक्षिणचरणस्थानीयमाचाराङ्गम्, २ वामचरणस्थानीय सूत्रकृताङ्गम्, ३ दक्षिणजङ्घास्थानीय स्थानाङ्गम्, ४ वामजङ्घा स्थानीयं समवायाङ्गम्, ५ दक्षिणोरुस्थानीय भगवतीसूत्रम्, ६ वामोरुस्थानीय ज्ञाताधमकथाङ्गम्, ७ दक्षिण पाश्वस्थानीय उपासकदशाङ्गम्, ८ वामपाश्वस्थानीयम तकृद्दशाङ्गम्, ९ दक्षिणबाहुस्थानीयमनुत्तरौपपातिकम्, १० वामबाहुस्थानीय विपाकसूत्रम् ११ प्रश्नव्याकरणम् ग्रीवास्थानीयम्, १२ मस्तक स्थानीय दृष्टिवाद नामाङ्गम् ।"

जैसे पुरुप के दो पैर, दो पिण्डलिया, दो जघन दो पसवाडे (गात्राध) दो भुजाय एक ग्रीवा (गदन) और एक सिर होता है, इन बारह अगो द्वारा उसकी अभिव्यक्ति प्रकटीकरण (दीप्ति प्रकाश) और उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इसी प्रकार श्रुत रूपी महापुरुष के आचारादि १२ अग हैं—पहला आचाराङ्ग दाये पैर के समान, दूसरा सूत्रकृताङ्ग बायें पैर के समान, तीसरा स्थानाङ्ग दक्षिण जघा के समान, चौथा समवायाङ्ग वाम जङ्घा के समान, पाचवा भगवती दक्षिण जघन के समान, छटा ज्ञाताधर्म कथाङ्ग वाम जघन के समान, सातवाँ उपासकदशाङ्ग दक्षिण पाश्व के समान, आठवा अ नकृद्दशाङ्ग वाम पाश्व के समान, नौवाँ औपपातिक दक्षिण भुजा के समान दसवा प्रश्नव्याकरण वाम भुजा के समान, ग्यारहवाँ विपाकसूत्र ग्रीवा के समान और बाहरवाँ दृष्टिवाद सिर के समान है ।

'एव खलु जम्बू' इस पद से यह प्रकट होता है कि वत्तमान अङ्गसाहित्य सुधर्मा स्वामी की वाचना है । जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से जो जो प्रश्न किये, सुधर्मा स्वामी ने उनका स्पष्टीकरण किया है । भगवान महावीर स्वामी के ११ गणधर थे और ९ वाचनाएँ मानी जाती हैं । प्रस्तुत वाचना सुधर्मा स्वामी की है ।

वाणिज्य ग्राम और आनन्द—

मलम्—एव खलु जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण वाणियगामे नाम नयरे होत्था । वण्णओ । तस्स ण वाणियगामस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नाम चेइए होत्था । तत्थ ण वाणियगामे नयरे जियसत्तू नाम राया होत्था । वण्णओ । तत्थ ण वाणियगामे आणदे नाम गहावई परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए ॥३॥

छाया—एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन समये वाणिज्यग्रामो नाम नगर-मासीत् । वर्णकम् । तस्माद् वाणिज्यग्रामाद् नगराद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागे दूतीपलाशो नाम चैत्यम् आसीत् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे नगरे जितशत्रु राजा आसीत्, वर्णकम् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे आनन्दो नाम गाथापति परिवसति । आढ्यो यावत् अपरिभूत ।

शब्दार्थ—जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—एव खलु जम्बू !—इस प्रकार हे जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय जबकि भगवान् महावीर विद्यमान थे, वाणियगामे नयरे होत्था—वाणिज्यग्राम नाम का नगर था, तस्स वाणियगामस्स नयरस्स बहिया—उस वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर उत्तर पुरत्थिमे दिसि भाए—उत्तरपूर्व दिशा—ईशानकोण मे दुइपलासए नाम चेइए—दूतीपलाश नामक चैत्य था । तत्थ ण—वहा, वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे, जियसत्तू नाम राया होत्था—जितशत्रु राजा था । वण्णओ—राजा का वर्णन कूणिक की तरह है, तत्थ ण—वहाँ, वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नामक नगर मे, आणदे नाम गाहावई परिवसइ—आनन्द नामक गाथापति रहता था । अड्ढे जाव अपरिभूए—वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था ।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय वाणिज्यग्राम नामक नगर था, अन्य नगरो के समान उसका वर्णन जान लेना चाहिए । उस वाणिज्यगाम नगर के बाहर उत्तरपूव अर्थात ईशान कोण म दूती-पलाश नामक चैत्य था । वाणिज्यग्राम नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था । वह भी वर्णनीय था । उस नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था । वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था ।

टीका—इस सूत्र म वाणिज्यग्राम नगर का वणन किया गया है । सुधर्मा स्वामी कहते हैं । हे जम्बू ! उस काल उस समय वाणिज्यग्राम नाम का एक नगर था और उसके बाहर ईशान कोण म दूतीपलाश नाम का चैत्य था । वहा जितशत्रु राजा राज्य करता था । उसी नगर म आनन्द नामक गाथापति रहता था वह धनी और सब प्रकार से समर्थ था ।

इस सूत्र म 'वण्णग्रो' शब्द दो बार आया है। पहली बार वाणिज्य ग्राम के लिए और दूसरी बार जितशत्रु राजा के लिए। इसका यह आशय है कि नगर और राजा का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। नगर का नाम वाणिज्य ग्राम है। प्रतीत होता है कि वह वाणिज्य अर्थात् व्यपार का केन्द्र रहा होगा।

जिस प्रकार चम्पा नगरी का सविस्तर वर्णन औपपातिक सूत्र मे किया गया है, उसी प्रकार इस नगर का वणन भी जान लेना चाहिए। उसके ईशान कोण मे दूतीपलाश नाम का चैत्य था। उसका वणन पूणभद्र चैत्य के समान जानना चाहिए। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र मे कौणिक राजा का वणन किया गया है, उसी के समान जितशत्रु राजा का भी वणन जान लेना चाहिए। उसी नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था।

गाथापति का अथ है—"गीयते स्तूयते लोकैर्धनधान्यादि समृद्धि युक्ततयेति यद्वा गाय्यते धनधान्य पशुवश समुन्नत्यादिना। अहो! धन्यमिद सकलसमृद्धिसम्पन्न गृहमित्येव प्रशसितत्वात् प्रतिष्ठिता भवतीति गाथा प्रशस्ततम गृह तस्या पति-अध्यक्ष स तथा क्षेत्र-वास्तु हिरण्य-पशु-दास-पौरुष समलड कृत सद्गृहस्थ इत्यथ, परिवसति। नित्य सर्वतोभावेन वा वसति स्मेति शेष।"

धन, धान्य और समृद्धि के कारण होने वाली प्रशसा को गाथा कहते हैं और उसके स्वामी को गाथापति कहा जाता है। अथवा गाथा शब्द का अथ है वह सम्पन्न घर जिसकी धन-धान्य पशुवश आदि के रूप म होने वाली सवतोमुखी समृद्धि को देखकर सर्वत्र प्रशसा होती है।

'*यावत*' शब्द से अनेक अन्य बात प्रकट की गई हैं। इसका अथ है कि आनन्द गाथापति के पास भवन, शयन, रथ, शकट तथा अन्य वाहनों की विशाल सख्या थी। सोना, चाँदी बहुमूल्य धातुओं का पर्याप्त सग्रह और पशु धन भी विपुल परिमाण मे था। दास दासियों की विशाल सख्या थी। प्रतिदिन भोजनोपरान्त पर्याप्त खाद्य सामग्री बच जाती थी और उससे अनेक अनाथों एव भिक्षुओं का पोषण होता था। ऐसे घर के स्वामी को गाथापति कहा जाता है।

आनन्द की धन सम्पत्ति का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ ४ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेश्चतस्रो हिरण्यकोटयः निधानप्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्यकोट्यो वृद्धि प्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्यकोटयः प्रविस्तर प्रयुक्ता, चत्वारो व्रजा, दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन अभवन्।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति के, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण, निहाणपउत्ताओ—कोष में थी, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड वृद्धि के लिए व्यापार में लगे हुए थे। चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण पवित्थर पउत्ताओ—प्रविस्तर गृह तथा तत्सम्बन्धी सामान में लगे हुए थे। चत्तारि वया-दस गोसाहस्सिएणं—प्रत्येक में दस हजार गायों वाले चार व्रज थे।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के चार करोड सुवर्ण निधान अर्थात् कोष में सञ्चित थे। चार करोड व्यापार में लगे हुए थे और चार करोड घर तथा तत्सम्बन्धी सामान में लगे हुए थे। इस प्रकार उसके पास १२ करोड सुवर्ण (दीनार) थे। इसके अतिरिक्त उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं।

टीका—प्रस्तुत पाठ में धन का परिमाण हिरण्य कोटि के रूप में बताया गया है। साधारणतया इसका अर्थ सुवर्ण किया जाता है। प्रतीत होता है, उस समय हिरण्य नाम की मुद्रा प्रचलित होगी। यह शुद्ध सोने की हुआ करती थी, इसका तोल ३२ रत्ती होता था। उत्तरवर्ती काल में शकों के आने पर इसी को दीनार के रूप में प्रचलित किया गया।

आनन्द के पास चार व्रज थे और प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं। यहाँ गाय शब्द समस्त पशुधन का बोधक है।

सस्कृत टीका मे आनन्द को प्रदीप्त कहा गया है अर्थात् वह दीपक के समान प्रकाशमान था। जिस प्रकार दीपक मे तेल बत्ती और शिखा होते हैं तथा वायु-रहित स्थान मे वह स्थिर होकर प्रकाश देता है उसी प्रकार आनन्द भी स्थिर होकर सबको प्रकाश दे रहा था। उसकी सम्पत्ति एव वैभव की तुलना तेल तथा बत्ती से की गई है। उदारता, तेजस्विता आदि गुणो की शिखा से और सयमी जीवन एव मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। मूल सूत्र म उसके जीवन को दो शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है अर्थात् वह आढ्य था और अपरिभूत था। आढ्य शब्द भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्रकट करता है, और अपरिभूत शब्द उसके प्रभाव को। इसका अर्थ है, आनन्द को कही भी अपमानित या निराश नही होना पडता था। वह कही भी असफल नही होता था। ये दानो गुण शक्तिशाली व्यक्तित्व के आवश्यक अङ्ग हैं।

आनन्द का समाज में स्थान—

मूलम्—से ण आणदे गाहावई बहूण राईसर जाव सत्थवाहाण बहूसु कज्जेसु य कारणे सु य मतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य ण कुडुम्बस्स मेढी, पमाण, आहारे, आलवण, चक्खू, मेढीभूए जाव सव्व कज्जवड्ढावए यावि होत्था ॥ ५ ॥ (पृ० ९२ पर)

छाया—स खलु आनन्दो गाथापति बहूनां राजेश्वराणा यावत् सार्थवाहाना बहुषु कार्येषु च कारणेषु च मन्त्रेषु च कुटुम्बेषु च गुह्येषु च रहस्येषु च निश्चयेषु च व्यवहारेषु च आप्रच्छनीय परिप्रच्छनीय स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य मेधि, प्रमाणम्, आधार, आलम्बनम, चक्षुर्मेधिभूतो यावत सर्वकार्यवर्धकश्चापि आसीत्।

अन्वय—से ण आणदे गाहावई—वह आनन्द गाथापति, बहूण राईसर जाव सत्थवाहाण—बहुत से राजा-ईश्वर यावत् सार्थवाहो का, बहूसु—अनेक, कज्जेसु य—कार्यो मे, कारणेसु य—कारणा म, मतेसु य—विचार विमर्श में, कुडुम्बेसु—कौटुम्बिक समस्याओ मे, गुज्झेसु—गुह्य बातो में, रहस्सेसु य—रहस्यो मे, निच्छएसु—निश्चयों में, ववहारेसु य—और व्यवहारो मे, आपुच्छणिज्जे—परामर्श का, पडिपुच्छणिज्जे—और

बार २ पूछने का विषय था। सयस्सवि य ण कुडुम्बस्स—तथा वह अपने परिवार का भी, मेढी—मेटी अर्थात् काष्ठदण्ड के समान, पमाण—प्रमाण, आहारे—आधार, आलबण—आलम्बन, चक्खू—चक्षु स्वरूप, मेढी भूए—केन्द्र भूत काष्ठ दण्ड था, जाव—यावत, सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था—सब कार्यों म प्रेरक था।

भावार्थ—नगर के राजा सेनापति, सार्थवाह आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द से प्रत्येक बात मे परामर्श लिया करते थे। विविध कार्यों, योजनाओं, मन्त्रणाओं, कौटुम्बिक प्रश्नों, कलङ्क या दोष आदि गोपनीय बातों, अनेक प्रकार के रहस्यो निश्चयों, निर्णयों तथा लेन-देन आदि से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारों म, उससे पूछते रहते थे और उसकी सम्मति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वह अपने कुटुम्ब का भी स्तम्भ के समान आधार भूत था, उसका आलम्बन अर्थात् सहारा था और चक्षु अर्थात् पथ प्रदर्शक मेढी' अर्थात् केन्द्र स्तम्भ था। इतना ही नहीं, वह समस्त अनुष्ठानो का प्रेरक था।

टीका—इस सूत्र मे यह बतलाया गया है कि आनन्द का समाज में क्या स्थान था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रत्येक बात मे उससे परामर्श करते थे। उसकी सम्मति को बहुमूल्य मानते थे। स्वजन-सम्बन्धियों का तो वह एकमात्र आधार, सहारा और पथप्रदर्शक था।

मेढी उस काष्ठदण्ड को कहते हैं जो खलियान के बीच गाड दिया जाता है और गेहूँ आदि धान्य निकालने के लिए बैल जिसके चारो ओर घूमते हैं। आनन्द को भी मेढी बताया गया है अर्थात् वह समस्त कार्यों के लिए केन्द्रभूत था, उसी को मध्य म रखकर अनेक प्रकार के लौकिक अनुष्ठान किये जाते थे। मेधि -व्रीहि-यव गोधूमादिमर्दनाय खले स्थापितो दार्वादिमय पशुबन्धनस्तम्भ । यत्र पक्तिशो बद्धा बलीवर्दादयो व्रीह्यादिमर्दनाय परितो भ्राम्यन्ति तत्सादृश्यादयमपि मेधि । गाथापति आनन्द अपने कुटुम्ब के मेधि के समान थे अर्थात् कुटुम्ब उन्ही के सहारे था, वे ही उसके व्यवस्थापक थे।

मूल पाठ मे 'वि' अपि—शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि वे केवल कुटुम्ब के ही आश्रय न थे वरन् समस्त लोगों के भी आश्रय थे, जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है। आगे भी जहाँ-जहा 'वि' अपि—आया है वहा सवत्र यही तात्पय समझना चाहिए।

सूत्र मे आनन्द को चक्षु बताया है। इसका यह भाव है—जिस प्रकार चक्षु पदार्थो का प्रकाशक है, उसी प्रकार आनन्द भी सकल पदार्थों का प्रदशक था। मेधि, प्रमाण, आधार, आलम्बन और चक्षु इन शब्दो के साथ भूत शब्द लगाने से वे सब उपमावाची बन जाते हैं।

आनन्द को 'सव्वकज्ज वड्ढावए' अर्थात् सब कार्यों का प्रेरक या बढाने वाला बताया गया है। जो व्यक्ति अन्य लोगो के काम आता है वह माननीय हो जाता है।

आनन्द की पत्नी शिवानन्दा का वणन—

मूलम्—तस्स ण आणदस्स गहावइस्स सिवनदा (सिवानन्दा) नाम भारिया होत्था, अहीण जाव सुरूवा। आणदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणदेण गाहावइणा सद्धि अणुरत्ता, अविरत्ता, इट्ठे सद्द० जाव पचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ ॥ ६ ॥ (पृ० १९४५)

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथपते शिवानन्दा नाम भार्या आसीत्, अहीना यावत् सुरूपा। आनन्दस्य गाथापतेरिष्टा। आनन्देन गाथापतिना सार्द्धमनुरक्ता, अविरक्ता, इष्टान् शब्दान् यावत् पञ्चविधान् मानुष्यान कामभोगान प्रत्यनुभवन्ती विहरति।

शब्दार्थ—तस्स ण आणदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति की, सिवनदा नाम भारिया होत्था—शिवानन्दा नामक भार्या थी। अहीण जाव सुरूवा—अहीन अर्थात् पूर्ण अङ्गोपाङ्ग वाली तथा रूपवती थी। आणदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति की इट्ठा—प्रिय थी, आणदेण गाहावइणा सद्धि अणुरत्ता—आनन्द गाथा-पति के प्रति अनुरक्त थी, अविरत्ता—अविरक्त थी, इट्ठे—मनोनुकूल, सद्द जाव पञ्चविहे—शब्दादि पाँच प्रकार के, माणुस्सए—मानवीय, कामभोए—कामभोगो का, पच्चणुभवमाणी विहरइ—आनन्द लेती हुई जीवन यापन कर रही थी।

भावार्थ—आनन्द गाथापति की शिवानन्दा नामक पत्नी थी। वह सर्वाङ्ग परिपूर्ण एवं सुन्दरी थी। आनन्द को अत्यन्त प्रिय थी। उसके प्रति अनुरक्त एवं अविरक्त थी। और उसके साथ इच्छानुकूल शब्द, रूप आदि पांच प्रकार के मनुष्य-जन्म सम्बन्धी कामभोगों का उपभोग करती हुई जीवन यापन कर रही थी।

टीका—इस सूत्र में आनन्द गाथापति की भार्या का वर्णन है। वह सर्वांग सुन्दर तथा स्वस्थ थी। रूप लावण्य तथा सुलक्षणों में सम्पन्न थी। वह आनन्द गाथापति को प्रिय थी और आनन्द उसे प्रिय था। दोनों शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी इन्द्रिय सुखों का आनन्द लेते हुए जीवन यापन कर रहे थे। सूत्रकार ने स्त्री की योग्यता के विषय में दो पद दिये हैं—अनुरक्ता और अविरक्ता। अनुरक्ता की व्याख्या निम्नलिखित है—

"घर कम्म वावडा जा, सव्वसिणेहप्पवड्ढणी दक्खा।
छाया विव भत्तणुगा, अणुरत्ता, सा समक्खाया॥"[1]

जो स्त्री घर के काम-काज में लगी रहती है, सबका स्नेह बढ़ाने वाली तथा चतुर होती है एवं परछाईं की तरह पति की अनुगामिनी होती है, उसे शास्त्रों में अनुरक्ता कहा गया है। अविरक्ता की व्याख्या इस प्रकार है—

पडिऊले वि य भत्तरि किंचिवि रुट्ठा ण जा हवइ।
जाउ मिउ भासिणी य णिच्च सा अविरत्तत्ति णिद्दिट्ठा॥[2]

पति के प्रतिकूल होने पर भी जो स्त्री तनिक रोष नहीं करती, सदा मधुर वाणी बोलती है, वह अविरक्ता कही जाती है। इस कथन द्वारा सूत्रकर्त्ता ने पतिव्रता स्त्री के दो पदों में समस्त लक्षण बता दिये हैं। शिवानन्दा भार्या इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले मनुष्य सम्बन्धी पाँच प्रकार के कामभोगों का उपभोग कर रही थी।

---

[1] गृहकर्म व्यापृता या सर्वस्नेहप्रवर्द्धनी दक्षा।
छायेव भर्त्रनुगा अनुरक्ता, सा समाख्याता॥

[2] प्रतिकूलेऽपि च भर्त्तरि किञ्चिदपि रुष्टा न या भवति।
या तु मधुरभाषिणी च नित्यं सा अविरक्तेति निर्दिष्टा॥

कामभोग—शब्द रूप आदि जिन विषयों का आनन्द एक साथ अनेक व्यक्ति ले सकते हैं, वे काम कहे जाते हैं तथा भोजन, पान, शय्या आदि को भोग कहते हैं, जहां भोग्य वस्तु भिन्न २ रहती है।

कोल्लाक सन्निवेश का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था। रिद्ध-त्थिमिय जाव पासादीए, दरसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ॥ ७ ॥ (पृ० २५ ॥८)

छाया—तस्मात् खलु वाणिज्य ग्रामाद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागेऽत्र खलु कोल्लाको नाम सन्निवेश आसीत् ऋद्ध स्तिमितो यावत् प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप, प्रतिरूप।

शब्दार्थ—तस्स णं—उस, वाणियगामस्स—वाणिज्यग्राम के, बहिया—बाहर, उत्तरपुरत्थिमे—उत्तर पूर्व, दिसी भाए—दिशा में, एत्थणं—यहां, कोल्लाए नाम सन्निवेसे—कोल्लाक नामक सन्निवेश, होत्था—था। वह रिद्ध-त्थिमिय जाव पासादीए—ऋद्ध अर्थात् सम्पन्न, स्तिमित अर्थात् सुरक्षित यावत्, पासादीय—प्रासादों से सुशोभित, दरिसणिज्जे—दर्शनीय था। अभिरूवे—अभिरूप अर्थात् सुन्दर और पडिरूवे—प्रतिरूप अर्थात् जैसा होना चाहिए वैसा था।

भावार्थ—वाणिज्यग्राम के बाहर ईशान कोण में कोल्लाक नामक सन्निवेश अर्थात् उपनगर था। वह ऋद्ध—धन धान्य आदि से सम्पन्न, स्तिमित—तस्कर आदि के उपद्रवों से रहित, प्रासादीय—मनोहर, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—शोभापूर्ण तथा प्रतिरूप—अलौकिक छवि वाला था।

टीका—सूत्रकार ने 'रिद्ध, त्थिमिय, समिद्ध' ये तीन पद दिये हैं, इनके द्वारा नगर का समस्त वर्णन कर दिया है। विशाल भवनों से नगर की शोभा बढ़ती है। किन्तु वही नगर वृद्धिशाली हो सकता है, जो निर्भय हो अर्थात् जहां राजा, तस्कर आदि किसी प्रकार का भय न हो। शास्त्रों में भय के अनेक प्रकार बताये हैं—राजभय, तस्करभय, जलभय, अग्निभय, वनचरभय तथा जनता के असन्तोष का

भय। जब नगर निर्भय होता है, तभी उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। परिणाम स्वरूप धन-धान्य आदि की वृद्धि होती है और वह व्यापार का केन्द्र बन जाता है, कोल्लाक नामक सन्निवेश उक्त गुणों से युक्त था। सन्निवेश उसे कहते हैं— "सन्निविशन्ति जना यस्मिन् स ग्रामविशेष" अर्थात् जिसमें जन निवेश करते हैं, उसी का नाम सन्निवेश (पडाव) है। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम के समीप एक पडाव या बस्ती थी, जो व्यक्त तथा सुधर्मा गणधरों का जन्म स्थान मानी जाती है। भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहने वाले बहुल ब्राह्मण के घर में प्रथम भिक्षा प्राप्त हुई थी।

आनन्द के स्वजन सम्बन्धियों का वर्णन—

मूलम्—तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए ॥ ८ ॥

छाया—तत्र खलु कोल्लाक सन्निवेशे आनन्दस्य गाथापतेर्बहुको मित्र ज्ञाति-निजक स्वजन-सम्बन्धि परिजन परिवसति, आढ्यो यावदपरिभूत ।

शब्दार्थ—तत्थ णं—उस, कोल्लाए सन्निवेसे—कोल्लाक सन्निवेश में, आणंदस्स गाहावइस्स आनन्द गाथापति के, बहुए—बहुत से, मित्तणाइणियगसयण संबंधि परिजणे—मित्र, ज्ञाति, आत्मीय, स्वजन-सम्बन्धी और परिजन रहा करते थे। अड्ढे जाव अपरिभूए—वे भी आढय यावत् अपरिभूत थे।

भावार्थ—उस कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गाथापति के बहुत से मित्र, ज्ञाति-बन्धु आत्मीय, स्वजन, सम्बन्धी तथा परिजन निवास करते थे। वे भी सम्पन्न तथा अपरिभूत थे।

टीका—इस सूत्र में आनन्द गाथापति के स्वजनों का वर्णन किया गया है। मित्रादि के लक्षण निम्नलिखित दो गाथाओं में वर्णित हैं—

"मित्त सयेगरूव, हियमुवदिसइ, पिय च वितणोइ।
तुल्लायार वियारी, सज्जाइ यग्गो य सम्मया णाई॥"[1]

[1] मित्र सदैकरूप हितमुपदिशति प्रिय च वितनोति।
तुल्याचारविचारी स्वजाति वर्गश्च सम्मता ज्ञाति॥

"माया पिउ पुत्ताई, णियगो, सयणो, पिउव्व भायाई ।
संबंधी ससुराई, दासाई परिजणो णेम्रो ॥"[१]

मित्र वह है जो सदा हित की बात बताता है और सदा हित ही करता है। समान आचार विचार वाले स्वजाति वर्ग को ज्ञाति। माता-पिता पुत्र आदि को निजक। भाई आदि को स्वजन। श्वसुर आदि को सम्बन्धी और दास आदि को परिजन कहते हैं।

भगवान् महावीर का समवसरण—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गया। कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ। निग्गच्छित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ ६ ॥ (पृ० १८/१२)

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन समये श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृत। परिषन्निर्गता। कूणिको राजा यथा, तथा जितशत्रुर्निगच्छति। निर्गत्य यावत पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय, समणे भगव महावीरे जाव समोसरिए—श्रमण भगवान् महावीर यावत् वाणिज्यग्राम में आये, कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ—कूणिक राजा के समान जितशत्रु राजा भी निकला, निग्गच्छित्ता—निकल कर जाव—यावत् पज्जुवासइ—भगवान् के पास आया और उसने भगवान् महावीर की वन्दना तथा चरणसेवा की।

भावार्थ—उस समय श्रमण भगवान महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए वाणिज्यग्राम नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य मे पधारे। परिषद् वन्दन करने को निकली। कूणिक के समान जितशत्रु राजा भी वैभव के साथ निकला और भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ।

---

[१] माता पित पुत्रादिर्निजकः स्वजनः पितृव्यभ्रात्रादिः।
सम्बन्धी श्वशुरादिर्दासादिः परिजनो ज्ञेयः ॥

टीका—सूत्र मे परिषद् (परिसा) शब्द दिया हुआ है उसका यह भाव है—परि-सर्वतोभावेन सीदन्ति—उपविशन्ति-गच्छन्ति वा जना यस्या सा परिषत्—सभा। अर्थात् जिस स्थान पर लोग विचार-विनिमय करने के लिए बैठते हैं, उसका नाम परिषत् है। यह तीन प्रकार की होती है—

१ ज्ञा परिषद्—निपुण बुद्धि सपन्न, विचारशील, गुण दोष को जानने वाली दीघदर्शी एव औचित्यानुचित्य का विवेक करने वाली 'ज्ञा' परिषद होती है।

२ अज्ञा परिषद—अज्ञानी किन्तु विनयशील तथा शिक्षा मानने मे तत्पर जिज्ञासुओ की सभा, 'अज्ञा' परिषद् होती है।

३ दुर्विदग्धा परिषद्—मिथ्या अहङ्कार से युक्त, तत्त्व बोध से रहित एव दुराग्रही व्यक्तियो की सभा 'दुर्विदग्धा' परिषद् कही जाती है।

आनन्द का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए ण से आणदे गहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एव खलु समणे जाव विहरइ, त महप्फल, जाव गच्छामि ण। जाव पज्जुवासामि" एव सपेहेइ, सपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पा मगलाइ वत्थाइ पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालकिय सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरेण्ट मल्लदामेण छत्तेण धरिज्जमाणेण मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते पायविहारचारेण वाणियग्गाम नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ, करेत्त वदइ नमसइ जाव पज्जुवासइ ॥ १० ॥ (पे० १६ । १८) १३)

छाया—तत खलु स आनन्दो गाथापतिरस्या कथाया लब्धार्थ सन्, "एव खलु श्रमणो यावद् विहरति, तन्महत् फलम्, गच्छामि खलु यावत् पर्युपासे" एव सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य स्नात, शुद्धप्रवेश्यानि माङ्गल्यानि वस्त्राणि प्रवरपरिहित, अल्पमहर्घाभरणालङ्कृतशरीर स्वकात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य सकुरण्टमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन मनुष्यवागुरा परिक्षिप्त पादविहारचारेण वाणिज्यग्राम नगर मध्य मध्येन

निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव द्रुतिपलाशचत्यम, यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिण प्रदक्षिणा करोति, कृत्वा वदते नमस्यति, यावत् पयु पास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से—वह आणदे गाहावई—आनन्द गाथापति, इमीसे कहाए—इस कथा मे लद्धट्ठे समाणे—लब्दार्थ हुआ—*अर्थात् आनन्द को भी यह ज्ञात* हुआ कि एव खलु समणे जाव विहरइ—चम्पा के बाहर दूतीपलाश उद्यान मे श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, त महप्फल—महान् फल होगा यदि मैं जाव गच्छामिण—यावत् भगवान् के दर्शन करने जाऊँ जाव—यावत् पज्जुवासामि—और उपासना करूँ, एव सपेहेइ—आनन्द ने इस भाँति विचार किया, सपेहित्ता—विचार करके ण्हाए—स्नान किया, सुद्धप्पा-वेसाइ मगलाइ वत्थाइ—*और शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने* योग्य माङ्गलिक वस्त्र पवर परिहिए—भली भाँति पहने, अप्पमहग्घाभरणालकियसरीरे—और अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणो से शरीर को अलकृत किया। सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ—इस प्रकार सज्जित होकर वह अपने घर से निकला । पडिनिक्खमित्ता—निकल कर, सकोरेंटमल्लदामेण छत्तेण धरिज्जमाणेण—कुरण्ट पुष्पो की माला से युक्त छत्र धारण किये, मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते—मनुष्य समूह से घिरा हुआ, पायविहारचारेण—पैदल ही चलता हुआ, वाणिय गाम नयर मज्झ मज्झेण निगच्छइ—*वाणिज्य गाम नगर के बीच होता हुआ निकला*, निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणामेव दुइपलासे चेइए—जहाँ दुतिपलाश चैत्य था, जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजते थे । तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ—तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, करेत्ता—प्रदक्षिणा करके वदइ नमसइ—वन्दना की *और नमस्कार किया ।* जाव—यावत्, पज्जुवासइ—पर्युपासना की ।

भावार्थ—राजा आदि नगर के प्रमुख जनो को भगवान् की वन्दना के लिए जाते देखकर आनन्द को ज्ञात हुआ कि महावीर स्वामी नगर के बाहर उद्यान म ठहरे हुए हैं । उसके मन मे विचार आया कि मुझे भी भगवान् क दर्शनार्थ जाना चाहिए और विधि पूर्वक उपासना करनी चाहिए, इससे महान् फल की प्राप्ति होगी । यह विचार कर उसने स्नान किया, शुद्ध एव सभा में प्रवेश करने योग्य

मङ्गल वस्त्र पहने, अल्प परन्तु बहुमूल्य आभूषणों द्वारा शरीर को विभूषित किया। इस भांति सुसज्जित होकर वह अपने घर से निकला। कोरंट पुष्पों की माला से अलंकृत छत्र धारण किया और जन समुदाय से घिरा हुआ, पैदल ही वाणिज्यग्राम नगर के बीचो-बीच होता हुआ, दुतिपलाश चैत्य में जहा भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहा पहुँचा। वहाँ जाकर भगवान् महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना तथा नमस्कार किया, यथाविधि पर्युपासना की।

टीका—सूत्र मे 'यावत्' शब्द से निम्नलिखित पाठ की ओर सकेत किया गया है—"समण भगव महावीर वदामि नमसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाण मगल देवय चेइय विणएण ।"

भगवान् की वन्दना करते समय उनकी इस प्रकार स्तुति की जाती है—आप कल्याण करने से कल्याण रूप हैं, दुःखों और विघ्नो को उपशमन करने से मङ्गल रूप हैं, तीन लोक के नाथ होने से आप आराध्य देव स्वरूप हैं, विशिष्ट ज्ञानवान् हैं अथवा चित्तशुद्धि के हेतु होने से आप चैत्य ज्ञान स्वरूप हैं। उक्त चार पदो की व्याख्या राजप्रश्नीय सूत्रान्तगत सूर्याभदेव के वर्णन मे आचार्य मलयगिरि ने निम्न प्रकार की है—"कल्लाण मगल देवय चेइय पज्जुवासामि, कल्याण—कल्याणकारित्वात्, मगल—दुरितोपशमकारित्वात्, देवता—देव त्रैलोक्याधिपतित्वात, चैत्य—सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुम्—सेवितुम् ।"

भगवान की धर्मकथा का वर्णन—

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे आणदस्स गाहावइस्स, तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्म कहा। परिसा पडिगया, राया य गओ ॥ ११ ॥ (पृ॰ २० पर)

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर आनन्दाय गाथापतये तस्या च महातिमहत्यापरिषदि यावद धर्मकथा। परिषत् प्रतिगता, राजा च गत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर, समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, आणदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति को, तीसे य महइ महालियाए परिसाए—उस

महनीय परिषद् में, धम्म कहा—धमकथा कही, परिसा पडिगया—उपदेशानन्तर परिषद् चली गई, राया य गम्रो—राजा भी चला गया।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द गाथापति तथा उस महती परिषद् को धर्म उपदेश दिया। धम प्रवचन के पश्चात् परिषद् चली गई और जितशत्रु राजा भी चला गया।

टीका—इस सूत्र मे भगवान की धर्मकथा का उल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर ने आनन्द गाथापति और जितशत्रु राजा आदि प्रधान पुरुषो की महासभा मे धमकथा की। उसका विस्तृत वणन औपपातिक सूत्र म किया गया है। भगवान् ने सर्व प्रथम आस्तिकवाद का निरूपण किया। जैन दर्शन के अनुसार लोक, अलोक, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष रूप पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व है। जैन शास्त्रो म इनका नय और प्रमाणो द्वारा निरूपण किया गया है। प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अस्ति अर्थात् विद्यमान है और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्ति अर्थात् अविद्यमान है। इसका विस्तृत वर्णन सप्तभङ्गी न्याय द्वारा किया गया है। भगवान् ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप का मोक्ष माग के रूप मे निरूपण किया है। साथ ही चार गतियो, चार कषायो, चार सज्ञाओ, षड् जीवनीकायो तथा चार विकथाओ अर्थात् स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, देशविकथा तथा राजविकथा का विस्तार पूवक वणन किया गया है। इसके अतिरिक्त चार प्रकार की धर्म कथाओ का स्वरूप बताया गया है, वे इस प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेगनी और निर्वेदनी। उक्त चार धम कथाओ का श्रीठाणाङ्ग सूत्र में विस्तार से प्रति-पादन किया गया है।

धर्मोपदेश श्रवण के अनन्तर आनन्द की प्रतिक्रिया—

मूलम्—तए ण से आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव एव वयासी—सद्दहामि ण, भते! णिग्गथ पावयण, पत्तियामि ण, भते! णिग्गथ पावयणं, रोएमि ण, भते! निग्गथ पावयण, एवमेय, भते! तहमेय, भते! अवितहमेय, भते!

इच्छियमेय, भंते ! पडिच्छियमेय, भंते ! इच्छिय-पडिच्छियमेय, भंते ! से जहेय तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा ण देवाणुप्पियाण अंतिए बहवे राईसर-तलवर-माडविय-कोडुम्बिय-सेट्ठि-सेणावई सत्थवाहप्पभिइओ मुण्डा भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अह तहा सचाएमि मुडे जाव पव्वइत्तए। अह ण देवाणप्पियाण अंतिए पचाणुव्वइय सत्त सिक्खावइयं दुवालसविह गिहि धम्म पडिवज्जिसामि। अहासुह, देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह ॥ १२ ॥ (पृ० २३ पर)

छाया—तत खलु स आनन्दो गाथापति श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अंतिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टस्तुष्ट यावदेवमवादीत्—श्रद्दधामि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन, प्रत्येमि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन, रोचते मे खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्य प्रवचनम्। एवमेतद् भदन्त ! तथ्यमेतद् भदन्त ! अवितथमेतद् भदन्त ! इष्टमेतद् भदन्त ! प्रतीष्टमेतद् भदन्त ! इष्टप्रतीष्टमेतद् भदन्त ! तद् यथैतद् यूय वदथेति कृत्वा, यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठि-सेनापति-सार्थवाह प्रभृतयो मुण्डीभूय आगाराद् अनगारतां प्रव्रजिता, नो खलु अह तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम्। अह खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये। यथासुख देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्ध कुरु।

शब्दार्थ—तए ण से—तत्पश्चात् आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स—आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर के अंतिए—पास धम्म—धर्म को सोच्चा—सुनकर निसम्म—हृदय में धारण करके हट्ठ तुट्ठ जाव एव वयासी—हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला, सद्दहामिण, भंते ! निग्गथ पावयण—हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, पत्तियामिण भंते ! निग्गथ पावयण—हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं विश्वास करता हूँ। रोयमिण भंते ! निग्गथ पावयण—हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे अच्छा लगता है। एवमेय भंते !—हे भगवन् (सत्य का स्वरूप) ऐसा ही है, तहमेय भंते !—भगवन् ! यही तथ्य है, अवितहमेय भंते !—हे भगवन ! यह यथार्थ है। इच्छियमेय भंते !—हे भगवन् !

यह अभिलषणीय है, पडिच्छियमेयं भंते !—हे भगवन् ! यह अभीप्सनीय है, इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते !—हे भगवन् यह अभिलषणीय तथा अभीप्सनीय है। से जहेयं तुब्भे वयह—यह प्रवचन ठीक वैसा ही है जैसा आप ने कहा है। त्ति कट्टु—अत जहाणं देवाणुप्पियाणं अंतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास, बहवे राईसर तलवर-माडंबिए-कोडुंबिए सेट्ठि सेणावई-सत्थवाह पभिइया— बहुत से राजा ईश्वर-तलवर-माडम्बिक कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति सार्थवाह आदि, मुण्डा भविता—मुण्डित होकर, अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता—घर छोडकर मुनि बने, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए—मैं उस प्रकार मुण्डित यावत् प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं—मैं तो देवानुप्रिय के पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत, इस प्रकार, दुवालसविहं गिहि धम्मं—द्वादशविध गृहस्थ धर्म को, पडिवज्जिस्सामि—स्वीकार करूंगा। अहासुहं देवाणुप्पिया—भगवान ने कहा है देवानुप्रिय ! जैसे तुमको सुख हो वैसे करो, मा पडिबन्धं करेह—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द गाथापति श्री भगवान महावीर स्वामी के पास धर्मोपदेश सुन कर हृष्ट-तुष्ट एवं प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगा—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, वह मुझे अच्छा लगता है। भगवन् ! यह ऐसा ही है जैसा आपने कहा। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है, तथ्य है, मुझे अभीप्सित है, तथा अभीप्रेत है। हे देवानुप्रिय ! आपके पास जिस प्रकार राजा ईश्वर तलवर-माडम्बिक कौटुम्बिक श्रेष्ठी-सेनापति सार्थवाह मुण्डित होकर—घर छोड़ कर मुनि बने हैं। किन्तु मैं उस प्रकार मुण्डित एवं प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ। अतः देवानुप्रिय ! मैं आपके पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करना चाहता हूँ। आनन्द गाथापति के इस प्रकार कहने पर भगवान महावीर ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो उस प्रकार करो, विलम्ब मत करो।

टीका—धर्म के दो रूप हैं, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, श्रुतधर्म का अर्थ है—धर्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमें श्रद्धा। चारित्रधर्म का अर्थ है—संयम और तप। संयम द्वारा आत्मा को पाप अथवा अशुभ प्रवृत्तियों से बचाया जाता है और तप द्वारा

पूर्व संचित कर्मों अथवा अशुद्धि को दूर किया जाता है। मुनि पूर्ण संयम का पालन करता है और गृहस्थ आंशिक रूप में, आनन्द ने भगवान का प्रवचन सुनकर उसे अच्छी तरह समझा और दृढ़ विश्वास जमाया। तदनन्तर अगले कदम के रूप में श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। उसने अपने विश्वास को जिन शब्दों द्वारा प्रकट किया है वह उसकी दृढ़ श्रद्धा को प्रकट करते हैं। इसी को जैन दर्शन में सम्यग्-दर्शन कहा गया है जो कि मोक्ष मार्ग की आधार शिला है।

भगवान् ने आनन्द को सम्बोधित करते हुए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार आनन्द ने भी भगवान के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जो देवताओं का भी प्रिय लगता है अर्थात् जिसके जीवन के लिए देवता भी स्पृहा करते हैं।

राजा, ईश्वर आदि शब्द तत्कालीन सामाजिक एवं राजकीय प्रतिष्ठा के द्योतक हैं। इनका अर्थ परिशिष्ट में देखें।

आनन्द का व्रतग्रहण—

प्रथम अहिंसा व्रत

मूलम्—**तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१३॥**

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके तत्प्रथमतया स्थूलं प्राणातिपातं प्रत्याख्याति, यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से—उस आणंदे गाहावई—आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के अंतिए—पास में तप्पढमयाए—सर्वप्रथम, थूलगं पाणाइवायं—स्थूलप्राणातिपात का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया। जावज्जीवाए—समस्त जीवन के लिए, दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से अर्थात् न करेमि—न करूंगा न कारवेमि—न कराऊंगा मणसा—मन से वयसा—वचन से कायसा—और काय से।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास अणुव्रतों में श्रेष्ठ प्रथम व्रत के रूप में स्थूल प्राणातिपात अर्थात् स्थूल हिंसा का दो करण तीन योग से परित्याग किया। उसने निश्चय किया कि यावज्जीवन मन, वचन और शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करूंगा और न दूसरों से कराऊँगा।

टीका—दुविहं तिविहेण—किसी कार्य या वस्तु का परित्याग कई प्रकार से किया जाता है। किसी कार्य को हम स्वयं नहीं करते, किन्तु दूसरे से कराने या अन्य व्यक्ति द्वारा स्वयं करने पर उसके अनुमोदन का त्याग नहीं करते। इस दृष्टि से जैन धर्म में ४६ भंग अर्थात् प्रकार बताये गये हैं। करना, कराना तथा अनुमोदन करना, ये तीन कारण हैं और मन, वचन तथा काय के रूप में तीन योग हैं। सर्वोत्कृष्ट त्याग तीन करण, तीन योग से होता है, इसका अर्थ है किसी कार्य को मन, वचन तथा काय से न स्वयं करना न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार का त्याग समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त मुनि के लिए सम्भव है। त्याग की निम्नतम श्रेणी एक करण, एक योग है अर्थात् अपने हाथ से स्वयं न करना। अन्य कोटियां इन दोनों के मध्यवर्ती हैं। श्रावक अपने व्रतों को साधारणतया दो करण, तीन योग से स्वीकार करता है अर्थात् वह निश्चय करता है, कि स्थूल हिंसा आदि पाप कार्यों को मन, वचन और काय के द्वारा मैं न स्वयं करूंगा और न दूसरे से कराऊँगा। जहाँ तक अनुमोदन का प्रश्न है उसे छूट रहती है। उपरोक्त ४६ भंग अथवा प्रकारों में प्रस्तुत भंग का ४० वां स्थान है, जो २३ अर्थात् दो और तीन के अङ्क द्वारा प्रकट किया जाता है।

थूलगं पाणाइवायं—जैन धर्म में जीवों का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है। साधारण कीड़े मकोड़ों से लेकर मनुष्य पर्यन्त जो जीव स्वेच्छानुसार चल-फिर या हिल सकते हैं, उन्हें त्रस कहा गया है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के जीव, स्थावर कहे गये हैं। स्थूल हिंसा से तात्पर्य है—त्रस जीवों की हिंसा। आनन्द श्रावक ने भगवान से यह व्रत ग्रहण किया कि निरपराधी चलने फिरने वाले प्राणियों की मैं हिंसा नहीं करूंगा, इसलिए उसने दो करण और तीन योग से मोटी हिंसा का परित्याग किया। श्रावक को स्थावर जीवों की हिंसा का पूर्ण रूपेण परित्याग नहीं होता। मुनि को स्थावर तथा त्रस दोनों की हिंसा का पूर्णतया परित्याग होता है।

द्वितीय सत्य व्रत—

मूलम्—तयाणतरं च ण थूलग मुसावाय पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेण, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१४॥

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलक मृषावाद प्रत्याचष्टे, यावज्जीव द्विविध त्रिविधेन न करोमि, न कारयामि, मनसा, वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—और उसके अनन्तर, थूलग मुसावाय—स्थूल मृषावाद का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया, जावज्जीवाए—यावज्जीवन, दुविहं तिविहेण—दो करण तीन योग से, न करेमि—न करूंगा, न कारवेमि—न कराऊँगा, मणसा—मन से, वयसा—वचन से, कायसा—शरीर से ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द ने स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन वचन और काय से स्थूल मृषावाद का प्रयोग न स्वय करूंगा और न दूसरो से कराऊँगा ।

तृतीय अस्तेय व्रत—

मूलम्—तयाणतर च ण थूलग अदिण्णादाण पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेण, न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ॥१५॥

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलक अदत्तादान प्रत्याख्याति यावज्जीव द्विविध त्रिविधेन न करोमि न कारयामि, मनसा वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—तदनन्तर, थूलग अदिण्णादाण—स्थूल अदत्तदान का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया कि, जावज्जीवाए—यावज्जीवन, दुविहं तिविहेण—दो करण तीन योग से अर्थात्, मणसा—मन से, वयसा—वचन से, कायसा—और शरीर से, न करेमि—स्थूल चोरी न करूंगा, न कारवेमि—न कराऊँगा ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने स्थूल अदत्तादान अर्थात् चोरी का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन से वचन से और काय से स्थूल चोरी न करूंगा और न कराऊँगा ।

चतुर्थ स्वदारसंतोष व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसीए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ॥१६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसन्तोषिके परिमाणं करोति, नान्यत्र एकस्याः शिवानन्दाया भार्याया अवशेषं सर्वं मैथुनविधिं प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सदारसंतोसीए—स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत के सम्बन्ध मे, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया । नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए—एक शिवानन्दा भार्या के अतिरिक्त, अवसेसं—अवशिष्ट, सव्वं मेहुणविहिं—सब प्रकार के मैथुन सेवन का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द ने स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत का स्वीकार किया और यह मर्यादा स्वीकार की कि शिवानन्दा नामक विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत व्रत में योग और करण का उल्लेख नहीं किया गया । आवश्यक सूत्र मे केवल एक करण एक योग का उल्लेख है । इसका अर्थ है श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर केवल काया से स्वयं मैथुन सेवन का परित्याग करता है । गृहस्थ जीवन मे सन्तान आदि का विवाह करना आवश्यक हो जाता है । इसी प्रकार पशुपालन करने वाले के लिए उनका परस्पर सम्बन्ध कराना भी अनिवार्य हो जाता है । अतः इसमे दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक को अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्य पर छोड दिया है । जो श्रावक घर के बाहर उत्तरदायित्व से निवृत्त हो चुका है, वह यथाशक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ सकता है ।

पञ्चम इच्छा परिमाण व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्ण-विहिं परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाण पउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्ण सुवण्णविहिं पच्चक्खामि ॥१७॥

तयाणतर च ण चउप्पय विहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ चउहि वएहि दसगोसाहस्सिएण वएण, अवसेस सव्व चउप्पयविहि पच्चक्खामि ॥१८॥

तयाणतर च ण खेत्त-वत्थु विहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ पचहि हलसएहि नियत्तण-सइएण हलेण अवसेस सव्व खेत्तवत्थु विहि पच्चक्खामि ॥१९॥

तयाणतर च ण सगडविहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ पचहि सगडसएहि दिसायत्तिएहि, पञ्चहि सगडसएहि सवाहणिएहि, अवसेस सव्व सगडविहि पच्चक्खामि ॥२०॥

तयाणतर च ण वाहणविहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ चउहि वाहणेहि दिसायत्तिएहि, चउहि वाहणेहि सवाहणिएहि, अवसेस सव्व वाहणविहि पच्चक्खामि ॥२१॥

छाया—तदनन्तर च खलु इच्छाविधि परिमाण कुर्वन् हिरण्यसुवर्णविधि परिमाण करोति। नान्यत्र चतसृभ्यो हिरण्यकोटिभ्यो निधानप्रयुक्ताभ्य, चतसृभ्यो वृद्धि-प्रयुक्ताभ्य, चतसृभ्य प्रविस्तरप्रयुक्ताभ्य, अवशेष सर्व हिरण्यसुवर्णविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तर च खलु चतुष्पदविधि परिमाण करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो व्रजेभ्यो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन, अवशेष सर्वम् चतुष्पदविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तर च खलु क्षेत्रवास्तुविधिपरिमाण करोति। नान्यत्र पञ्चभ्यो हल-शतेभ्यो निवतनशतिकेन हलेन, अवशेष सर्व क्षेत्रवस्तुविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तर च खलु शकटविधिपरिमाण करोति। नान्यत्र पञ्चभ्य शकटशतेभ्यो-दिग्यात्रिकेभ्य, पञ्चभ्य शकटशतेभ्य सावाहनिकेभ्य, अवशेष सर्व शकटविधि प्रत्याचक्षे।

तदनन्तर च खलु वाहनविधिपरिमाण करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो वाहनेभ्यो दिग्यात्रिकेभ्य, चतुर्भ्यो, वाहनेभ्य सवाहनिकेभ्य, अवशेष सर्व वाहनविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके पश्चात् आनन्द ने, इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे—इच्छा विधि का परिमाण करते हुए, हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं—हिरण्य-सुवर्ण विधि का परिमाण, करेइ—किया कि, चउहिं हिरण्ण कोडीहिं निहाणपउ-त्ताहिं—कोष में सञ्चित चार कोटि हिरण्य सुवर्ण, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं—वृद्धि अर्थात् व्यापार में लगे चार कोटि हिरण्य, चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं—प्रविस्तर अर्थात् गृह एवं गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्य कोटि के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—समस्त, हिरण्ण सुवण्णविहिं—हिरण्य सुवर्ण संग्रह का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, चउप्पयविहि परिमाणं—चतुष्पद विधि का परिमाण, करेइ—किया कि, दसगोसाहस्सिएणं वएणं चउहिं वएहिं—प्रत्येक में दस हज़ार गौओं वाले चार व्रजों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं सव्वं—अन्य सब, चउप्पयविहिं पच्चक्खामि—चतुष्पद अर्थात् पशु संग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, खेत्तवत्थु विहि परिमाणं—क्षेत्र वास्तु विधि का परिमाण, करेइ—किया, नियत्तण सइएणं हलेणं—सौ बीघा भूमि का एक हल ऐसे पंचहिं हलसएहिं—पाँच सौ हलों के, नन्नत्थ—सिवा, अवसेसं—अन्य, सव्वं—सब, खेत्तवत्थुविहिं—क्षेत्र-वास्तुविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सगडविहिपरिमाणं करेइ—शकट विधि का परिमाण किया कि, पंचहिं सगड सएहिं दिसायत्तिएहिं—पाँच सौ शकट विदेश यात्रा करने वाले और, पंचहिं सगड सएहिं संवाहणिएहिं—पाँच सौ हलों के, नन्नत्थ—सिवा, अवसेसं—अन्य, सव्वं—सब, खेत्तवत्थु विहिं—क्षेत्र-वास्तुविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, वाहणविहिपरिमाणं—वाहन विधि का परिमाण, करेइ—किया, चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं—चार वाहन यात्रा के, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं—चार वाहन माल ढोने के, नन्नत्थ—सिवा, अवसेसं सव्वं—अन्य सब वाहणविहिं—वाहन विधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर इच्छाविधि का परिमाण करते हुए आनन्द ने हिरण्य सुवर्ण (सोने की मुद्रा) की मर्यादा की और निश्चय किया कि कोष में निहित चार हिरण्य

कोटि, व्यापार मे प्रयुक्त चार हिरण्यकोटि और गृह तथा गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्यकोटि के, इस प्रकार बारह कोटि के अतिरिक्त हिरण्य सुवर्ण सग्रह करने का परित्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् चतुष्पद अर्थात् पशु सम्बन्धी मर्यादा की—प्रत्येक मे दस हजार गौओ वाले ऐसे चार गोकुलो के सिवाय अन्य पशु सग्रह का प्रत्याख्यान किया।

तदनन्तर क्षेत्रवास्तु का परिमाण किया और सौ बीघा भूमि का एक हल, इस प्रकार के पाच सौ हलो के सिवाय शेप क्षेत्र वास्तु का प्रत्याख्यान किया।

उसके पश्चात् बैल गाडियो का परिमाण किया और पाँच सौ शकट यात्रा के लिए और पाँच सौ शकट माल ढोने के रखे। इसके अतिरिक्त अन्य शकट रखने का परित्याग किया।

तदनन्तर वाहनो नौकाओ अर्थात् जलयानो का परिमाण किया। चार माल ढोने की तथा चार यात्रा की नौकाओ के सिवाय अन्य नौकाओ के रखने का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम इच्छाविधि परिमाण दिया गया है। इसका अर्थ है, कि सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छा को मर्यादित करना। समाज, शान्ति व्यवस्था और परस्पर शोषण को रोकने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्वपूण है। क्योंकि इच्छाओ की अनर्गल वृद्धि से ही राष्ट्रो मे सङ्घर्ष उत्पन्न होते हैं। इस व्रत को परिग्रह परिमाण व्रत भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—सम्पत्ति की मर्यादा। यह नाम सग्राह्य वस्तु की दृष्टि से है और इच्छाविधि के रूप उपर्युक्त नाम सग्राहक के मनोभावो की दृष्टि से है। जहाँ तक चारित्र का प्रश्न है इच्छा परिमाण अधिक उपयुक्त है। इसका अर्थ है, सम्पत्ति रखना अपने आप मे बुरा नही है। एक व्यक्ति किसी सस्था या सचालक होने के नाते करोडो की सम्पत्ति रख सकता है। बुरा है उस सम्पत्ति के प्रति इच्छा या ममत्व का होना।

प्रस्तुत सूत्र मे गो पद केवल गाय का वाचक नही है। घोडे-बैल आदि अन्य पशु भी इसके अन्तर्गत हैं। गाय की मुख्यता होने के कारण पशुधन का परिमाण इसी के द्वारा किया जाता है।

आनन्द के पास दस-दस हजार गौओं वाले चार व्रज थे। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में पशुधन सम्पत्ति का प्रमुख अङ्ग था। गाय दूध, दही और घी आदि के रूप में सात्विक एवं पौष्टिक भोजन प्रदान करती थी और बैल यात्रा एवं परिवहन एवं कृषि के काम आते थे और व्यापार का मुख्य अङ्ग थे। इन दोनों के द्वारा तत्कालीन समाज स्वास्थ्य तथा समृद्धि प्राप्त करता था।

खेत्तवत्थु—क्षेत्र का अर्थ है, खेत अर्थात् खेती करने की भूमि। 'वत्थु' शब्द का संस्कृत रूपान्तर वस्तु एवं वास्तु दोनों प्रकार से किया जाता है। वस्तु का अर्थ है वस्त्र, पात्र, शय्या आदि प्रतिदिन काम में आने वाले उपकरण, और वास्तु का अर्थ है मकान अथवा निवास। 'वास्तुसार' आदि स्थापत्य एवं शिल्प शास्त्र की ग्रन्थों में वास्तु शब्द का अर्थ भवन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में भी यही अर्थ विवक्षित है। अभयदेव सूरि ने क्षेत्र को ही वस्तु बताया है उनके शब्द निम्नलिखित हैं—'खेत्तवत्थु त्ति' इह क्षेत्रमेव वस्तु-क्षेत्रवस्तु अन्यत्र तु क्षेत्रं च वास्तु च गृहं क्षेत्रवास्तु इति व्याख्यायते।' अर्थात् यहाँ क्षेत्र ही वस्तु है। किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसकी व्याख्या क्षेत्र और वास्तु के रूप में की गई है।

नियत्तण सइएण आनन्द ने पाँच सौ हल भूमि का परिमाण किया। प्रत्येक हल सौ निवतनों[1] का बताया गया है। निवतन का अर्थ है हल चलाते हुए बैलों का मुड़ना। इसी को घुमाव (पञ्जाबी घुमाओ) या मूड़ भी कहते हैं अभयदेव-सूरि ने इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया है—नियत्तणसइएण, त्ति निवर्तनम्-भूमिपरिमाण विशेषो देश विशेष प्रसिद्ध ततो नियतनशतं कर्षणीयत्वेन यस्यास्ति तन्निवत्तनशतिकं तेन।

दिसायत्तिएहिं—प्रस्तुत सूत्र में दो प्रकार की नौकाओं का वर्णन है। पहला प्रकार उन नौकाओं का है जो देश, विदेश में यात्रा के लिए काम में आती थी। दूसरी वे हैं, जो सामान ढोने के काम में आती थीं। आनन्द जल एवं स्थल दोनों मार्गों से व्यापार करता था। जल मार्ग के लिए उसके पास आठ जहाज थे—चार यात्रा के लिए और चार माल ढोने के लिए। स्थल मार्ग के लिए उसके पास एक हजार बैलगाड़ियाँ थी—पाँच सौ यात्रा के लिए और पाँच सौ माल ढोने के लिए।

---

[1] निवतन—करांणां दशशतं वश। निवर्त्तन विंशतिवंशैः सह त्रिगुण्यं च समन्ततः बृहन्निवर्तनम् सीतायत्याम् ॥ ६॥

श्रावक के १२ व्रता मे पाचवा परिग्रह परिमाण व्रत है और छठा दिशा परिमाण। परिग्रह परिमाण मे धनधान्य, पशु, खेत एव अन्य वस्तुओ के स्वामित्व की मर्यादा की जाती है। छठे दिशा परिमाण व्रत मे खेती व्यापार आदि के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। वहाँ श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे तथा चारो दिशाओ मे वह खेती उद्योग वाणिज्य एव अन्य व्यवसाय के लिए निश्चित क्षेत्र मर्यादा का अतिक्रमण नही करेगा। प्रस्तुत सूत्र मे छठा व्रत पाचवे के ही अन्तगत कर लिया गया है।

सप्तम उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

(१) उदद्रवणिका विधि—

मूलम्—तयाणतर च ण उवभोगपरिभोग विहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणिया विहिपरिमाण करेइ। नन्नत्थ एगाए गध-कासाईए, अवसेस सव्व उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ॥२२॥ (पृ० ३२ प२)

छाया—तदनन्तर च खलु उपभोगपरिभोगविधि प्रत्याचक्षाण उद्द्रवणिका विधि परिमाण करोति। नान्यत्र एकस्या गन्धकाषायिकाय्या, अवशेष सर्वमुद्द्रवणिकाविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर आनन्द ने, उपभोगपरिभोगविहिं—उपभोग परिभोग विधि का, पच्चक्खाएमाणे—प्रत्याख्यान करते हुए, उल्लणिया विहिपरिमाण करेइ—भीगे हुए शरीर को पोछने के काम आने वाले अगाछे आदि की मर्यादा निश्चित की, एगाए—एक, गधकासाईए—सुगन्धित एव लाल अगोछे के नन्नत्थ—सिवा, अवसेस सव्व—अन्य सब, उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि—उद्द्रवणिका विधि अगोछे रखने का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने उपभोग परिभोग विधि का प्रत्याख्यान करते हुए उद्द्रवणिका-विधि का अर्थात् स्नान के पश्चात भीगे शरीर को पोछने के काम मे आने वाले अगोछे का परिमाण किया और गन्धकषाय नामक वस्त्र के अतिरिक्त अन्य सब का प्रत्याख्यान किया।

भावार्थ—तत्पश्चात् अभ्यङ्गनविधि अर्थात् मालिश के काम में आने वाले तेलों का परिमाण किया और शतपाक तथा सहस्रपाक नामक तेलों को छोड़कर अन्य सब मालिश के तेलों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—सयपाग सहस्सपागेहिं—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—द्रव्यशतस्य सतकं क्वाथशतेन सह यत्पच्यते कार्षापणशतेन वा तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि। अर्थात् जिस तेल को सौ वस्तुओं के साथ सौ बार पकाया जाता है अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण है, उसे शतपाक कहते हैं, इसी प्रकार सहस्रपाक भी समझ लेना चाहिए।

(५) उद्वर्तनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुरहिणा गंधट्टएणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि ॥२६॥ (सू० २५)

छाया—तदनन्तरं च खलु उद्वर्तनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात्सुरभेर्गन्धाट्टकाद्, अवशेषमुद्वर्तनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—इसके अनन्तर उव्वट्टणविहिपरिमाण—उद्वर्तनविधि अर्थात् उबटन का परिमाण करेइ—किया। एगेणं—एक, सुरहिणा गंधट्टएणं—सुगन्धित गन्धाटक (पीठी) के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब उव्वट्टणविहिं—उद्वर्तन विधि अर्थात् उबटनों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर उबटनों का परिमाण किया और गेहूँ आदि के आटे से बने हुए सुगन्धित उबटन के अतिरिक्त अन्य सब उबटनों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—गंधट्टएणं इस पर निम्नलिखित वृत्ति है—"गंधट्टएणं ति गन्ध द्रव्याणां उत्पलकुष्ठादीनां अट्टओ त्ति चूर्ण गोधूम चूर्णं वा गन्धयुक्तं तस्मात्।" अर्थात् नील कमल, कुष्ट आदि औषधियों से चूर्ण अथवा गेहूँ के आटे से बने हुए गन्धयुक्त उबटन के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के उबटनों का त्याग किया।

(६) स्नानविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं मज्जणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं, अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि ॥२७॥

छाया—तदनन्तरं च खलु मज्जनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्राष्टभ्य औष्ट्रिकेभ्य उदकस्य घटेभ्य, अवसेसं मज्जनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर मज्जनविहिपरिमाणं—मज्जनविधि अर्थात् स्नान के लिए पानी का परिमाण करेइ—किया उदगस्स—जल के अट्ठहिं उट्टिएहिं—आठ औष्ट्रिक घडो के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब मज्जणविहिं—स्नान के लिए पानी का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर स्नान जल का परिमाण किया और पानी से भरे हुए आठ औष्टिक घडो के अतिरिक्त शेष जलो के उपयोग का प्रत्याख्यान किया।

टीका—औष्ट्रिक का अर्थ है ऊँट के आकार का पात्र अर्थात् जिसका मुँह सकरा, गर्दन लम्बी और पेट बडा हो। प्रतीत होता है, उस समय बड़े लोटे (गङ्गासागर) के रूप मे इस प्रकार का वर्तन काम में लाया जाता था। आनन्द ने स्नान के लिए इस प्रकार के आठ कलश पानी की मर्यादा की, अर्थात् इससे अधिक पानी के कलश नहाने के लिए उपयोग नही करूँगा।

(७) वस्त्रविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं वत्थविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि ॥२८॥

छाया—तदनन्तरं च खलु वस्त्रविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षौमयुगलाद, अवशेषं वस्त्रविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, वत्थविहिपरिमाणं—वस्त्र विधि का परिमाण करेइ—किया एगेणं—एक खोमजुयलेणं—क्षौमयुगल अर्थात् अलसी या

कपास के बने हुए दो वस्त्रों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य, वत्थविहिं—वस्त्र विधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर वस्त्रविधि अर्थात् पहनने के वस्त्रों का परिमाण किया, और अलसी अथवा कपास के बने हुए वस्त्र युगल के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों के पहनने का परित्याग किया।

टीका—खोमजुयलेण त्ति इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'कार्पासिक वस्त्र युगलादन्यत्र' अर्थात् कपास के बने हुए एक जोड़े के अतिरिक्त। क्षौम शब्द का अर्थ कपास या अतसी (अलसी) आदि से बना हुआ वस्त्र है। यहाँ कपास अर्थात् सूती वस्त्र को भी लिया गया है। युगल शब्द का अर्थ है दो। उन दिनों धोती के रूप में अधोवस्त्र तथा चद्दर दुपट्टे आदि के रूप में उत्तरीय वस्त्र पहनने का रिवाज था। सिर पर मुकुट धारण किया जाता था परन्तु वह वस्त्रों में नहीं गिना जाता था, अतः वस्त्र विधि में दो वस्त्रों का ही उल्लेख है।

(८) विलेपनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं विलेवणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु-कुंकुमचंदणमादिएहिं, अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि ॥२६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु विलेपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र अगुरु-कुंकुम चन्दनादिभ्यः, अवशेषं विलेपनविधि प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर विलेवणविहिं परिमाणं—विलेपन विधि का परिमाण करेइ—किया। अगरुकुंकुमचंदणमादिएहिं—अगर कुंकुम-चन्दन आदि के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब विलेवणविहिं पच्चक्खामि—विलेपन-विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर विलेपन विधि अर्थात् लेप करने की वस्तुओं का परिमाण किया और अगुरु कुंकुम चन्दन आदि के अतिरिक्त अन्य सब विलेपनों का प्रत्याख्यान किया।

(९) पुष्पविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण पुप्फविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेण सुद्धपउमेण, मालइ कुसुमदामेण वा, अवसेस पुप्फविहि पच्चक्खामि ॥३३॥

छाया—तदनन्तर च खलु पुष्पविधि परिमाण करोति। नान्यत्रैकस्मात् शुद्ध-पद्मात्, मालती कुसुमदाम्नो वा, अवशेष पुष्पविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर, पुप्फविहि परिमाण—पुष्पविधि का परिमाण करेइ—किया और एगेण—एक सुद्धपउमेण—श्वेत कमल, मालइ कुसुम-दामेण वा—तथा मालती के पुष्पो की माला के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब पुप्फविहि—पुष्पो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हू ।

भावार्थ—इसके पश्चात् पुष्पविधि का परिमाण किया और श्वेत कमल तथा मालती के फूलो की माला के अतिरिक्त अन्य पुष्पो के धारण अथवा सेवन का प्रत्याख्यान किया।

टीका—'सुद्धपउमेण दामेण वा' प्रतीत होता है, उन दिनो मालती या चमेली के फूलो की माला पहनने और हाथ मे श्वेत कमल को रखने का रिवाज था। मुगलकालीन चित्रो मे भी हाथ मे फूल मिलता है।

(१०) आभरणविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण आभरणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ मट्ठ-कण्णेज्जएहिं नाम मुद्दाए य, अवसेस आभरण विहिं पच्चक्खामि ॥३४॥

छाया—तदनन्तर च खलु आभरणविहिपरिमाण करोति। नान्यत्र मृष्टकर्णेय-काभ्या नाममुद्रायाश्च अवशेषमाभरणविधि प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर आभरणविहि परिमाण—आभरण-विधि का परिमाण करेइ—किया मट्ठकण्णेज्जएहिं नाम मुद्दाए य—उज्ज्वल कुण्डलों तथा नाम मुद्रिका के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब आभरणविहि—आभरणो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अंगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूषणों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—मट्ठकण्णेज्जएहिं—मृष्ट का अर्थ है-शुद्ध सोने के बने हुए बिना चित्र के । वृत्तिकार के शब्द निम्न लिखित हैं-मृष्टाभ्यामचित्रवद्भ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम् ।

(११) धूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूवणविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति । नान्यत्रागुरुतुरुष्क-धूपादिकेभ्य, अवशेषं धूपनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, धूवणविहि परिमाणं करेइ—धूप-विधि का परिमाण किया और नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमाइएहिं—अगुरु, लोबान एवं धूप आदि के सिवा अवसेसं—अन्य सब धूवणविहिं—धूपनीय वस्तुओं का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके पश्चात् धूपन विधि का परिमाण किया और अगुरु, लोबान, धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप में काम आने वाली वस्तुओं का परित्याग किया ।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भोयणविहि परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्च-क्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भोजन विधि परिमाणं कुर्वन् पेयविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्याः काष्ठपेयायाः अवशेषं पेयविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, भोयणविहिपरिमाणं—भोजनविधि का परिमाण करेमाणे—करते हुए पेज्जविहिपरिमाणं—पेय वस्तुओं का परिमा—

करेइ—किया। एगाए—एक कट्ठपेज्जाए—मूँग तथा घी मे भुने हुए चावल आदि से बने पेय विशेष के नन्नत्य—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब पेज्जविहिं—पेय पदार्थों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सब प्रथम पेय वस्तुओं का परिमाण किया और मूँग अथवा चावलों से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेष के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कट्ठपेज्जाए इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—मुदगादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा' अर्थात् मूँग आदि का पानी अथवा घी मे तले हुए चावलो द्वारा बनाया गया सूप, कही कही काष्ठपेय का अर्थ काजी किया गया है। आयुर्वेद मे त्रिफला आदि के काढे को भी काष्ठपेय कहते हैं।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण भक्खविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहि खण्डखज्जएहि वा, अवसेस भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥३०॥

छाया—तदनन्तर च खलु भक्ष्यविधिपरिमाण करोति। नान्यत्रैकेभ्य घृतपूर्णेभ्य खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेष भक्ष्यविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर भक्खविहिपरिमाण—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण करेइ—किया, एगेहिं—एक घयपुण्णेहिं खड खज्जएहिं—घेवर तथा खाजे के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब भक्ख-विहिं पच्चक्खामि—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वानो का प्रत्याख्यान किया।

(१४) ओदन विधि—

मूलम—तयाणतर च ण ओयणविहिपरिमाण करेइ नन्नत्थ कलमसालि ओयणेण, अवसेस ओयणविहिं पच्चक्खामि ॥३१॥

छाया—तदानन्तरं च खलु ओदनविधि परिमाणं करोति । नान्यत्र कलमशाल्योदनात्, अवशेषमोदनविधिं प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणंतर च णं—इसके पश्चात्, ओयणविहिपरिमाणं करेइ—ओदन विधि का परिमाण किया, कलमसालि ओयणेणं—कलम जातीय चावलों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब ओयणविहिं—ओदनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके बाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावलों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के चावलों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति वासमती के चावलों का नाम है । प्रतीत होता है, उन दिनों भी बिहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात् चावल था, गेहूँ नहीं । आजकल भी वहाँ मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है ।

(१५) सूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सूवविहिं परिमाणं करेइ । नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि ॥३२॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सूपविधि परिमाणं करोति । नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुद्गमाषसूपाद् वा, अवशेषं सूपविधिं प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर सूवविहि परिमाणं—सूपविधि का परिमाण करेइ—किया नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूंग और उड़द की दाल के अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब सूवविहिं—दालों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर सूपविधि अर्थात् दालों का परिमाण किया और मटर, मूंग तथा उड़द की दाल के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की दालों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलायसूवेण इस पद का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—कलाया चणकाकारा धान्यविशेषाः अर्थात् कलाय—चने के आकार वाले धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहते हैं ।

(१६) घृतविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि ॥३३॥

छाया—तदनन्तरं च खलु घृतविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र शारदिकाद् गोघृतमण्डात्, अवशेषं घृतविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर घयविहिपरिमाणं—घृतविधि का परिमाण करेइ—किया, नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडएणं—शरत्कालीन गोघृत के अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब घयविहिं—घृतविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर घृतविधि का परिमाण किया और शरत्कालीन दानेदार गोघृतमंड के अतिरिक्त अन्य घृतों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—सारइएणं गोघयमंडेणं—इस पर टीका में निम्न लिखित शब्द हैं—'सारइएणगोघयमण्डेणं' त्ति शारदिकेन शरत्कालोत्पन्नेन गोघृतमण्डेन गोघृतसारेण, अर्थात् शरत्काल में उत्पन्न उत्तम गोघृत का सार। यहाँ मण्डशब्द का अर्थ है—सारभूत अर्थात् शुद्ध और ताजा घी के ऊपर जो पपडी जम जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के घृतों का प्रत्याख्यान किया।

(१७) शाकविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सागविहिं परिमाणं करेइ नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चूच्चुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मुण्डुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि ॥३४॥

छाया—तदनन्तरं च खलु शाकविधि परिमाणं करोति, नान्यत्र वास्तुशाकाद् वा, चूच्चुशाकाद् वा, तुम्बशाकाद् वा, सौवस्तिक शाकाद् वा, मण्डूकिका अवशेषं शाकविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर सागविहिपरिमाणं—शाकविधि का परिमाण करेइ—किया। वत्थुसाएण वा—वथुआ चूच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक मण्डुक्कियसाएण वा—और मण्डूक्कि भिंडी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब सागविहिं—शाकों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और वथुआ, चून्चु, घीया, सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणतरं च णं माहुरयविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु माधुरकविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् पालगमाधुरकात्, अवशेषं माधुरकविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर माहुरयविहिं—माधुरकविधि का परिमाणं करेइ—परिमाण किया। एगेणं—एक पालगामाहुरएणं—पालगा माधुर अर्थात् शल्लकी नामक वनस्पति के गोंद से बने हुए मधुर पेय विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब माहुरयविहिं मीठे का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि* का परिमाण किया और पालगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१९) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणतरं च णं जेमणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु जेमनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम्, अवशेषं जेमनविधिं प्रत्याचक्षे।

* माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड, चीनी मिश्री आदि वे वस्तुएं जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर जेमणविहिपरिमाण—जेमनविधि का परिमाण करेइ—किया। सेहवदालियवेंहि—सेधाम्ल-कांजी वडे और दालिकाम्ल पकोड के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब जेमणविहि—जेमनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यजना का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र म 'जेमण' शब्द से उन पदार्थो को लिया गया है जिन्ह प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकोडे या वडे, जिन्ह पकने के बाद खटाई मे डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्ह काजी वडे कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौडे हैं, जिन्ह तेल म तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"से हवदालियवेंहि त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना सस्त्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।" अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई मे डाला जाता है उन्ह सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्ह दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण पाणिय-विहिपरिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेण अत्तलिक्खोदएण, अवसेस पाणियविहि पच्चक्खामि ॥३७॥

छाया—तयाणतर च खलु पानीयविधिपरिमाण करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेष पानीयविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर, पाणियविहिपरिमाण—पीने के पानी

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर सागविहिपरिमाणं—शाकविधि का परिमाण करेइ—किया। वत्थुसाएण वा—बथुआ चूच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक मुण्डुक्कियसाएण वा—और मण्डूकिक भिंडी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब सागविहिं—शाकों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और बथुआ, चूच्चु, घीया, सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणतरं च णं माहुरयविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु माधुरकविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् पालगमाधुरकात्, अवशेषं माधुरकविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर माहुरयविहिं—माधुरकविधि का परिमाणं करेइ—परिमाण किया। एगेणं—एक पालगामाहुरएणं—पालगा माधुर अर्थात् शल्लकी नामक वनस्पति के गोंद से बने हुए मधु रपेय विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब माहुरयविहिं मीठे का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि* का परिमाण किया और पालगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१९) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणतरं च णं जेमणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु जेमनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम्, अवशेषं जेमनविधिं प्रत्याचक्षे।

---

* माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड़, चीनी मिश्री आदि व वस्तुएँ जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर जेमणविहिपरिमाण—जेमनविधि का परिमाण करेइ—किया। सेहबदालियवेहिं—सेधाम्ल काजी बडे और दालिकाम्ल पकोडे के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब जेमणविहिं—जेमनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात व्यजनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे 'जेमण' शब्द से उन पदार्थों को लिया गया है जिन्हे प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकौडे या बडे, जिन्हे पकने के बाद खटाई मे डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हे काजी बडे कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौडे हैं, जिन्हे तेल मे तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सेहबदालियवेहिं त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना सस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।" अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई मे डाला जाता है उन्हे सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्हे दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण पाणिय-विहिपरिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेण अन्तलिक्खोदएण, अवसेस पाणियविहिं पच्चक्खामि ॥३७॥

छाया—तयाणतर च खलु पानीयविधिपरिमाण करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेष पानीयविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर, पाणियविहिपरिमाण—पीने के पानी

का परिणाम करेइ—किया, एगेण—एक अतलिक्खोदएण—बादलों के पानी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब, पाणियविहि—जलों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद पानीयविधि का अर्थात् पीने के पानी का परिमाण किया और एकमात्र वर्षा के पानी के अतिरिक्त अन्य सब जलों का प्रत्याख्यान किया।

(२१) ताम्बूलविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं मुहवास-विहि-परिमाणं करेइ। नन्नत्थ पंच-सोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवास-विहिं पच्चक्खामि ॥३८॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु मुखवासविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र पञ्च-सौगन्धिकात्ताम्बूलादवशेषं मुखवासविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर मुहवास-विहि-परिमाणं—मुखवासविधि का परिमाण करेइ—किया। पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं—पाँच सुगन्धित वस्तुओं से युक्त ताम्बूल के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब मुहवासविहिं—मुखवासविधि अर्थात् मुख को सुगन्धित करने वाले द्रव्यों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् मुखवास विधि का परिमाण किया और पाँच सुगन्धित पदार्थों से युक्त ताम्बूल के सिवा मुख को सुगन्धित करने वाले अन्य पदार्थों का परित्याग किया।

टीका—पंचसोगंधिएणं-पाँच सुगन्धि द्रव्य निम्नलिखित हैं-कंकोल, कालीमिर्च, एला, लवंग, जातिफल, कपूर।

आठवाँ-अनर्थदण्डविरमण व्रत—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तं जहा—अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पाव-कम्मोवएसे ॥३९॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु चतुर्विधमनर्थदण्डं प्रत्याचष्टे, तद्यथा—अपध्यानाचरितं, प्रमादाचरितम्, हिंस्रप्रदानं, पापकर्मोपदेशम्।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर, चउव्विह—चार प्रकार के अणट्ठा-दड—अनर्थदण्ड का पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया, त जहा—वह इस प्रकार है—अवज्झाणायरिय—अपध्यानाचरित, पमायायरिय—प्रमादाचरित, हिंसप्पयाण—हिंस्र-प्रदान, पावकम्मोवएसे—और पाप कर्म का उपदेश।

भावार्थ—इसके अनन्तर आनन्द ने भगवान महावीर से कहा कि मैं अपध्याना-चरित—दुर्ध्यान करना, प्रमादाचरित—विकथा आदि प्रमाद का आचरण करना, हिंस्र प्रदान—हिंसक शस्त्रास्त्रों का वितरण तथा पाप कर्म का उपदेश करना—इन चार अनर्थदण्डों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—अणट्ठादड—इस पर वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं—'अणट्ठादण्ड, त्ति अनर्थेन धर्मार्थकामव्यतिरेकेण दण्डोऽनर्थदण्ड' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम किसी भी प्रयोजन के बिना जो दण्ड अर्थात् हिंसा की जाती है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। जीवन में अनुशासन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा कार्य न करें जिसमें बिना ही किसी उद्देश्य के दूसरे को हानि पहुँचे। मुनि अपने स्वार्थ के लिए भी किसी को हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु श्रावक को पारिवारिक जीवन के लिए ऐसे अनेक कार्य करने पडते हैं जिनमें एक का लाभ दूसरे की हानि पर निर्भर है। उसे चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियों को भी यथाशक्ति घटाता जाए। किन्तु ऐसे कार्यों को तो सर्वथा छोड दे, जिनमें उसका कोई लाभ नहीं है और व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुँचती है। इस प्रकार के कार्यों को निम्न लिखित चार कोटियों में गिनाया गया है—

(१) अपध्यानाचरित—इसका अर्थ है दुश्चिन्ता। वह दो प्रकार की है—१ आर्तध्यान अर्थात धन, सन्तान स्वास्थ्य आदि इष्ट वस्तुओं के प्राप्त न होने पर तथा रोग, दरिद्रता, प्रियवियोग आदि अनिष्ट के प्राप्त होने पर होने वाली मानसिक चिन्ता। २ रौद्रध्यान अर्थात क्रोध, शत्रुता आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना।

इन दोनों प्रकार के ध्यानों से प्रेरित होकर मन में दुश्चिन्ता अथवा दुर्विचार लाना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

(२) प्रमादाचरित—प्रमाद का अर्थ है—असावधानी या जीवन की शिथिलता। खाली बैठकर दूसरों की निन्दा करते रहना, इधर उधर की बातें करना, दूसरों की

पचायत करते रहना अपने कर्त्तव्य का ध्यान न रखना, आदि बातो से उत्पन्न मन, वचन तथा शरीर सम्बन्धी विकार इस कोटि मे आते हैं।

(३) हिंस्रप्रदान—इसका अर्थ है—शिकारी, चोर डाकू आदि को शस्त्र अथवा उन्हे अन्य प्रकार से सहायता देना, जिससे हिंसा को प्रोत्साहन मिले।

(४) पापकर्मोपदेश—इसका अर्थ है—दूसरो को पाप कर्म मे प्रवृत्त करना। उदाहरण के रूप मे शिकारी या चिडीमार को यह बताना कि अमुक स्थान पर हिरण अथवा पक्षियो का बाहुल्य है। अथवा किसी पशु अथवा मनुष्य को व्यर्थ ही कष्ट देने के लिए अन्य व्यक्तियो को उकसाना, बच्चो को किसी पागल अथवा घायल मनुष्य अथवा पशु पर पत्थर आदि मारने के लिए कहना, किसी अपरिचित के पीछे कुत्ते लगाना आदि बातें इस अनर्थदण्ड मे आती हैं।

मानव जीवन म नैतिक अनुशासन के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—इह खलु आणदाइ समणे भगव महावीरे आणद समणोवासग एव वयासी–एव खलु, आणदा! समणोवासएण अभिगय-जीवाजीवेण जाव अणइक्कमणिज्जेण सम्मत्तस्स पच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तजहा—सका, कखा, विइगिच्छा, पर-पासड-पससा, पर-पासड-सथवे ॥४०॥

(शेष - ४९ पर)

छाया—इह खलु आनन्द! इति श्रमणो भगवान् महावीर आनन्द श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—एव खलु आनन्द! श्रमणोपासकेनाभिगतजीवाजीवेन यावदनतिक्रमणीयेन सम्यक्त्वस्य पञ्चातिचारा प्रधाना (मुख्या) ज्ञातव्या न समाचरितव्या। तद्यथा—शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्ड प्रशसा, परपाषण्ड सस्तव।

शब्दार्थ—इह खलु—इसी प्रसग म आणदा इ समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने हे आनन्द! इस प्रकार सम्बोधित करते हुए आणद समणोवासग—आनन्द श्रमणोपासक को एव—इस भाँति वयासी—कहा आणदा—हे आनन्द! एव खलु—इस प्रकार अभिगयजीवाजीवेण जाव अणइक्कमणिज्जेण—जीव

तथा अजीव के स्वरूप को जानने वाले यावत् अनतिक्रमणीय (धर्म से विचलित न होने वाले) समणोवासएण—श्रमणोपासक को सम्मत्तस्स—सम्यक्त्व के पच—पाँच पेयाला—प्रधान अइयारा—अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए। त जहा—वे इस प्रकार हैं—सका—शङ्का, कखा—काक्षा, विइगिच्छा—विचिकित्सा धर्म साधन के प्रति (सशय) पर पासड पससा—पर-पाषण्ड अर्थात् अन्यमतालम्बी की प्रशसा पर-पासड सथवे—और परपाषण्डसस्तव अर्थात अन्यमतावलम्बी के साथ सम्पर्क या परिचय।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द श्रमणोपासक को इस प्रकार कहा—हे आनन्द! जीवाजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले तथा धर्म से विचलित न होने वाले और मर्यादा मे स्थिर रहने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच मुख्य अतिचार अवश्य जान लेने चाहिएँ परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए वे इस प्रकार हैं— (१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) परपाषण्डप्रशसा और (५) परपाषण्डसस्तव।

टीका—आनन्द द्वारा व्रत ग्रहण कर लेने पर उनमे दृढता लाने के लिए भगवान् ने प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार बताए। अतिचार का अर्थ है व्रत मे किसी प्रकार की शिथिलता या स्खलना। इससे अगली कोटी अनाचार की है, जहाँ व्रत टूट जाता है।

प्रस्तुत पाठ मे श्रमणोपासक अर्थात् श्रावक के दो विशेषण दिए हैं—

(१) अभिगयजीवाजीवेण—अर्थात जो जीव तथा अजीव का स्वरूप जानता है। जैन धर्म मे ९ तत्त्व माने गए हैं। उनमे प्रथम दो जीव और अजीव हैं। विश्व इन्ही दो तत्त्वों मे विभक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन विश्व के मूल मे परस्पर भिन्न दो तत्त्व मानता है। शेष सात तत्त्व हैं—पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। ये जीव की आध्यात्मिक चेतना और उसके शुभाशुभ परिणामों को प्रकट करते हैं। अत इनका ज्ञान भी जीव तत्त्व के ज्ञान के साथ अनिवार्य है। प्रस्तुत सूत्र मे जीव तथा अजीव मे सब को सम्मिलित कर लिया गया है।

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलकस्य प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा पेयाला ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्तपानव्यवच्छेद ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स—स्थूल पाणाइवायवेरमणस्स—प्राणातिपातविरमण व्रत के पच—पाच पेयला—प्रधान अइयारा—अतिचार समणोवासएण—श्रमणोपासक को जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। त जहा—वे इस प्रकार हैं—बधे—बध, वहे—वध, छविच्छेए—छविच्छेद अर्थात् अग विच्छेद, अइभारे—अतिभार भत्तपाणवोच्छेए—और भक्तपानव्यवच्छेद ।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाच मुख्य अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ बन्ध—पशु आदि को कठोर बधन से बाँधना। २ वध—घातक प्रहार करना। ३ छविच्छेद अग काट देना। ४ अतिभार—सामर्थ्य से अधिक भार लादना। ५ भक्तपान व्यवच्छेद—भोजन और पानी को रोकना या समय पर न देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार बताए गए हैं। इसके पहले सम्यक्त्व व्रत के अतिचार बताए गए थे। उसका सम्बन्ध श्रद्धा से है किन्तु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का शील अथवा आचार के साथ सम्बन्ध है।

थूलगस्स—(स्थूलकस्य) श्रावक को जीवन मे अनेक प्रवृत्तियाँ करनी पडती हैं, अत वह पूर्ण अहिंसा का पालन नही कर सकता। परिणाम स्वरूप स्थूल हिंसा का परित्याग करता है। जैन धर्म मे त्रस और स्थावर के रूप में जीवों को दो श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो के जीव स्थावर कहे जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चलने फिरने में असमर्थ हैं। इसके विपरीत चलने फिरने वाले जीव त्रस कहे गए हैं। श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करता है, स्थावरो की मर्यादा। त्रस जीवो मे भी जो अपराधी हैं या हानि पहुँचाने वाले हैं उनकी हिंसा का परित्याग नही होता। इसी प्रकार

यहाँ हिंसा का अर्थ है—किसी को मारने या हानि पहुँचाने की बुद्धि से मारना। यदि कोई कार्य भलाई के लिए किया जाता है, किन्तु उसमे किसी की हिंसा हो जाती है या हानि पहुँचती है तो श्रावक को उसका त्याग नही है। उदाहरण के रूप मे डाक्टर चिकित्सा के लिए रोगी का ओपरेशन करता है और उसमे रोगी को हानि पहुँच जाती है तो डाक्टर का व्रत भंग नही होता। व्रत भंग तभी होता है जब डाक्टर रोगी को हानि पहुँचाने की भावना से ऐसा करे। उपरोक्त छूटें होने के कारण श्रावक के व्रत को स्थूल कहा गया है। साधु के व्रत मे ये छूट भी नही होती।

सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात व्रत है,—इस व्रत के अतिचारो मे मुख्यतया पशु को सामने रखा गया है। उन दिनो दास प्रथा विद्यमान होने के कारण कभी कभी मनुष्यों के साथ भी पशु के समान बरताव किया जाता था।

(१) बंधे—इसका अर्थ है पशु अथवा दास आदि को ऐसा बाधना जिससे उसे कष्ट हो। यहा भी मुख्य दृष्टि विचारो की है। यदि चिकित्सा के निमित्त या संकट से बचाने के लिए पशु आदि को बाधा जाता है तो वह अतिचार नहीं है। शास्त्रकारो ने बन्ध के दो भेद किए हैं—अर्थ बन्ध और अनर्थ बन्ध। अनर्थ बन्ध तो हिंसा है ही और वह अनर्थदण्ड नामक आठवें व्रत मे आती है। अर्थबन्ध भी यदि क्रोध, द्वेष आदि क्रूर भावो के साथ किया गया है तो वह अतिचार है। अर्थबन्ध के पुन दो भेद हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। अग्नि आदि का भय उत्पन्न होने पर जिस बन्धन से सहज मुक्ति मिल सके उसे सापेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार मे नहीं आता। इसके विपरीत भय उत्पन्न होने पर भी जिस बन्धन से छुटकारा मिलना कठिन हो उसे निरपेक्ष बन्ध कहते हैं। ऐसा बन्धन बाधना अतिचार है।

(२) वहे (वध) यहाँ वध का अर्थ हत्या नहीं है। हत्या करनेपर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अत वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अङ्गोपाङ्गादि को हानि पहुँचे।

(३) छविच्छेए—इसका अर्थ है अङ्गविच्छेद अर्थात् क्रोध मे आकर किसी के अङ्ग को काट डालना अथवा अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि के कान, पूँछ काट देना।

*छविच्छेए—(सं०-छविच्छेद)—इसका साधारण अर्थ अंग विच्छेद किया जाता है किन्तु अर्ध मागधी मे छ या छवि के रूप मे कोई शब्द नही है जिसका अर्थ अंग होता हो। प्रतीत होता

(४) अइभारे (अतिभार) इसका अर्थ पशु या दास पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना काम लेना कि वह उसी में पिस जाए, यह भी अतिभार है। इतना ही नहीं परिवार के सदस्यों में भी किसी एक पर काम का अधिक बोझ डालना अतिचार है।

(५) भत्तपाणवोच्छेए (भत्तपानव्यवच्छेद) इसका स्थूल अर्थ है मूक पशु को भूखा तथा प्यासा रखना या उसे चारा एवं पानी समय पर न देना। नौकर आदि आश्रितों का समय पर वेतन न देना, उनके वेतन में अनुचित कटौती करना किसी की आजीविका में बाधा डालना, या अपने आश्रितों से काम अधिक लेना और उसके अनुरूप भोजन या वेतन न देना। खाद्य एवं पेय सामग्री को दूषित करना आदि भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं।

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की दृष्टि से इस व्रत का बहुत महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उक्त अतिचार खासतौर पर उस परिस्थिति को सामने रखकर बताए गए हैं, जब कि पशुपालन गृहस्थ जीवन का आवश्यक अङ्ग था। वर्तमान जीवन में पशुपालन गौण हो गया है और अत्याचार एवं क्रूरता के नए २ रूप सामने आ रहे हैं, अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवनचर्या के अनुसार इन अतिचारों का मूल हार्द ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे इनका दैनंदिन व्यवहार के साथ जीवित सम्बन्ध बना रहे।

सत्यव्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणतर च ण थूलगस्स मुसा-वाय-वेरमणस्स पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। त जहा—सहसा अब्भक्खाणे, रहसा अब्भक्खाणे, सदार-मत-भेए, मोसोवएसे, कूड-लेह-करणे ॥४२॥

है, यह शब्द 'छवविच्छेए' रहा होगा जिसका अर्थ है 'क्षतविच्छेद।' 'क्षत' का अर्थ है घाव और 'विच्छेद' का अर्थ अंगविच्छेद किया जा सकता है। पालि में छवि शब्द का अर्थ त्वचा है। यदि यह अर्थ माना जाए तो छविच्छेद का अर्थ होगा ऐसा घाव करना जिससे त्वचा का छेदन हो जाए। प्रस्तुत में यह अर्थ भी किया जा सकता है—सम्पादक।

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलकस्य मृषावादविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—सहसाभ्याख्यान, रहोऽभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरणम्।

शब्दार्थ—तयाणंतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स—स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। त जहा—वे इस प्रकार हैं—सहसा अब्भक्खाणे—सहसा अभ्याख्यान, रहसा अब्भक्खाणे—रहस्याभ्याख्यान, सदारमतभेए—स्वदारमन्त्रभेद, मोसोवएसे—मृषापदेश कूडलेहकरणे—और कूटलेखकरण।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर विना विचारे मिथ्या आरोप लगाना, २ रहोऽभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रकाशित करना। ३ स्वदारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त बात प्रकट करना। ४ मृषोपदेश—खोटी सलाह देना या मिथ्या उपदेश देना। ५ कूटलेखकरण—खोटा लेख लिखना अर्थात दूसरे को धोखा देने के लिये जाली दस्तावेज बनाना–

टीका—प्रस्तुत पाठ मे मृषावाद विरमण अर्थात् असत्यभाषण के परित्याग रूप व्रत के अतिचार बताए गए हैं इसमे भी स्थूल विशेषण लगा हुआ है अर्थात श्रावक स्थूल मृषावाद का परित्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो मे स्थूल मृषावाद का स्वरूप बताते हुए उदाहरण के लिए नीचे लिखी बात बताई हैं—

(१) कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध की बात-चीत करते समय कन्या की आयु तथा शरीर, वाणी एव मस्तिष्क सम्बन्धी दोषो को छिपाना अथवा उसकी योग्यता के सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति पूर्ण असत्य भाषण करना।

(२) गवालीक—पशु का लेन देन करते समय असत्य भाषण करना, जैसे कि थोडा दूध देने वाली गाए और भैस के लिए कहना कि अधिक दूध देती है अथवा बैल आदि के लिए कहना कि यह अधिक काम कर सकता है परन्तु वह उतनी क्षमता वाला नही होता, इत्यादि।

(३) भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के सम्बन्ध मे असत्य भाषण करना या वस्तु स्थिति को छिपाना।

(४) न्यासापहार—किसी के न्यास अर्थात् धरोहर मे रखी हुई वस्तु को हड़प जाना। किसी सस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए सगृहीत धन को उद्दिष्ट कार्य मे न लगाकर वैयक्तिक कार्यों मे खर्च करना भी न्यासापहार है। सार्वजनिक निधि से वैयक्तिक लाभ उठाना उसे वैयक्तिक प्रसिद्धि या अपने कुटुम्बियो को ऊँचा उठाने मे खर्च करना भी इसी के अन्तर्गत है।

(५) कूडसक्खिज्ज—(कूटसाक्ष्य) झूठी गवाही देना।

(६) सन्धिकरण—षडयन्त्र करना।

उपरोक्त कार्य स्थूल मृषावाद मे आते हैं और श्रावक के लिए सर्वथा वर्जित हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे व्यवहार शुद्धि पर पूरा बल दिया गया था। व्यापार या अन्य व्यवहार मे झूठ बोलने वाला श्रावक नही हो सकता था।

इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—

(१) सहसा अब्भक्खाणे—सहसा का अर्थ है बिना विचारे और अब्भक्खाणे *का अर्थ है दोषारोपण करना। यदि मिथ्यारोप विचारपूर्वक दूसरे को हानि* पहुँचाने के लिए किया जाता है तो वह अनाचार है, उससे श्रावक का व्रत टूट जाता है किन्तु उसे इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि बिना विचारे भी रोष या आवेश मे आकर अथवा अनायास ही किसी पर दोषारोपण न करे। यह भी एक प्रकार का दोष है और व्रत मे शिथिलता उत्पन्न करता है। यहाँ टीकाकार ने निम्नलिखित शब्द हैं—'सहसा अब्भक्खाणे, त्ति सहसा—अनालोच्याभ्याख्यानम्—असद्दोषाध्याक्षेपण सहसाभ्याख्यान यथा चौरस्त्वमित्यादि, एतस्य चातिचारत्व सहसाकारेणैव न तीव्रसक्लेशेन भणनादिति, *अर्थात् बिना विचार* हीं दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना सहसाभ्याख्यान है—जैसे तू चोर है इत्यादि। *यह कार्य सहसा अर्थात बिना विचारे किया जाने के कारण ही अतिचार कोटि मे* आता है। यदि तीव्र सक्लेश अर्थात् दुर्भावना पूर्वक किया जाए तो अतिचार नही रहता, अनाचार बन जाता है।

(२) रहसा अब्भक्खाणे—(रहोऽभ्याख्यान) इसका अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। पहला अर्थ है रहस्य अर्थात् किसी कि गुप्त बात को अचानक प्रकट करना। दूसरा अर्थ है किसी पर रहस्य अर्थात् छिप-छिपे षड्यन्त्र आदि करने का आरोप लगाना। उदाहरण के रूप में कुछ आदमी एकान्त में बैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, अचानक उन पर यह आरोप लगाना कि वे राज्यविरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे हैं या कहीं पर चोरी डकैती आदि के योजना बना रहे हैं। यह कार्य भी अतिचार वहीं तक है, जब मन में दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना न हो और अनायास ही किया जाए। मन में दुर्भावना रहने पर यह भी अनाचार बन जाता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं—'रहसा अब्भक्खाणे' त्ति रह एकान्तस्तेन हेतुना अभ्याख्यान रहोऽभ्याख्यानम्, एकान्तमात्रोपधितया च पूर्वस्माद्विशेष, अथवा सम्भाव्यमानार्थभणनादतिचारो न तु भङ्गोऽयमिति। रह का अर्थ है—एकान्त और उसी का आधार लेकर मिथ्यादोषारोपण करना रहोऽभ्याख्यान है। प्रथम अतिचार की अपेक्षा इसमें एकान्त का आधार रूप विशिष्टता है, अथवा इसमें लगाया जाने वाला आरोप सर्वथा निर्मूल नहीं होता। उसकी सम्भावना रहती है और इसी आधार पर इसकी गणना अतिचारों में की गई है। व्रत भङ्ग नहीं माना गया।

(३) सदारमंतभेए (स्वदारमन्त्रभेद)—अपनी स्त्री की गुप्त बातों को प्रकट करना। पारिवारिक जीवन में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिन्हे सत्य होने पर भी प्रकाशित नहीं किया जाता। उनके प्रकाशित करने पर व्यक्ति को दूसरों के सामने लज्जित होना पड़ता है, अत शेखी या आवेश में आकर घर एवं परिवार की गुप्त बातों को प्रकट करना अतिचार है।

(४) मोसोवएसे (मृषोपदेश) झूठी सलाह देना या उपदेश देना, इसके कई अर्थ हैं—१ पहला यह है कि जिस बात के सत्यासत्य अथवा हिताहित के विषय में हम स्वयं निश्चय नहीं है उसकी दूसरों को सलाह देना। २ दूसरा यह है कि किसी बात की असत्यता अथवा हानिकारिता का ज्ञान होने पर भी दूसरों को उसमें प्रवृत्त होने के लिए कहना। ३ तीसरा रूप यह है कि वास्तव में मिथ्या एवं अकल्याण-कारी होने पर भी हम जिस बात को सत्य एवं कल्याणकारी मानते हैं उसमें हित बुद्धि से दूसरे को प्रवृत्त करना। तीसरा रूप दोष कोटि में नहीं आता। क्योंकि उसमें उपदेश देने वाले की ईमानदारी एवं हितबुद्धि पर आक्षेप नहीं आता। दूसरा रूप अना-

चार है उससे व्रत भङ्ग हो जाता है। पहला रूप अतिचार है। उसके अतिरिक्त किसी को हिंसा-पूर्ण कार्यों में प्रवृत्त करना प्रथम व्रत के अतिचारों में आ चुका है।

५ कूडलेहकरणे (कूटलेखकरण) झूठे लेख लिखना तथा जाली हस्ताक्षर बनाना। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'कूडलेहकरणे, त्ति असदभूतार्थस्य लेखस्य विधानमित्यर्थः। एतस्य चातिचारत्व प्रमादादिना दुर्विवेकत्वेन वा माया मृषावाद प्रत्याख्यातोऽयं तु कूटलेखो, न मृषावादनमिति भावयत इति। तथा कूटम् असदभूत वस्तु तस्य लेख लेखन, तद्रूपा क्रिया कूटलेखक्रिया—अन्यदीया मुद्राद्यङ्कितो लिपि हस्तादिकौशलवशादक्षरशोऽनुकृत्य परवञ्चनार्थं सयथा तदाकारतया लेखनमित्यर्थः अनाचारातिचारौ तु प्राग्वदेवाभोगानाभोगाभ्यामवगन्तव्यौ'—अर्थात्—कूटलेखकरण—झूठा लेख लिखना। यह अतिचार तभी है जब असावधानी या विवेकहीनता के रूप में किया गया हो। अर्थात् श्रावक यह सोचने लगे कि मैंने झूठ बोलने का त्याग किया है लिखने का नहीं यह विवेकहीनता है। अथवा कूट का अर्थ है अविद्यमान वस्तु। उसका लिखना अर्थात् जाली दस्तावेज बनाना या किसी के नाम की मुद्रा अथवा मोहर बनाना। दूसरे को धोखा देने के लिए जाली हस्ताक्षर बनाना आदि। पूर्वोक्त अतिचारों के समान प्रस्तुत कार्य भी यदि असावधानी, विवेकहीनता अथवा अन्य किसी रूप में अनिच्छापूर्वक किया जाता है तो अतिचार है और यदि दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए इच्छापूर्वक किया जाए तो अनाचार है।

अस्तेय व्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणतर च णं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। त जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध रज्जाइक्कमे, कूड-तुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिरूवग ववहारे॥ ४३॥

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलकस्यादत्तादानविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुलाकूटमान, तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स—स्थूल

अदत्तादान विरमणव्रत के पच अइयारा—पाच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। त जहा—वे इस प्रकार हैं— तेणाहडे—स्तेनाहृत, तक्करप्पओगे—तस्करप्रयोग, विरुद्धरज्जाइक्कमे—विरुद्ध राज्यातिक्रम, कूडतुलाकूडमाणे—कूट-तुला, कूट मान, तप्पडिरूवगववहारे—और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई हुई वस्तु को स्वीकार करना। (२) तस्करप्रयोग—व्यवसाय के रूप म चोरो को नियुक्त करना। (३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधी राजाओ द्वारा निषिद्ध सीमा का उल्लघन करना। अर्थात् परस्पर विरोधी राजाओ ने अपनी २ जो सीमा निश्चित कर रखी हैं उसे लाघ कर दूसरे की सीमा मे जाना। यहाँ साधारणतया 'राजविरुद्ध काय करना' ऐसा अर्थ भी किया है। किन्तु वह मूल शब्दो से नहीं निकलता। टीका मे भी यह अर्थ नही है। (४) कूटतुला—कूटमान—खोटा तोलना और खोटा मापना। (५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—समिश्रण के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से नकली वस्तु को असली के रूप मे चलाना।

टीका—अदत्तादान का अर्थ है बिना दी हुई वस्तु को लेना। अन्य व्रतो के समान यहाँ भी श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है, सूक्ष्म का नहीं। शास्त्रो मे स्थूल अदत्तादान के नीचे लिखे रूप बताए गए हैं—

(१) सध लगाकर चोरी करना। (२) बहुमूल्य वस्तु को बिना पूछे उठाना। (३) पथिको को लूटना गाठ खोलकर या जेब काटकर किसी की वस्तु निकालना। इसी प्रकार ताला खोलकर या तोडकर दूसरे की वस्तु लेना। डाके डालना, गाय पशु, स्त्री आदि को चुराना, राजकीय कर की चोरी करना तथा व्यापार मे बेईमानी करना आदि सभी स्थूल चोरी के अन्तगत हैं।

प्रस्तुत व्रत के अतिचारो मे चोरी का माल खरीदना तथा चोरो का नियुक्त करके व्यापार चलाना तो सम्मिलित है ही, माप तोल मे गडबड करना तथा असली वस्तु दिखाकर नकली देना या बहुमूल्य वस्तु का मिश्रण करना भी चोरी माना

गया है। प्रतीत होता है उन दिनो भी व्यापार मे इस प्रकार की बेइमानी प्रचलित होगी। इसलिए अतिचारो में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

स्वदारसन्तोष व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं—जहा,इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, परविवाहकरणे, काम-भोगतिव्वाभिलासे ॥ ४४ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसन्तोषिकस्य पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या तद्यथा—*इत्वरिकपरिगृहीतागमनम, अपरिगृहीतागमनम्, अनङ्ग क्रीडा, परविवाहकरणम्, कामभोगतीव्राभिलाष* ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर सदारसंतोसिए—स्वदारसन्तोष रूप व्रत के पंच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिए। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—इत्तरियपरिग्गहियागमणे—इत्वरिकपरिगृहीतागमन, अपरिग्गहियागमणे—अपरिगृहीतागमन अणंगकीडा—अनङ्गक्रीडा, परविवाहकरणे—परविवाह करण कामभोगतिव्वाभिलासे—और कामभोगतीव्राभिलाप।

भावार्थ—तदनन्तर स्वदार सन्तोषव्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ। परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ इत्वरिक परिगृहीतागमन—कुछ समय के लिए पत्नी के रूप मे स्वीकार की हुई स्त्री के साथ सहवास करना। २ *अपरिगृहीतागमन—अपरिगृहीता अर्थात् वेश्या, कन्या, विधवा आदि अविवाहिता* स्त्री के साथ सहवास करना। ३ अनङ्गक्रीडा—अर्थात अप्राकृतिक मैथुन। ४ परविवाहकरण अपनी सन्तान एवं स्वाश्रित कुटम्बियो के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुषो के विवाह करना, पशुओ का परस्पर सम्बन्ध करना तथा दूसरों को व्यभिचार मे प्रवृत्त करना। ५ कामभोगतीव्राभिलाप—कामभोग या विषयतृष्णा की उत्कटता।

टीका—श्रावक का प्रथम व्रत मानवता से सम्बन्ध रखता है। दूसरा और तीसरा व्यवहार शुद्धि से और चौथा सामाजिक सदाचार से। यह व्रत दो प्रकार से अङ्गीकार किया जाता था—१ स्वदारसन्तोष के रूप मे तथा २ परदार-

विवर्जन के रूप मे। स्वदारसन्तोष के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति अन्य समस्त स्त्रियो का परित्याग करता है और यह उत्तम कोटि का व्रत माना जाता है। द्वितीय अर्थात् परदार विवर्जन के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति दूसरे की विवाहिता स्त्री के साथ सम्पर्क न करने का निश्चय करता है। आनन्द ने इसे प्रथम अर्थात स्वदार सन्तोष के रूप मे अङ्गीकार किया।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) इत्तरियपरिग्गहियागमणे—(इत्वरिकपरिगृहीतागमन) इसका अर्थ कई प्रकार से किया जाता है—(१) थोडे समय के लिए पत्नी के रूप मे स्वीकार की गई स्त्री के साथ सहवास करना। (२) अल्पवयस्का पत्नी के साथ सहवास करना।* (३) इत्वरिक शब्द संस्कृत की 'इण्' गतौ धातु से बना है। इसका अर्थ है—चला जाने वाला, स्थायी न रहने वाला। गत्वर इसी का पर्याय है। यहाँ इत्वरिका या इत्वरी का अर्थ है जो स्त्री कुछ समय पश्चात् चली जाने वाली है। साथ ही परिगृहीता है अर्थात् जितनी देर रहेगी पत्नी मानी जाएगी और उस समय वह अन्य किसी के साथ सम्पर्क न रखेगी। प्रतीत होता है उन दिनो इस प्रकार की प्रथा रही होगी। आजकल भी बहुत से सम्पन्न व्यक्ति वेश्या, अभिनेत्री या किसी अन्य को कुछ काल के लिए अपने पास रख लेते हैं और उस समय उसका अन्य किसी के साथ सम्पर्क नही होता। यह भी व्रत का अतिचार है।

(२) अपरिग्गहियागमणे—(अपरिगहीतागमन) अपरिगृहीता का अर्थ है—वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। काव्यशास्त्र मे तीन प्रकार की नायिकाओ का वर्णन है—(१) स्वीया—अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री। (२) परकीया अर्थात् दूसरे की विवाहिता पत्नी और सामान्या अर्थात् वेश्या आदि जिस पर किसी का अधिकार नही है। यहाँ अपरिगृहीता शब्द से तृतीय प्रकार लिया गया है।

(३) अणङ्गकीडा—स्वाभाविक अङ्गो से काम न लेकर काम क्रीडा के लिए चर्म, रबर आदि के उपकरणो से काम लेना अथवा कामान्ध हो कर मुखादि मे विषय वासना को शान्त करना या किसी स्वजातीय से सभोग करना। यह अतिचार चरित्र की दृष्टि से खतरा है, इससे व्यभिचार को पोषण मिलता है, अत गृहस्थ के जीवन की दुष्प्रवृत्ति है।

*पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज ने इसका अर्थ वाग्दत्ता के साथ सहवास करना भी किया है।

(४) परविवाहकरणे—गृहस्थ मे रहकर व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यो का विवाह-सस्कार करना ही पडता है, इसके लिए गृहस्थी को इसकी छूट है। परन्तु इतर लोगो के रिश्ते-सम्बन्ध करवाना या उनको प्रेरित करना कि आपका लडका अथवा लडकी विवाह योग्य हो गए हैं इनकी शादी करदो। ऐसा करने से यदि लडके अथवा लडकी का आपस मे अयोग्य सम्बन्ध हो जाए तो उसका रिश्ता कराने वाले को ही उपालम्भ मिलता है कि अमुक ने यह सम्बन्ध स्थापित किया है। इस लिए यह श्रावक व्रत का अतिचार है। अत गृहस्थ को ऐसे काय से बचना चाहिए।

(५) काम भोग तिव्वाभिलासे—गृहस्थ मे रहकर वेद को उपशमन करने के लिए विवाह सस्कार किया जाता है। परन्तु कामासक्त होकर किसी कामजनक औषध, वाजिकरण आदि का प्रयोग करना अथवा किसी मादक द्रव्य का आसेवन करना जिससे मानसिक अभिलाषाएँ तीव्र हो। इस प्रकार आचरण करना श्रावक के व्रत मे अतिचार है।

इच्छा परिमाण व्रत के पाच अतिचार

मूलम्—तयाणतर च ण इच्छा-परिमाणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तजहा—खेत्तवत्थु-पमाणाइक्कमे, हिरण्ण सुवण्ण-पमाणाइक्कमे, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्न-पमाणाइक्कमे, कुविय-पमाणाइक्कमे ॥४५॥

छाया—तदनन्तर च खलु इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, कुप्यप्रमाणातिक्रम।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को इच्छापरिमाणस्स—इच्छापरिमाण व्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे—क्षेत्र वास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धणधन्नपमाणाइक्कमे—धन्नधान्यप्रमाणातिक्रम, दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे—द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, कुवियपमाणाइक्कमे—कुप्यप्रमाणातिक्रम।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक को इच्छापरिमाण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—१ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और गृह सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम—सोना-चाँदी आदि मूल्यवान धातुओ की मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—दास-दासी तथा पशु सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण। ४ धनधान्यप्रमाणातिक्रमण—मणि, मुक्ता एव पण्य आदि धन तथा गेहूँ चावल आदि अनाज सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ५ कुप्यप्रमाणातिक्रम—वस्त्र, पात्र, शय्या, आसन आदि गृहोपकरण सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन।

टीका—पाचवें अणुव्रत का नाम है—इच्छा परिमाण व्रत, इच्छा आकाश के तुल्य अनन्त है, उसकी कोई सीमा ही नही है, अत उसे सीमित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। आशा, तृष्णा, इच्छा ये तीनो शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इच्छा से ही परिग्रह का निर्माण होता है, अत इसे सीमित किए बिना व्यक्ति इस व्रत का आराधक नही हो सकता। जो अपने पास कनक-कामिनी है या सचित्त अचित्त परिग्रह है, उस पर ममत्व करना। जो अप्राप्त वस्तु है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा दौड धूप करती है। गृहस्थावस्था मे इच्छा अनिवार्य उत्पन्न होती है। अणुव्रती श्रावक मे आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही इच्छा पैदा होती है, शेष इच्छाओ का निरोध हो जाता है, उस ससीम इच्छा से जो अप्राप्त की प्राप्ति होती है, उससे सग्रह बुद्धि पैदा होती है, सगृहीत पदार्थों पर ममत्व हो जाता है। अत सिद्ध हुआ परिग्रह तीन प्रकार का होता है। भगवान महावीर ने सग्रह और ममत्व रूप परिग्रह का गृहस्थ के लिए सर्वथा निषेध नही किया, सबसे पहले इच्छा को परिमित करने के लिए उपदेश दिया है, ज्यो ज्यो इच्छा कम होती जाती है त्यो त्यो सग्रह और ममत्व भी कम होता जाता है।

जो नि स्पृह मुनिवर होते हैं उनमे न सग्रह बुद्धि होती है और न ममत्व बुद्धि ही, अत सिद्ध हुआ परिग्रह का मूल कारण इच्छा ही है। जिसने इच्छा को सीमित कर दिया, उसके लिए यह अधिक श्रेय है कि जिन वस्तुओ पर ममत्व है उनमे से प्रतिदिन शासनोन्नति, श्रुतसेवा, जनसेवा, सघसेवा, इत्यादि शुभ कार्यों मे न्याय नीति से उपर्जित द्रव्य को लगाता रहे। अनावश्यक पदार्थों का सग्रह करना श्रावक के लिए निषिद्ध है। इच्छा को, सग्रह को, ममत्व को निरन्तर न्यून करते रहने

से देशसेवा, राष्ट्रसेवा, सहानुभूति, स्वकल्याण तथा परकल्याण स्वयमेव हो जाता है। दुःख, क्लेश, हैरानी, परेशानी ये सब कुछ परिग्रह से सम्बन्धित हैं। मर्यादित वस्तुओं को बढाना नहीं और उनमें से भी घटाते रहना ये दोनों अपरिग्रहवाद के ही पहलू हैं। नौ प्रकार के परिग्रह की जैसी जैसी जिसने मर्यादा की है उसका अतिक्रम न करना यह सन्तोष है, उसमें से भी न्यून करते रहना यह उदारता है। ये दोनों गुण सर्वोत्तम हैं। जैसे रोगों से शरीर दूषित हो जाता है, वैसे ही अतिचारों से व्रत दूषित हो जाता है। अब इच्छापरिमाण व्रत के अतिचारों का विवेचन किया जाता है, जैसे कि—

(१) खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे—'खेत्त' का अर्थ है खेती करने की भूमि अर्थात् श्रावक ने कृषि के लिए जितनी भूमि रखी है उसका अतिक्रमण करना अतिचार है। और 'वत्थु' का अर्थ है निवास के योग्य भवन उद्यान आदि जो श्रावक अपने उपयोग में लाता है उससे अधिक मकान हवेली अपने पास रखना अतिचार है।

(२) हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—सोना चांदी आदि बहुमूल्य धातुएँ। मोहर रुपया आदि प्रचलित सिक्का भी इसी में आता है।

(३) दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे—द्विपद का अर्थ है—दो पैर वाले अर्थात् मनुष्य और चउप्पय का अर्थ है—चतुष्पद अर्थात् पशु। यहाँ मनुष्य को भी सम्पत्ति में गिना गया है। उन दिनों दास-प्रथा प्रचलित थी और मनुष्य भी सम्पत्ति के रूप में रखे जाते थे। उनका क्रय-विक्रय भी होता था।

(४) धणधन्नपमाणाइक्कमे—इसमें मणि मुक्ता आदि रत्न जाति और पण्य विक्रयार्थ वस्तुएँ धन हैं। और गेहूँ, चावल आदि जितने भी अनाज हैं, वे सब धान्य हैं।

(५) कुवियपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—गृहोपकरण, यथा शय्या आसन वस्त्र पात्र आदि घर का सामान, इनके विषय में जो मर्यादा श्रावक ने की है, उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है। इस व्रत का मूल भाव इतना ही है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकता से अधिक न तो भूमि, मकान आदि रखे, न धन-धान्य का संग्रह करे और न ही मर्यादा से अधिक पशु आदि ही रखे। नैतिक दृष्टि से भी सर्व साधारण का उतनी ही सामग्री रखनी चाहिए जिससे जनता में अपवाद न हो और अपना काम भी सुचारु रूपेण चल सके।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण दिसिव्वयस्स पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। त जहा—उड्ढ-दिसि-पमाणाइक्कमे, अहो-दिसि-पमाणाइक्कमे, तिरिय-दिसि-पमाणाइक्कमे, खेत्त-वुड्ढी, सइअतरद्धा ॥४६॥

छाया—तदनन्तर च खलु दिग्व्रतस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम, अधोदिकप्रमाणातिक्रम, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तर्धानम।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर दिसिव्वयस्स—दिग्व्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए त जहा—वे इस प्रकार हैं—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम, अहोदिसिपमाणाइक्कमे—अधोदिक्प्रमाणातिक्रम, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे—तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम, खेत्तवुड्ढी—क्षेत्रवृद्धि, सइअतरद्धा—और स्मृत्यन्तर्धान।

भावार्थ—इसके अनन्तर दिग्व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ अधोदिक्प्रमाणातिक्रम—नीचे की ओर दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं से सम्बन्ध रखने वाली मर्यादा का उल्लङ्घन। ४ क्षेत्रवृद्धि—व्यापार आदि प्रयोजन के लिये मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ना। ५ स्मृत्यन्तर्धान—दिशा मर्यादा की स्मृति न रखना।

टीका—पाँचवें इच्छापरिमाणव्रत मे परिग्रह सम्बन्धी मर्यादा की जाती है। प्रस्तुत व्रत मे व्यापार, सैनिक अभियान अथवा अन्य प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्यों के लिये क्षेत्र की मर्यादा की गई है। और उस मर्यादा का अतिक्रमण अतिचार माना गया है।

आनन्द ने जब व्रतो को स्वीकार किया उस समय इस व्रत का निर्देश नहीं

आया है। इसी प्रकार आगे बताए जाने वाले चार शिक्षापदो का निरूपण भी नही आया। सामायिक आदि शिक्षाव्रत समस्त जीवन के लिये नही होते। ये घडी, दो घडी या दिन-रात आदि निश्चित काल के लिए होते हैं। सम्भवतया इसी कारण इनका अहिंसा, सत्य आदि यावज्जीवन सम्बन्धी व्रतो के साथ निर्देश नही आया। इसी प्रकार प्रतीत होता है आनन्द ने उस समय दिग्व्रत भी अङ्गीकार नही किया था। इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध विदेशो मे जाकर व्यापार करने वाले सार्थवाह आदि अथवा सैनिक अभियान करने वाले राजाओ के साथ है। आनन्द के पास यद्यपि सामान ढोने एव यात्रा के लिए बैलगाडियाँ तथा नौकाएँ भी थी। फिर भी इस प्रकार का कोई निर्देश नही मिलता कि वह सार्थवाह के रूप मे स्वय व्यापार करने के लिए विदेशो मे जाया करता था। अत सम्भव है इस व्रत की तत्काल आवश्यकता न प्रतीत हुई हो।

यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द है—"दिग्व्रत शिक्षाव्रतानि च यद्यपि पूर्व नोक्तानि, तथापि तत्र तानि द्रष्टव्यानि। अतिचारभणनस्यान्यथा निरवकाशता स्यादिहेति। कथमन्यथा प्रागुक्त "दुवालसविह सावयधम्म पडिवज्जिस्सामि" इति, कथ वा वक्ष्यति "दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ" इति। अथवा सामायिकादीनामित्वरकालीनत्वेन—प्रतिनियतकालकरणीयत्वान्न तदैव तान्यसौ प्रतिपन्नवान, दिग्व्रत च विरतेरभावाद्। उचितावसरे तु प्रतिपत्स्यत इति भगवतस्तदतिचारवर्जनोपदेशनमुपपन्नम्। यच्चोक्त 'द्वादशविध गृहिधर्म प्रतिपत्स्ये' यच्च वक्ष्यति "द्वादशविध श्रावकधर्म प्रतिपद्यते", तद्यथाकाल तत्करणाभ्युपगमादनवद्यमवसेयमिति।"

इसका भाव यह है कि—दिग्व्रत तथा शिक्षाव्रत यद्यपि पहिले नही कहे गए फिर भी उनका वहाँ अनुसधान कर लेना चाहिए। अन्यथा यहा अतिचारो का प्रतिपादन निरर्थक हो जाएगा। इसके बिना पूर्वोक्त "मै बारह प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार करूँगा" तथा आगे कहा जाने वाला "बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार किया" ये कथन सगत नही होते। अथवा सामायिक आदि व्रत मर्यादित काल के लिए होते हैं और उन्हे उपयुक्त नियत समय पर ही ग्रहण किया जाता है। अत उस समय उन्हे ग्रहण नही किया। इसी प्रकार विरति का अभाव होने के कारण दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नही किया गया। फिर भी भविष्यकाल में ग्रहण करेगा, इस लिए उक्त व्रतो के अतिचारो का निरूपण करना भगवान् ने आव

श्यक समझा। ऐसी स्थिति मे जो यह कहा गया कि 'बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार करूँगा' अथवा आगे आने वाला कथन कि 'उसने बारह प्रकार के श्रावम धर्म को स्वीकार किया' यथा समय व्रत अङ्गीकार करने की दृष्टि से समझना चाहिए। अत इसमे किसी प्रकार को विसगति नही है।

उड्ढदिसि—यहाँ दो प्रकार का पाठ मिलता है। 'उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे' तथा 'उड्ढदिसाइक्कमे' दोनो का भावाथ एक ही है। यहा भी अतिक्रम यदि इच्छा पूवक किया जाता है तो वह अनाचार है। ऐसी स्थिति मे व्रत टूट जाता है। अत अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण होने वाला अतिक्रम ही अतिचार के अ तगत है।

'खेत्तवुड्ढि'—इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं। "एकतो योजन-शतपरिमाणमभिगृहीतम यतो दश योजना यभिगृहीतानि, ततश्च यस्या दिशि दश योजनानि तस्या दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीया यानि दश योजनानि तत्रैव स्वबुध्या प्रक्षिपति, सवर्धयत्येकत इत्यर्थ। अय चातिचारो व्रतसापेक्षत्वादव-सेय।" अर्थात् मान लीजिए किसी ने एक ओर सौ योजन तथा दूसरी ओर दस योजन की मर्यादा की है। उसे दस योजन वाली दिशा मे आगे बढने की आव-श्यकता हुई तो उसने सौ योजन वाली दिशा मे दस योजन कम करके उन्हे दस योजन वाली दिशा के साथ मिला दिया। इस प्रकार हेर-फेर करना 'खेतवुड्ढि' है।

'सइअ तरद्धा'त्ति–इस पर वत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"स्मृत्य तर्धा—स्मृत्यन्तर्धानं स्मृतिभ्रंश। किं मया व्रत गृहीत, शतमर्यादया पञ्चाशन्मर्यादया वा, इत्येवमस्मरणे योजनशतमर्यादायामपि पञ्चाशतमतिक्रामतोऽयमतिचारोऽवसेय इति।" अर्थात् 'स्मृत्यन्तर्धान' का अथ है व्रत मर्यादा का विस्मृत होना। इस प्रकार का सन्देह होना कि मैंने सौ योजन की मर्यादा की है अथवा पचास योजन की? इस प्रकार विस्मृत होने पर पचास योजन का अतिक्रमण करने पर भी दोष लगता है। भले ही वास्तविक मर्यादा सौ योजन की हो।

उपभोगपरिभोग व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण उवभोग-परिभोगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—भोयणओ य, कम्मओ य, तत्थ ण भोयणओ समणोवासएण पच अइयारा

जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—सचित्ताहारे सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्प-उलिओसहि भक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया' तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ ण समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइ जाणियव्वाइ, न समायरियव्वाइ, त जहा—इगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे, दत वाणिज्जे, लक्खा-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, विस-वाणिज्जे, केस वाणिज्जे, जत-पीलण-कम्मे, निल्लछण कम्मे, दवग्गि-दावणया, सर-दह-तलाय सोसणया, असई-जण-पोसणया ॥ ४७ ॥

छाया—तदनन्तर च खलु उपभोग-परिभोगो द्विविध प्रज्ञप्त, तद्यथा—भोजनत कर्मतश्च, तत्र खलु भोजनत श्रमणोपासकेन पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वौषधिभक्षणता, दुष्पक्वौषधिभक्षणता, तुच्छौषधिभक्षणता।

कर्मत खलु श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि तद्यथा—१ अगारकर्म, २ वनकर्म, ३ शाकटिककर्म, ४ भाटीकर्म, ५ स्फोटन कर्म, ६ दन्त वाणिज्यम्, ७ लाक्षा वाणिज्यम, ८ रस वाणिज्यम्, ९ विष वाणिज्यम, १० केश वाणिज्यम्, ११ यत्रपीडन कर्म, १२ निर्लाञ्छन कर्म, १३ दावाग्निदापनम, १४ सरोह्रदतडाग शोषणम्, १५ असतीजन पोषणम्।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर उवभोग परिभोगे—उपभोग परिभोग दुविहे—दो प्रकार का पण्णत्ते—कहा गया है, त जहा—वह इस प्रकार है, भोयणओ य कम्मओ य—भोजन से और कर्म से, तत्थ ण—उनमे भोयणओ—भोजन मे अर्थात् भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग के पच अइयारा—पाँच अतिचार समणोवासएण—श्रमणोपासक को जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, त जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्ताहारे—सचित्ताहार, सचित्तपडिबद्धाहारे—सचित्तप्रतिबद्धाहार, अप्पउलिओसहिभक्खणया अपक्व औषधि—वनस्पति का खाना, दुप्पउलिओसहिभक्खणया—दुष्पक्व ओषधि का खाना, तुच्छोसहिभक्खणया—तुच्छ ओषधि का खाना, कम्मओण—कर्म से समणोवासएण—श्रमणोपासक को पणरस—पन्द्रह कम्मादाणाइ—कर्मादान जाणियव्वाइ—जानने चाहिएँ न समायरियव्वाइ—आचरण न करने चाहिएँ, त जहा—वे इस प्रकार हैं—

इगालकम्मे—अगारकम, वणकम्मे—वनकम, साडीकम्मे—शाकटिककम, भाडी-कम्मे—भाटीकम, फोडीकम्मे—स्फोटीकर्म, दंतवाणिज्जे—दन्त वाणिज्य, लक्ख-वाणिज्जे—लाक्ष वाणिज्य, रसवाणिज्जे—रस वाणिज्य, विसवाणिज्जे—विष वाणिज्य केसवाणिज्जे—केश वाणिज्य, जंतपीलणकम्मे—यन्त्रपीडन कम, निल्लछणकम्मे—निर्लाञ्छन कम, दवग्गिदावणया—दावाग्निदापन सरदहतलाय सोसणया—सरोह्रदतडाग शोषण, असईजणपोसणया—असतीजन पोषण।

भावार्थ—तदनन्तर उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण है, वह दो प्रकार का है—(१) भोजन से और (२) कम से। प्रथम भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पाच अतिचार हैं—(१) सचित्ताहार-सचित्त अर्थात् सजीव वस्तु खाना। (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सजीव के साथ सटी हुई वस्तु खाना। (३) अपक्वौषधिभक्षणता–कच्ची वनस्पति अर्थात् फल शाक आदि खाना। (४) दुष्पक्वौषधिभक्षणता–पूरी न पकी हुई वनस्पति खाना। (५) तुच्छौषधि भक्षणता अर्थात् कच्ची मूँगफली आदि खाना।

कम सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पन्दरह कर्मादान श्रावक को जानने चाहिएँ परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, वे इस प्रकार हैं—(१) अगार कम—कोयले बनाकर बेचना तथा जिनमे कोयलो का अधिक उपयोग करना पडे, ऐसे व्यापार करना। (२) वन कम—वन काटने का व्यापार। (३) शाकटिक कम—गाडी वगैरह बनाने तथा बेचने का व्यापार। (४) भाटी कर्म—गाडी वगैरह भाडे पर चलाने का व्यापार। (५) स्फोटी कम—जमीन खोदने तथा पत्थर आदि फाडने का व्यापार। (६) दन्त वाणिज्य—हाथी दात आदि का व्यापार। (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख का व्यापार। (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि रसो का व्यापार। (९) विष वाणिज्य—सोमल आदि विषो का व्यापार। (१०) केश वाणिज्य—केशो का व्यापार। (११) यन्त्रपीडन कम—धानी कोल्हू आदि चलाने का व्यापार। (१२) निर्लाञ्छन कम—बैल आदि को बधिया करने का व्यापार। (१३) दावाग्निदापन—क्षेत्र साफ करने आदि के लिए जगल मे आग लगाने का व्यापार। (१४) सरोह्रद तडाग शोषण—सरोवर, झील तथा तालाब आदि को सुखाने का व्यापार। (१५) असतीजन पोषण—वेश्यादि दुराचारिणी स्त्रियों अथवा शिकारी कुत्ते बिल्ली आदि हिंसक प्राणियों को रख कर व्यभिचार अथवा शिकार आदि का व्यापार।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार बताए गए हैं और उन्हे दो भागो मे विभक्त किया गया है—(१) भोजन की अपेक्षा से और (२) कर्म की अपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से—

(१) 'सचित्ताहारे'—इसका शब्दत अर्थ है–किसी भी सचित्त वस्तु का आहार करना, किन्तु श्रावक के लिए सचित्त भोजन का सर्वथा त्याग अनिवार्य नहीं है, वह अपनी मर्यादा के अनुसार पानी, फल, आदि सचित्त वस्तुओं का सेवन कर सकता है। ऐसी स्थिति मे यहाँ सचित्ताहार का अर्थ यही समझना चाहिए कि सचित्त वस्तुओ की जो मर्यादा स्वीकृत की है उसको अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण उल्लङ्घन होना अथवा जिस व्यक्ति ने सचित्त वस्तुओ का पूर्णतया त्याग कर रखा है उसके द्वारा असावधानी के कारण नियमोल्लङ्घन होना। परन्तु जान बूझकर मर्यादा तोड़ने पर तो अतिचार के स्थान पर अनाचार हो जाता है और व्रत टूट जाता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सचित्ताहारे' त्ति सचेतनाहार, पृथिव्यप्काय वनस्पति काय जीव शरीरिणा सचेतनानामभ्यवहरणमित्यय, अय चातिचार कृत-सचित्ताहार प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽनाभोगादिना प्रत्याख्यात सचेतन भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्त्तमानस्य।"

(२) सचित्तपडिबद्धाहारे—दूसरा अतिचार सचित्तप्रतिबद्धाहार है, इसका अर्थ है, ऐसी वस्तु को खाना जो सचित्त के साथ सटी या लगी हुई है जैसे वृक्ष के साथ लगी हुई गोंद या आम खजूर आदि जहाँ केवल गुठली सचित्त होती है और गुद्दा, रस आदि बाहर का भाग अचित्त। यह अतिचार भी उसी व्यक्ति की दृष्टि से है, जिसने सचित्त वस्तुओ का परित्याग या मर्यादा कर रखी है। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सचित्तपडिबद्धाहारे' त्ति सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणम, अथवा सचित्ते—अस्थिके प्रतिबद्धयत्पक्वमचेतन खर्जूरफलादि तस्य सास्थिकस्य कटाहमचेतन भक्षयिष्यामीतरत्परिहरिष्यामि इति भावनया मुखे क्षेपणमिति, एतस्य चातिचारत्व व्रतसापेक्षत्वादिति।"

(३) अप्पउलिओसहि भक्खणया—(अपक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है कच्चे फल या थोड़े पके हुए चावल, चने (छोलिया) आदि खाना। यहाँ ओषधि के स्थान पर ओदन का पाठ भी मिलता है, ओदन पके हुए चावलो को कहते हैं। यहाँ इसका अर्थ होगा—कच्चे या आधे पके हुए चावल खाना।

(४) दुप्पउलिओसहि-भक्खणया—(दुष्पक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है देर मे पकने वाली ओषधियो को पकी जान कर कच्ची निकाल लेना और उनका सेवन करना।

(५) तुच्छोसहि-भक्खणया (तुच्छौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है ऐसी वस्तुओ को खाना जिनमे अधिक हिंसा होती हो जैसे—चौलाई, खसखस आदि के दाने।

ऊपर बताये गये पाच अतिचार उपलक्षणमात्र हैं। श्रावक ने भोजन विषयक जो मर्यादा की है उनका असावधानी के कारण किसी प्रकार उल्लङ्घन होना, इस व्रत का अतिचार है। श्रावक के प्राय रात्रि भोजन का भी परित्याग होता है, अत तत्सम्बन्धी अतिचार भी उपलक्षणत्वेन इसी मे आ जाते हैं। यहाँ वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—"इह च पञ्चातिचारा इत्युपलक्षणमात्रमेवावसेय यतो मधु-मद्य मास रात्रिभोजनादि व्रतिनामनाभोगातिक्रमादिभिरनेके ते सम्भवन्तीति।"

पन्द्रह कर्मादान—भोजन सम्बन्धी अतिचार बताने के पश्चात् शास्त्रकार ने कर्म सम्बन्धी अतिचार गिनाएँ हैं। उनकी सख्या १५ है। ये ऐसे कर्म हैं जिनमें अत्यधिक हिंसा होती है, अत वे श्रावक के लिए वर्जित हैं। कर्मादान शब्द का अर्थ है—ऐसे व्यापार जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। टीकाकार ने लिखा है—"कर्माणि—ज्ञानावरणादीन्यादीयन्तेयैस्तानि कर्मादानानि, अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्मादानानि कर्महेतव इति विग्रह ।" इन कर्मा-दानो का सेवन श्रावक को न स्वय करना चाहिए न दूसरो से कराना चाहिए और न करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन-समर्थन ही करना चाहिए। इसके लिये भगवतीसूत्र मे नीचे लिखे अनुसार कहा गया है—

"इमे पुण जे इमे समणोवासगा भवति, जेसिं नो कप्पति इमाइ पन्नरस कम्मादाणाइ सय करेत्तए वा कारवेत्तए वा अन्न न समणुजाणेत्तए।"

वे पन्दरह कर्मादान निम्नलिखित हैं—

१ इगाल कम्मे—(अङ्गार कर्म) कोयले बनाने का धन्धा करना अथवा भट्टा चलाना, ईंट पकाना आदि ऐसे धन्धे करना जिनमे आग और कोयलों का अत्यधिक उपयोग हो। यद्यपि सूत्रकार ने अगार कर्म से केवल कोयले बनाने का धन्धा ही

लिया है, फिर भी अत्यधिक हिंसा के कारण ईंट पकाने आदि के धन्धे भी उसी म सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वृत्तिकार ने इस पर नीचे लिखे अनुसार लिखा है—

"इङ्गाल कम्मे त्ति अङ्गार करणपूर्वकस्तद्विक्रय, एव यदन्यदपि वह्नि समारम्भ-पूर्वक जीवनमिष्टकाभाण्डकादिपाक रूप तदङ्गारकर्मेति ग्राह्य समान स्वभावत्वात्, अतिचारताचास्य कृततत्प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रय वतमानादिति, एव सर्वत्र भावना कार्य्या।"

कर्मादानो की अतिचारता इस आधार पर है कि परित्याग करने पर भी कभी अनाभोगादि के द्वारा उक्त कर्मों का आचरण कर लिया जाए। जान बूझ कर आचरण करने पर तो अनाचार ही माना जाता है।

२ वणकम्मे—(वनकर्म) ऐसे धन्धे करना जिनका सम्बन्ध वन या जगल के साथ हो, वृक्षो को काटकर लकड़ियाँ बेचना, खेतो आदि के लिए जगल साफ करना अथवा जगल मे आग लगाना आदि इसके अन्तर्गत हैं। वृत्तिकार बीजपेषण अर्थात् चक्की चलाना आदि धन्धे भी इसमे सम्मिलित किए है।

३ साडी कम्मे—(शकटकर्म) शकट अर्थात् बैल गाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का धन्धा।

४ भाडी कम्मे—(भाटीकर्म) पशु-बैल अश्व आदि को भाडे-भाड़े पर देने का व्यापार करना।

५ फोडी कम्मे—(स्फोटीकर्म) खान खोदने, पत्थर फोड़ने आदि का धन्धा करना।

६ दन्त वाणिज्जे—हाथी आदि के दातो का व्यापार करना, उपलक्षण से चर्म आदि का व्यापार भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

७ लक्ख वाणिज्जे—(लाक्षावाणिज्य) लाख का व्यापार करना।

८ रस वाणिज्जे—(रसवाणिज्य) मदिरा आदि रसों का व्यापार करना। यद्यपि ईख तथा फलो के रस का भी व्यापार होता है किन्तु वह यहां नहीं लिया जाता। हिंसा एव दुराचार की दृष्टि से मदिरा आदि मादक रस ही यहां अभीष्ट है।

६ विस वाणिज्जे—(विष वाणिज्य)—विविध प्रकार के विषों का व्यापार करना बन्दूक तलवार धनुष बाण, बारूद आदि हथियार एवं हिंसक वस्तुएँ भी इसमे सम्मिलित हैं।

१० केस वाणिज्जे—(केश वाणिज्य)—दास दासी एवं पशु आदि जीवित प्राणियों के क्रय विक्रय का धन्धा करना। कुछ आचार्यों के मत मे चमरी आदि के बालो का व्यापार भी इसी मे सम्मिलित है। मोरपंख तथा ऊन का व्यापार इस मे नही आता क्योंकि उन्हे प्राप्त करने के लिए मोर और भेड आदि को मारना नही पडता। इसके विपरीत चमरी गाय के बाल उसे बिना मारे नहीं प्राप्त होते।

११ जन्त पीलणकम्मे—(यन्त्र पीडन कर्म)—घाणी, कोल्हू आदि यन्त्रों के द्वारा तिल, सरसो आदि पीलने का धन्धा करना।

१२ निल्लछण कम्मे—(निर्लाञ्छन कर्म)—बैल आदि को नपुंसक बनाने अर्थात् खसी करने का धन्धा।

१३ दवग्गिदावणया—(दावाग्निदापन)—जगल मे आग लगाना। जगल की आग अनियन्त्रित होती है और उसके द्वारा तत्रस्थ अनेक त्रस जीवों का भी संहार होता है।

१४ सरदहतलाय सोसणया—(सरोहृद तडाग शोषणम्)—तालाब, भील, सरोवर नदी आदि जलाशयों को सुखाना, इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

सरस —स्वय सभूत जलाशय विशेषस्य, ह्रदस्य—नद्यादिषु निम्नतर प्रदेशलक्षणस्य तडागस्य—कृत्रिम जलाशयविशेषस्य परिशोषण यत्तत्तथा, प्राकृतत्वात स्वार्थिक ता प्रत्यय 'सरदहतलाय परिसोसणया।"

यहाँ सर, ह्रद तथा तडाग मे नीचे लिखा भेद बताया गया है—

सर—ऐसा जलाशय, जो स्वय सभूत अर्थात अपने आप निष्पन्न हो गया हो, इसे भील भी कहा जाता है।

ह्रद—नदी आदि का वह निम्नतर भाग, जहा पानी सचित हो जाता है।

तडाग—कृत्रिम जलाशय।

भगवती सूत्र की वृत्ति मे भी यही बात कही गई है—"सरोहृदतडाग परिशोषणता, तत्र सर —स्वभाव निष्पन्न, ह्रदो-नद्यादीना निम्नतर प्रदेश, तडाग-खननसम्पन्न-मुत्तानविस्तीर्ण जलस्थानम्, एतेषा शोषण गोधूमादीना वपनार्थम ।"

१५ असई जणपोसणया—(असतीजनपोषणता) व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त करना तथा शिकार आदि के लिए कुत्ते बिल्ली आदि पालना, इस अतिचार के विषय मे भगवती सूत्र तथा उपासकदशाङ्गसूत्र की वृत्ति मे इस प्रकार लिखा है—"असतीजनपोषणता-असतीजनस्यपोषण तद्भाटिकोप जीवनार्थं यत्तत्तथा, एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिण प्राणिन तेषां पोषणमसतीजन-पोषणमेवेति ।*

'असई पोसणय' त्ति-दास्य पोषण तद्भाटी ग्रहणाय, अनेन च कुक्कुट मार्जारादि-क्षुद्रजीव पोषणमप्याक्षिप्त दृश्यमिति' ।"

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र मे उपरोक्त कर्मादानो का निरूपण नीचे लिखे शब्दो मे किया है—

अङ्गार-वन शकट-भाटक-स्फोट जीविका । दन्त लाक्षा रस-केश विष वाणिज्यकानि च ॥
यन्त्र पीडा निर्लाञ्छन-मसतीपोषण तथा । दव-दान-सर शोष, इति पञ्चदश त्यजेत् ॥
अङ्गार भ्राष्ट्र करण कुम्भाय स्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टका पाकाविति ह्यङ्गार जीविका ॥
छिन्नाछिन्नवनपत्र-प्रसून फल विक्रय । कणानां दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका ॥
शकटानां-तदङ्गानां घटन खेटन-तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥
शकटोक्षलुलायोष्ट्र खराश्वतर वाजिनाम । भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटक जीविका ॥
सर कूपादि खनन शिला कुट्टन कर्मभि । पृथिव्यारम्भ सम्भूतैर्जीवन स्फोट जीविका ॥
दन्त-केश-नखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे । त्रसाङ्गस्य वाणिज्याय दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥
लाक्षामन शिला-नीली धातकी-टङ्कणादिन । विक्रय पापसदन लाक्षावाणिज्यमुच्यते ॥
नवनीत-वसा-क्षौद्र मद्यप्रभृति विक्रय । द्विपाच्चतुष्पाद विक्रयो वाणिज्य रसकेशयो ॥
विषास्त्रहलयन्त्रायो हरितालादिवस्तुन । विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते ॥

* भगवती सूत्र की वृत्ति ।

' उपासकदशाङ्ग की वृत्ति ।

तिलेक्षु सर्षपैरण्ड जल यन्त्रादिपीडनम । दल तलस्य च कृतियन्त्र पीडा प्रकीर्तिता ।।
नासा वेधोऽङ्कन मुष्कच्छेदन पृष्ठ गालनम । कर्ण कम्बल विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम ।।
सारिका शुकमार्जार श्वकुर्कुट कलापिनाम । पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषण विदु ।।
व्यसनात पुण्यबुद्धया वा दवदान भवेद्द्विधा । सर शोष सर सिन्धुह्रदादेरम्बुसम्प्लव ।।

—योगशास्त्र—श्लोक ८८—११३ ।

हिसा प्रधान होने के कारण उपरोक्त कर्म श्रावक के लिए वर्जित हैं, इसी प्रकार के यन्त्र कर्म भी इनमे सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वतमान युग मे हिंसा एव शोषण के नए-नए साधन एव उपाय अपनाए जा रहे हैं इन सबका इन्ही मे अन्तर्भाव हो जाता है, व्रतधारी को वतमान परिस्थिति के अनुसार विचार कर लेना चाहिए ।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण अणट्ठदडवेरमणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—कदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, सजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते ।। ४८ ।।

छाया—तदनन्तर च खलु अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—कन्दर्प कौत्कुच्य, मौखर्य, सयुक्ताधिकरणम्, उपभोगपरिभोगातिरेक ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को अणट्ठदण्डवेरमणस्स—अनर्थदण्ड विरमणव्रत के पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—कदप्पे—कन्दर्प, कुक्कुइए—कौत्कुच्य, मोहरिए—मौखर्य, सजुत्ताहिगरणे—सयुक्ताधिकरण, उपभोगपरिभोगाइरित्ते—उपभोग परिभोगातिरेक ।

भावार्थ—इसके अनन्तर अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ परन्तु आचरण न करने चाहिएँ । वे इस प्रकार हैं १ कन्दर्प—कामोत्तेजक बातें या चेष्टाएँ करना । कौत्कुच्य—भाण्डों की तरह विकृत चेष्टाएँ करना ।

३ मौखर्य—झूठी शेखी मारना अथवा इधर उधर की व्यर्थ बातें करना।
४ संयुक्ताधिकरण—हथियारों अथवा अन्य हिंसक साधनों को एकत्रित करना।
५ उपभोग—परिभोगातिरेक—उपभोग—परिभोग को निरर्थक बढाना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचार बताए गए हैं। अनर्थदण्ड का अर्थ है—ऐसे कार्य जिनमें अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता और दूसरे को हानि पहुँचती है, जिन कार्यों से व्यर्थ ही आत्मा मलिन होता है वे भी अनर्थदण्ड में आते हैं।

(१) कन्दप्पे—(कन्दर्प) कन्दर्प का अर्थ है काम वासना। व्यर्थ ही काम वासना सम्बन्धी बातें अथवा चेष्टाएँ करते रहना कन्दर्प नाम का अतिचार है। गन्दी गालियाँ बकना, शृंगारिक चेष्टाएँ करना, अश्लील साहित्य का पढना, तथा अन्य कामोत्तेजक बातें करना भी इसमें सम्मिलित हैं। यह अतिचार प्रमादाचरित कोटि में आता है, क्योंकि यह एक प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक शिथिलता है।

(२) कुक्कुइए—(कौत्कुच्यम्) भाँड के समान मुँह, नाक, हाथ आदि की कुचेष्टाएँ करना, यह भी प्रमादाचरित का अतिचार है। यदि चेष्टाएँ बुरी भावना के साथ की जायें तो इसका सम्बन्ध अपध्यानाचरित के साथ भी हो जाता है।

(३) मोहरिए—(मौखर्यम्) मुखर का अर्थ है—बिना विचारे बढ़-चढ कर बातें करने वाला। प्राय धृष्टता या अहंकार से प्रेरित होकर व्यक्ति ऐसा करता है। इसमें मिथ्या प्रदर्शन की भावना उग्र होती है। यह अतिचार पाप कर्मोपदेश से सम्बन्ध रखता है।

(४) संजुत्ताहिगरणे—(संयुक्ताधिकरणम्) अधिकरण का अर्थ है फरसा, कुल्हाडी, मूसल आदि हिंसा के उपकरण, इन उपकरणों का संग्रह करके रखना, जिसमें आवश्यकता पडने पर तुरन्त उपयोग किया जा सके, संयुक्ताधिकरण है। इस अतिचार से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) उवभोग परिभोगाइरित्ते—(उपभोगपरिभोगातिरेक) श्रावक को खान, पान, वस्त्र, पात्र, मकान आदि भोग्य सामग्री पर नियन्त्रण रखना चाहिए, और उन्हें

आवश्यकता से अधिक नहीं रखना चाहिए। इन्हें अनावश्यक रूप से बढ़ाना उपभोग—परिभोगतिरेक नाम का अतिचार है। इसका भी प्रमादाचरित के साथ सम्बन्ध है।

सामायिक व्रत के पांच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे, वय दुप्पणिहाणे, काय दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स-करणया ॥४६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सामायिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, वचोदुष्प्रणिधानं, कायदुष्प्रणिधानं, सामायिकस्य स्मृत्यकरणता सामायिकस्यानवस्थितस्य करणता।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर समणोवासएणं—श्रमणोपासक को सामाइयस्स—सामायिक व्रत के पंच अइयारा—पांच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ तं जहा—वे इस प्रकार हैं—मणदुप्पणिहाणे—मनोदुष्प्रणिधान, वयदुप्पणिहाणे—वचोदुष्प्रणिधान, कायदुप्पणिहाणे—कायदुष्प्रणिधान, सामाइयस्स सइ अकरणया—सामायिक का स्मृत्यकरणम्, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया—सामायिक को अस्थिरतापूर्वक करना।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएँ। परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं १ मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्प्रयोग करना। २ वचोदुष्प्रणिधान—वचन का दुष्प्रयोग करना। ३ कायदुष्प्रणिधान—काय का दुष्प्रयोग करना। सामायिक का विस्मृत होना अथवा ४ सामायिक की अवधि का ध्यान न रखना। ५ अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना।

टीका—सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता या समभाव का होना, जीवन में विषमता राग तथा द्वेष के कारण आती है। अत इन्हें छोडकर शुद्ध आत्म स्वरूप रमणता ही सामायिक है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यरूप है। स्वस्वरूपानुसन्धान से इन गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता है। अत सामायिक से एक ओर रागद्वेष आदि विकृतियाँ शान्त होती हैं और दूसरी ओर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की वृद्धि होती है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सामाइयस्स' त्ति समो—रागद्वेषविमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति तस्य आय —प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निरुपमसुखहेतुभूतानामध कृत चिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानां लाभ समाय स प्रयोजनमस्यानुष्ठानस्येति सामायिकम्।"

यह व्रत मुनि को समस्त जीवन के लिए होता है, श्रावक इसे कुछ समय अर्थात् प्रचलित परम्परा के अनुसार दो घडी—४८ मिनट के लिए अंगीकार करता है और उस समय समस्त सावद्य अर्थात् पापयुक्तक्रियाओं का परित्याग करता है। इस व्रत के निम्नलिखित अतिचार हैं—

(१) मणदुप्पणिहाणे (मनोदुष्प्रणिधान) सामायिक के समय घरेलू बातों का चिन्तन करना। शत्रु मित्र आदि का बुरा-भला सोचना अथवा अन्य प्रकार से मन मे राग-द्वेष सम्बन्धी वृत्तियों को लाना।

(२) वयदुप्पणिहाणे (वचोदुष्प्रणिधान) असत्य बोलना, दूसरे को हानि पहुँचाने वाले अथवा कठोर वचन कहना एव सासारिक बातें करना।

(३) कायदुप्पणिहाणे (कायदुष्प्रणिधान) ऐसी हलचल करना जिससे हिंसा की सम्भावना हो।

(४) सामाइयस्स सइ—अकरणया (सामयिकस्यस्मृत्यकरणता) सामायिक करने के लिए निश्चित समय को भूल जाना अथवा सामायिक काल म यह भूल जाना कि मैं सामायिक में हूँ। यह अतिचार प्रमाद के कारण होता है।

(५) सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया (सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता)—सामायिक के सम्बन्ध में अनवस्थित रहना अर्थात् कभी करना, कभी न करना, कभी अवधि से पहले ही उठ जाना आदि। उपरोक्त अतिचारों में प्रथम तीन का ... [illegible] है, और अन्तिम दो का प्रमाद। वृत्तिकार

के शब्द निम्नलिखित हैं—'सामाइयस्स सइ अकरणय' त्ति सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मृति –अस्या वेलाया मया सामायिक कर्त्तव्य तथा कृत तन्न वा इत्येवरूप स्मरण, तस्या प्रबलप्रमादतयाऽकरणस्मृत्यकरणम, 'अणवट्ठियस्स करणया' त्ति अनवस्थितस्य अल्पकालीनस्यानियतस्य वा सामायिकस्यकरण मनवस्थितकरणम्, अल्पकालकरणानन्तरमेवत्यजति यथाकथञ्चिद्वा तत्करोतीति भाव । इह चाद्यद्वयस्याना-भोगादिनातिचारत्वम् इतरद्वयस्य तु प्रमादबहुलतयेति ।"

शास्त्रो मे मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह दोष बताए गए हैं जो सामायिक मे वर्जित हैं। वे निम्नलिखित है—

मन के दस दोष—

१ विवेक बिना सामायिक करे तो 'अविवेक दोष ।'

२ यश कीर्ति के लिए सामायिक करे तो 'यशोवांछा' दोष ।

३ धनादिक के लाभ की इच्छा से सामायिक करे तो 'लाभवांछा' दोष ।

४ गर्व-अहकार (घमड) सहित सामायिक करे तो 'गर्व' दोष ।

५ राजादिक के भय से सामायिक करे तो 'भय' दोष ।

६ सामायिक मे नियाणा (निदान) करे तो 'निदान' दोष । नियाणा या निदान का अर्थ है धर्म साधना के फलस्वरूप किसी अमुक भोग आदि की कामना करना ।

७ फल मे सदेह रखकर सामायिक करे तो 'सशय' दोष ।

८ सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ करे तो 'रोष' दोष ।

९ विनयपूर्वक सामायिक न करे तथा सामायिक मे देव गुरु धर्म की अविनय आशातना करे तो 'अविनय दोष ।

१० बहुमान—भक्तिभावपूर्वक सामायिक न करके बेगार समझ कर सामायिक करे तो 'अबहुमान' दोष ।

वचन के दस दोष—

१ कुत्सित वचन बोले तो 'कुवचन दोष' ।

२ बिना विचारे बोले तो सहसाकार' दोष ।

३ सामायिक मे राग उत्पन्न करने वाले ससार सम्बन्धी गीत ख्याल आदि गाए तो 'स्वच्छन्द' दोष ।

४ सामायिक मे पाठ और वाक्य को सक्षिप्त करके बोले तो 'सक्षेप' दोष ।

५ सामायिक मे क्लेशकारी वचन बोले तो 'कलह' दोष ।

६ राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, इन चार कथाओ मे से कोई कथा करे तो 'विकथा' दोष ।

७ सामायिक मे हँसी, मसखरी, ठट्ठा, होहल्ला करे तो 'हास्य' दोष ।

८ सामायिक मे गडबड करके जल्दी-जल्दी बोले या अशुद्ध पढे तो 'अशुद्ध' दोष ।

९ सामायिक मे उपयोग बिना बोले तो 'निरपेक्ष' दोष ।

१० सामायिक मे स्पष्ट उच्चारण न करके गुण गुण बोले तो 'मम्मण' दोष ।

काय के बारह दोष—

१ सामायिक मे अयोग्य आसन से बैठे तो 'कुआसन दोष'। सहारा लेकर बैठना, पैर पर पैर रखकर बैठना, गर्व के आसन से बैठना, लेटना आदि सामायिक मे वर्जित है ।

२ सामायिक मे स्थिर आसन से न बैठना, स्थान तथा आसन बदलते रहना अथवा अन्य प्रकार से चपलता प्रकट करना 'चलासन' दोष है ।

३ सामायिक मे दृष्टि स्थिर न रखना, इधर उधर देखते रहना 'चलदृष्टि' दोष है ।

४ सामायिक मे सावद्य अर्थात दोष युक्त कार्य करना 'सावद्य' क्रिया दोष है, घर की रखवाली करना, कुत्ते बिल्ली को भगाना आदि सावद्य क्रियाएँ हैं ।

५ सामायिक मे दीवार आदि का सहारा लेकर बैठे या खडा रहे तो 'आलबन' दोष है ।

६ सामायिक मे बिना प्रयोजन हाथ पैरादि सकोचे अथवा पसारे तो 'आकु चन प्रसारण' दोष ।

७ सामायिक मे हाथ पैर आदि मोडे अथवा अगडाई ले तो 'आलस' दोष।

८ सामायिक मे हाथ एव पैरो की अगुलियो को चटकाए तो 'मोटन' दोष।

९ सामयिक म मैल उतारे तो 'मल' दोष।

१० गले अथवा गाल पर हाथ लगा कर शोकासन से बैठे तो 'विमासण' दोष।

११ सामायिक मे नीद लेवे तो 'निद्रा' दोष।

१२ सामायिक मे विना कारण दूसरे से 'वैयावच्च' अर्थात् सेवा सुश्रूषा करावे तो 'वैयावृत्य' दोष है।

दसवाँ देशावकाशिक व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण देसावगासियस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, वहियापोग्गलपक्खेवे ॥५०॥

छाया—तदनन्तर च खलु देशावकाशिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या तद्यथा—आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, वहि पुद्गल प्रक्षेप।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को देसावगासियस्स—देशावकाशिक व्रतके पच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, त जहा—वे इस प्रकार हैं—आणवणप्पओगे—आनयन प्रयोग, पेसवणप्पओगे—प्रेष्य प्रयोग, सद्दाणुवाए—शब्दानुपात, रूवाणुवाए—रूपानुपात, वहियापोग्गलपक्खेवे—और वहि पुद्गल प्रक्षेप।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) आनयन प्रयोग—मर्यादा भग करने वाले सदेशों द्वारा बाहर से कोई वस्तु मँगाना। (२) प्रेष्य प्रयोग बाहर से वस्तु मँगाने के लिए किसी व्यक्ति का भाजन। (३) शब्दानु-

पात—शाब्दिकसंकेत द्वारा काम कराना। (४) रूपानुपात—आँख आदि के इशारे से काम कराना। (५) बहि पुद्गलप्रक्षेप बाहिर कोई वस्तु फेंककर काम कराना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम है—देशावकाशिक व्रत, इसका अर्थ है—अमुक निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा करना और इससे बाहर किसी प्रकार की सासारिक प्रवृत्ति न करना। यह व्रत छठे दिग्व्रत का सक्षेप है, दिग्व्रत म दिशा सम्बन्धी मर्यादा की जाती है, किन्तु यह मर्यादा यावज्जीवन य लम्बे समय के लिए होती है और प्रस्तुत मर्यादा साधना के रूप मे दिन रात के या न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है। भोगोपभोग परिमाण आदि अन्य व्रतो का प्रतिदिन अमुक काल तक किया जाने वाला सक्षेप भी इसी व्रत मे सम्मिलित है। टीकाकार के निम्न-लिखित शब्द हैं—

'देसावगासियस्स' त्ति दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशो–गमनादिचेष्टास्थान देशावकाशस्तेन निर्वृत्त देशावकाशिक—पूर्वगृहीतदिग्व्रत सक्षेप-रूप सवव्रतसक्षेपरूप चेति।"

१ आनयन प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के अन्दर उपयोग के लिए मर्यादा क्षेत्र से बाहर के पदार्थों को दूसरे से मँगाना।

२ प्रेष्य प्रयोग—मर्यादा किए हुए क्षेत्र से बाहर के कार्यों का सपादन करने के लिए नौकर आदि भेजना।

३ शब्दानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का काय आने पर छीककर, खाँस कर अथवा कोई शब्द करके पडोसी आदि को इशारा करके काय कराना।

४ रूपानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का काम करने के लिए दूसरे को हाथ आदि का इशारा करना।

५ बहि पुद्गलप्रक्षेप—ककड पत्थर आदि फेंककर दूसरे को सकेत करना।

जैन परम्परा मे यह आवश्यक माना गया है कि साधक समय समय पर अपनी प्रवृत्तियो का मर्यादित करने का अभ्यास करता रहे इससे जीवन में अनुशासन तथा दृढता आती है, प्रस्तुत व्रत इसी अभ्यास का प्रतिपादन करता है। समय विशेष के लिए की गई समस्त मर्यादाएँ इसके अन्तगत हैं।

पौषध व्रत के पांच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण पोसहोववासस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय सिज्जासथारे, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय सिज्जासथारे, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमी, पोसहोवासस्स सम्म अणणुपालणया ॥ ५१ ॥

छाया—तदनन्तर च खलु पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तारक, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित शय्यासम्तारक, अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितोच्चार प्रस्रवण भूमि, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवण भूमि, पौषधोपवासस्य सम्यगननु पालनम् ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को पोसहोववासस्स—पौषधोपवास के पच अइयारा—पाच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जासथारे—अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शय्या सस्तारक, अप्पमिज्जयदुप्पयज्जिय सिज्जासथारे—अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तारक, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि—अप्रतिलेखित दुष्प्रति-लेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि—अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि, पोसहोववासस्स सम्म अणणुपालणया—पौषधोपवास का सम्यगननुपालन ।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमणोपासक को पौषधोपवास के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए, वे अतिचार इस प्रकार हैं—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तार—बिना देखे भाले अथवा अच्छी तरह देखे भाले बिना शय्या का उपयोग करना। (२) अप्रमार्जित—दुष्प्रमार्जित शय्या सस्तार—पूँजे बिना अथवा अच्छी तरह पूँजे बिना शय्यादि का उपयोग करना। (३) अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि—बिना देखे अथवा अच्छी

तरह देखे बिना शौच या लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण भूमि—बिना पूजे अथवा अच्छी तरह पूजे बिना शौच एव लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (५) पौषधोपवास का सम्यगननुपालन—पौषधोपवास को विधिपूर्वक न करना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम पौषधोपवास व्रत है। पौषध का अर्थ है—उपाश्रय या धर्म स्थान, और उपवास का अर्थ है अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम रूप चार प्रकार के आहार का त्याग। इस व्रत मे उपवास के साथ सावद्यप्रवृत्तिया का भी त्याग किया जाता है और दिन रात के लिए घर से सम्बन्ध तोड दिया जाता है, व्रतधारी अपने सोने बैठने तथा शौच एव लघुशका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है। इस व्रत के अतिचारो म प्रथम चार का सम्बन्ध मर्यादित भूमि तथा शय्या आसनादि की देखरेख से है। व्रतधारी को इन्हे अच्छी तरह देख भाल कर बरतना चाहिए, जिससे किसी जीव जन्तु की हिंसा न होने पाए।

इस व्रत मे चार बातो का त्याग किया जाता है—

१ अशन, पान आदि चारो आहारो का।

२ शरीर का सत्कार वेशभूषा, स्नानादि।

३ मैथुन।

४ समस्त सावद्य व्यापार।

इन चार बातो का मानसिक चिन्तन पाचवें अतिचार के अन्तर्गत है। वृत्तिकार का कथन है—"कृतपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽऽहारशरीरसत्काराब्रह्म-व्यापाराणामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्य चातिचारत्व भावतो विरतेर्बाधितत्वादिति।"

जैन परम्परा मे द्वितीय, पचमी, अष्टमी एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ माना गया है। उनमें भी अष्टमी और चतुर्दशी के दिन विशेष रूप से धर्माराधन किया जाता है। पौषधोपवास व्रत भी प्राय इन्ही पर किया जाता है।

यथासविभाग व्रत के पाच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण अहासविभागस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा—सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया ॥ ५२ ॥

छाया—तदनन्तर च खलु यथासंविभागस्य श्रमणोपासकेन पंच अतिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा-सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधानम्, कालातिक्रम, परव्यपदेश, मत्सरिता।

शब्दार्थ—तयाणंतर च णं—इसके अनन्तर समणोवासएणं—श्रमणोपासक को अहासंविभागस्स—यथासंविभाग व्रत के पंचअइयारा—पांच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्खेवणया—सचित्त निक्षेपण, सचित्तपेहणया—सचित्तपिधान, कालाइक्कमे—कालातिक्रम, परववएसे—परव्यपदेश, मच्छरिया—मत्सरिता।

भावार्थ—इसके पश्चात श्रमणोपासक को यथासंविभाग व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) सचित्त-निक्षेपण—दान न देने के विचार से भोजन सामग्री को सचित्त वस्तुओं में रख देना। (२) सचित्तपिधान—सचित्त वस्तुओं से ढक देना। (३) कालातिक्रम समय बीतने पर भिक्षादि के लिए आमन्त्रित करना। (४) परव्यपदेश—टालने के लिए अपनी वस्तु को दूसरे की बताना। (५) मत्सरिता—ईर्ष्यापूर्ण दान देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में यथासंविभाग व्रत के अतिचार बताए गए हैं, इसी का दूसरा नाम 'अतिथि संविभाग व्रत' भी है। संविभाग का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से विभाजन। यथा शब्द का अर्थ है—उचित रूप से अथवा मुनि आदि चारित्र सम्पन्न योग्य पात्र के लिए अपने अन्न, पान, वस्त्र आदि में से यथा शक्ति विभाजन करना अर्थात् उसे देना यथासंविभाग या अतिथि संविभाग व्रत है। इस के अतिचारों में मुख्य बात दान न देने की भावना है। इस भावना से प्रेरित होकर किसी प्रकार की टालमटोल करना इस व्रत का अतिचार है। उपलक्षण के रूप में उसके निम्न लिखित ५ प्रकार हैं—

(१) सचित्त निक्खेवणया—(सचित्तनिक्षेपण) दान न देने के अभिप्राय से अचित्त वस्तुओं को सचित्त धान्य आदि में मिला देना अथवा पानीय वस्तुओं में सचित्त वस्तु मिला देना सचित्त निक्षेपण है। तात्पर्य यह है कि—सचित्त व्रीहि (तुष सहित चावल) आदि में अगर अचित्त मिला देंगे या सचित्त अन्न आदि में

सचित्त चावल आदि मिला देंगे तो साधु ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसी भावना करके सचित्त में अचित्त और अचित्त मे सचित्त मिला देना सचित्तनिक्षेपण अतिचार है।

(२) सचित्तपेहणया—(सचित्तपिधान) इसी प्रकार पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त को और अचित्त से सचित्त को ढांक देना सचित्त पिधान अतिचार है।

(३) कालाइक्कमे—(कालातिक्रम) अर्थात् समय का उल्लघन करना, 'साधु का सत्कार भी हो जाए और आहार भी न देना पडे, ऐसी भावना से भोजनसमय को टालकर भिक्षा देने को तैयार होना कालातिक्रम अतिचार है।

(४) परववएसे—(परव्यपदेश) न देने की भावना स अपनी वस्तु को पराधी वताना।

(५) मच्छरिया—(मत्सरिता) ईर्ष्यावश आहार आदि का देना, यथा अमुक ने अमुक दान दिया है, मैं इस से कोई कम नहीं हूँ, इस भावना से देना। अथवा दान देने मे कजूसी करना मात्सर्य अतिचार है, कोई-काई मत्सर का अर्थ क्रोध करते हैं, उनके मत से क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य अतिचार है।

इसके विपरीत यदि आहारादि देवे ही नही या देते हुए को रोके अथवा देकर पश्चात्ताप करे तो व्रत भग समझना चाहिए, कहा भी है—

"ण देइ वारेइ य दिज्जामाण, तहेव दिन्ने परितप्पए य।
इयेरिसो जो किवणस्स भावो, भगो वये वारसगे इहेसो॥"

न ददाति वारयति च दीयमान, तथैव दत्ते परितप्यते च।
इत्येतादृशो य कृपणस्य भाव, भङ्गो व्रते द्वादशके इहैष॥

स्वय न देना, दूसरा देने लगे तो उसे मना करना अथवा देकर पछताना आदि से वारहवें व्रत का भग होता है।

सलेखना के पाच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण अपच्छिममारणतियसलेहणाझूसणाराहणाए पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—इहलोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे॥५४॥

छाया—तदनन्तर च खलु अपश्चिममरणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽऽराधनाया पंच अतिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्य, तद्यथा—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग, कामभोगाशंसाप्रयोग ।

शब्दार्थ—तयाणंतर च ण—इसके अनन्तर अपच्छिममारणंतिय संलेहणाझूसणाराहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना जोषणा आराधना के पंच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—इहलोगाससप्पओगे—इस लोक के सुखों की अभिलाषा करना, परलोगाससप्पओगे—परलोक के सुखों की अभिलाषा करना, जीवियाससप्पओगे—जीविताशंसाप्रयोग, मरणाससप्पओगे—मरणाशंसाप्रयोग, कामभोगाससप्पओगे—काम-भोगाशंसाप्रयोग ।

टीका—जैन धर्म के अनुसार जीवन अपने आप में कोई स्वतन्त्र एवं अन्तिम लक्ष्य नहीं है, यह आत्म विकास का साधन मात्र है। अतः साधक के लिए वह साधु हो या सद्गृहस्थ, आवश्यक माना गया है कि जब तक शरीर के द्वारा धर्मानुष्ठान होता रहे तब तक उसकी सही सार संभाल रखे। किन्तु रोग अथवा अशक्ति के कारण जब शरीर धर्म क्रियाएँ करने में असमर्थ हो जाए, अथवा रोग आदि के कारण मन में दुर्बलता आने लगे और विचार मलिन होने लगें तो उस समय यही उचित है कि शान्ति एवं दृढता के साथ शरीर के संरक्षण का प्रयत्न छोड़ दिया जाए। इसके लिए साधक भोजन का त्याग कर देता है और पवित्र स्थान में आत्मचिन्तन करता हुआ शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होता है।

इस व्रत को संलेखना कहा जाता है, जिसका अर्थ है समस्त सांसारिक व्यापारों का उपसंहार। सूत्र में इसके दो विशेषण हैं 'अपश्चिमा' और 'मारणान्तिकी'। अपश्चिमा का अर्थ है—अन्तिम अर्थात् जिसके पीछे जीवन का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। मारणान्तिकी का अर्थ है—मरने तक चलने वाली। इस व्रत में ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओं का परित्याग कर दिया जाता है। इतना ही नहीं जीवन मृत्यु की आकांक्षा भी वर्जित है अर्थात् व्रतधारी न यह चाहता है कि जीवन कुछ समय के लिए लम्बा हो जाए और न व्याकुल होकर शीघ्र मरना चाहता है।

वह शान्तचित्त होकर केवल आत्म-चिन्तन मे लीन रहता है। यहा वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'अपच्छिमे' त्यादि, पश्चिमैवापश्चिमा मरण—प्राणत्यागलक्षण तदेवान्तो मरणान्त तत्रया मारणान्तिकी, सलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरकषायाद्यनयेति सलेखना—तपोविशेषलक्षणा तत पदत्रयस्य कर्मधारय तस्या जोषणा—सेवना तस्या आराधना,—अखण्डकालकरणमित्यर्थ, अपश्चिममारणान्तिकसलेखना जोषणाराधना, तस्या।"

यहाँ सलेखना का अर्थ शरीर एव कषायो का कृश करना बताया गया है। इसके पश्चात् जोषणा और आराधना शब्द लगे हुए हैं, जोषणा का अर्थ है प्रीति या सेवन करना। यह सस्कृत की 'जुषी प्रीति सेवनयो' से बना है। आराधना का अर्थ है जीवन मे उतारना। सलेखना के पाच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) इहलोगासंसप्पओगे—(इहलोकाशसाप्रयोग) ऐहिक भोगो की कामना अर्थात मरकर राजा, धनवान या सुखी एव शक्तिशाली बनने की इच्छा।

(२) परलोगाससप्पओगे—(परलोकाशसा प्रयोग) स्वर्ग सम्बन्धी भोगो की इच्छा, जैसे कि मरने के पश्चात् म स्वर्ग मे जाऊँ और सुख भोगूँ आदि।

(३) जीवियाससप्पओगे—(जीविताशसा प्रयोग) यश कीर्ति आदि के प्रलोभन अथवा मृत्यु भय के कारण जीने की आकाक्षा करना।

(४) मरणाससप्पओगे-(मरणाशसा प्रयोग) भूख प्यास अथवा अन्य शारीरिक कष्टो के कारण शीघ्र मरने की आकाक्षा, ताकि इन कष्टो से शीघ्र ही छुटकारा हो जाए।

(५) कामभोगाससप्पओगे—(कामभोगाशसाप्रयोग) इस लोक या परलोक मे शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय को भोगने की आकाक्षा करना अर्थात् ऐसी भावना रखना कि अमुक पदार्थ की प्राप्ति हो।

अन्तिम समय मे जीवन की समस्त आकाक्षाओ एव मोह ममता से निवृत्त होने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे आत्महत्या कहना अनुचित है, आत्म-हत्या मे मनुष्य क्रोध, शोक, मोह, दु ख अथवा किसी अन्य मानसिक आवेग से

अभिभूत होता है उसकी विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है और परिस्थिति का सामना करने की शक्ति न होने के कारण वह अपने प्राणों का अन्त करना चाहता है। किन्तु सलेखना मे जीने और मरने की आकाक्षा भी वर्जित है। चित्त शान्ति और तटस्थवृत्ति सलेखना का आवश्यक तत्त्व है, इसमे किसी प्रकार का आवेग या उन्माद नही रहता। इस प्रकार आत्म आलोचना और आत्म शुद्धिपूर्वक मृत्यु को जैन शास्त्रकार पडित मरण कहते हैं।

आनन्द द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण तथा शिवानन्दा को परामर्श--

मूलम्---तएण से आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह सावयधम्म पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी---

नो खलु मे भते! कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिय वा अन्नउत्थिय-देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि चेइयाइ वा वदित्तए वा नमसित्तए वा, पुव्वि अणालत्तेण आलवित्तए वा सलवित्तए वा, तेसि असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा दाउ वा अणुप्पदाउ वा, नन्नत्थ रायाभिओगेण, गणाभिओगेण, बलाभिओगेण, देवयाभिओगेण, गुरुनिग्गहेण, वित्ति-कतारेण। कप्पइ मे समणे निग्गथे फासुएण एसणिज्जेण असणपाणखाइ-मसाइमेण वत्थपडिग्गहकबलपायपुञ्छणेण, पीठफलगसिज्जासथारएण ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए"---

---त्ति कट्टु इम एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइ पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइ आदियइ, आदिइत्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो वदइ, वदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अतियाओ दुइ-पलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सएगिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सियनन्द भारिय एव वयासी---

"एव खलु देवाणुप्पिए ! मए समणस्स भगवश्रो महावीरस्स श्रतिए धम्मे निसते से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए श्रभिरुइए, तं गच्छ ण तुम देवाणुप्पिए ! समण भगव महावीर वदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवश्रो महावीरस्स श्रतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जाहि" ॥ ५५ ॥

छाया—तत खलु स श्रानन्दो गाथापति श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य श्रन्तिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—

"नो खलु मे भदन्त ! कल्पते श्रद्यप्रभृति श्रन्य यूथिकान् वा, श्रन्ययूथिक देवतानि वा, श्रन्ययूथिक परिगृहीतानि चैत्यानि वा वन्दितु वा नमस्कर्तु वा, पूर्वमनालप्तेन श्रालपितु वा, सलपितु वा, तेभ्योऽशन वा पान वा खाद्य वा स्वाद्य वा दातु वा श्रनुप्रदातु वा, नान्यत्र राजाभियोगात, गणाभियोगात्, बलाभियोगात् देवताभियोगात, गुरुनिग्रहात्, वृत्तिकान्तारात् । कल्पते मे श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकेन एषणीयेन श्रशन-पान खाद्य स्वाद्येन वस्त्रकम्बलपादप्रोञ्छनेन, पतद्ग्रह (प्रतिग्रह) पीठफलक शय्या-सस्तारकेण, श्रौषधभैषज्येण च प्रतिलाभयतो विहर्तुम् ।"

इति कृत्वा, इममेतदरूपमभिग्रहमभिगृह्णाति, श्रभिगृह्य प्रश्नान् पृच्छति,पृष्ट्वाऽर्थानाददाति, श्रादाय श्रमण भगवन्त महावीर त्रिकृत्यो वन्दते, वन्दित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकात् दूतिपलाशात चैत्यात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव वणिग्ग्राम नगर यत्रैव स्वकगृह तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य शिवानन्दा भार्यामेवमावीत् —

एव खलु देवानुप्रिये ! मया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मो निशान्त । सोऽपि च धर्मो ममेष्ट प्रतीष्टोऽभिरुचित, तद् गच्छ खलु त्व देवानुप्रिये ! श्रमण भगवन्त महावीर वन्दस्व यावत् पर्युपास्स्व, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्मं प्रतिपद्यस्व ।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर से—वह आणंदे—आनन्द गाहावई—गाथापति समणस्स भगवश्रो महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के श्रतिए—पास

पचाणुव्वइय—पाँच अणुव्रत रूप सत्तसिक्खावइय—सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविह —वारह प्रकार का सावयधम्म—श्रावकधर्म पडिवज्जइ—स्वीकार करता है। पडिवज्जिता—स्वीकार करके समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर को वदइ—वन्दना करता है, नमसइ—नमस्कार करता है, वदित्ता, नमसित्ता—वदना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार बोलता है—

भते—हे भगवन् ! खलु—निश्चय रूप से मे—मेरे को नो कप्पइ—नही कल्पता है, अज्जप्पभिइ—आज से अन्नउत्थिय वा—निग्रन्थ सघ के अतिरिक्त अन्य सघ वालों को अन्नउत्थियदेवयाणि वा—अन्य यूथिक देवों को अन्नउत्थियपरिग्गहियाणिचेइयाइ वा—तथा अन्य यूथिको द्वारा स्वीकृत चैत्यो को वदित्तए वा नमसित्तए वा—वन्दना-नमस्कार करना पुव्वि अणालत्तेण आलवित्तए वा सलवित्तए वा—उनके बिना बुलाए पहले स्वय हीं बोलना अथवा वार्तालाप करना, तेसिं—उनको असण वा—अशन पाण वा—पान, खाइम वा—खाद्य तथा साइम वा—स्वाद्य दाउ वा—देना, अणुप्प-दाउ वा—आग्रहपूर्वक पुन पुन देना नन्नत्थ—किन्तु वक्ष्यमाण आगारो के सिवाय रायाभिओगेण—राजाभियोग से-राजा के आग्रह से गणाभिओगेण—गण के अभियोग से, बलाभिओगेण—सेना के अभियोग से, देवयाभिओगेण—देवता के अभियोग से, गुरुनिग्गेहेण—गुरुजनो माता-पिता आदि के आग्रह से वित्तिकतारेण—घोर वृत्ति कातार से अर्थात् अरण्यादि मे वृत्ति के लिए विवश होने पर। कप्पइ मे—मुझे कल्पता है, समणे निग्गथे—श्रमण निर्ग्रन्थो को फासुएण—प्रासुक एसणिज्जेण—एषणीय असण पाण-खाइम साइमेण—अशन पान, खाद्य और स्वाद्य से वत्थकवल पडिग्गहपाय पुञ्छणेण—वस्त्र, कबल, पात्र, पादप्रोञ्छन, पीढफलगसिज्जासथारएण—पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक ओसहभेसज्जेण—तथा औषध भेषज्य के द्वारा पडिलाभेमाणस्स—उनका सत्कार करते हुए, (बहराते हुए) मे—मुझे विहरित्तए—विचरण करना, त्तिकट्टु—इस प्रकार कहकर इम एयारूव अभिग्गह—आनन्द ने इस प्रकार का अभिग्रह अभिगिण्हइ—ग्रहण किया, अभिगिण्हित्ता—ग्रहण करके, पसिणाइ—प्रश्न पुच्छइ—पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर, अट्ठाइ—भगवान के द्वारा कहे गए तथ्यों को आदियइ—ग्रहण किया, आदिइत्ता—ग्रहण करके, समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को तिक्खुत्तो—तीन बार वदइ—वन्दना की वदित्ता—वन्दना करके, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के

अंतियाओ—पास से दुइपलासाओ चेइआओ—दुतिपलाश चैत्य से पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, जेणेव वाणियग्गामे नयरे—जिधर वाणिज्य ग्राम नगर था, जेणेव सए गिहे—जहाँ अपना घर था, तेणेव-वहाँ उवागच्छइ-आए, उवागच्छित्ता—आकर, सिवनद भारियं—शिवानन्दा भार्या को एव वयासी—इस प्रकार बोला—देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये ! एव खलु—इस प्रकार निश्चय ही मए—मैंने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अंतिए—पास धम्मे—धम निसते—श्रवण किया है, सेवि य धम्मे—और वह धर्म मे—मेरे को इच्छिए—इष्ट है, पडिच्छिए—अतीव इष्ट है, अभिरुइए—और अच्छा लगा है त—इसलिए देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये ! तुम—तुम भी गच्छ ण—जाओ समण भगव महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वदाहि—वन्दना करो, जाव—यावत पज्जुवासाहि—पर्युपासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अंतिए—पास पचाणुव्वइय—पाँच अणुव्रत सत्तसिक्खावइय—सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविह गिहिधम्म—बारह प्रकार के गहस्थ धम को पडिवज्जाहि—स्वीकार करो।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार का श्रावक धम गृहस्थ धम स्वीकार किया। भगवान् को नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—भगवन ! आज से मुझे निर्ग्रन्थ सघ से इतर सघ वालों को अन्ययूथिक देवों को, अन्ययूथिकों द्वारा परिगृहीत चैत्यो को वन्दना नमस्कार करना नही कल्पता है, इसी प्रकार उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना, उनको गुरुबुद्धि से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य देना तथा उनके लिए इस का आग्रह करना नही कल्पता है। परन्तु राजा के अभियोग से, गण (सघ) के अभियोग से बलवान के अभियोग से, देवता के अभियोग से, गुरुजन माता पिता आदि के आग्रह के कारण तथा वृत्तिकान्तार (आजीविका के लिए विवश होकर) यदि कभी ऐसा करना पडे, तो आगार है, मुझे निर्ग्रन्थ श्रमणों को प्रासुक-एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन पीठ, फलक, शय्या, सस्तार, औषध, भैषज्य देकर उनका सत्कार करते हुए विचरण करना कल्पता है।

आनन्द ने उक्त रीति से अभिग्रह धारण किया, और श्रमण भगवान महावीर को तीन बार वन्दना की। भगवान के पास से उठकर दूतिपलाश चैत्य से बाहर निकला और अपने घर पहुँचा। अपनी शिवानन्दा नामक पत्नी से इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये! आज मैंने श्रमण भगवान महावीर से धर्म श्रवण किया। वह मुझे अतीव इष्ट एवं रुचिकर लगा। देवानुप्रिये! तुम भी जाओ, भगवान की वन्दना करो, यावत् पर्युपासना करो और श्रमण भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ का धर्म स्वीकार करो।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में तीन बातें हैं—(१) आनन्द गाथापति द्वारा व्रत ग्रहण का उपसंहार। (२) उसके द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अर्थात् जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धा का प्रकटीकरण और (३) अपनी पत्नी को व्रत ग्रहण के लिए भगवान महावीर के पास जाने का परामर्श।

यहाँ गृहस्थ धर्म को पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में प्रकट किया गया है। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पूर्णतया पालन करता है, अतः उसके व्रत को महाव्रत कहा जाता है। श्रावक या गृहस्थ अहिंसा आदि व्रतों का पालन मर्यादित रूप में करता है, अतः महाव्रतों की तुलना में उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बारह व्रतों का विभाजन पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में किया गया है अन्यत्र यह विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के रूप में भी मिलता है। छठा दिग्व्रत, सातवाँ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदण्ड विरमण व्रत, गुण व्रत में सम्मिलित किए जाते हैं।

अणुव्रतों का सम्बन्ध मुख्यतया नैतिकता एवं सदाचार के रूप में आत्म शुद्धि से है, और शिक्षाव्रतों का उद्देश्य उक्त आत्म शुद्धि को अधिकाधिक विकसित करना है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र में अहिंसादि व्रतों को यम शब्द से प्रकट किया है और उन्हें अष्टांगिक योग मार्ग का प्रथम सोपान अथवा मूलाधार माना है। इनके बिना योग अथवा आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है। उसने इन्हें अपनी परिभाषा विशेष के अनुसार महाव्रत भी कहा है, पतञ्जलि के अनुसार अहिंसादिक व्रत सार्व-

भेद होते हैं वे देश, काल और परिस्थिति की अपेक्षा से परे होते हैं अर्थात् उनका पालन प्रत्येक स्थिति में अपेक्षित होता है, अतः इन्हें सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के अन्तिम चार अंग तुलनात्मक दृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं, उनकी तुलना शिक्षा व्रतों के साथ की जा सकती है। केवल प्रत्याहार का अर्थ है—मन तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर की ओर उन्मुख करना, यह एक प्रकार से देशावकाशिक अथवा सामायिक का ही रूपान्तर है। धारणा, ध्यान और समाधि इन अन्तिम तीन अंगों में मन की एकाग्रता या निरोध पर बल दिया गया है और इन तीनों को संयम शब्द से प्रकट किया है। यह भी मन को बाह्य प्रवृत्तियों से रोक कर आत्म चिन्तन में स्थिर करने का अभ्यास है फलतः कुछ विद्वान इन्हें भी जैन सामायिक का ही एक परिवर्तित रूप मानते हैं शेष व्रत उसी के पोषक हैं।

जैन परम्परा में तप के बारह भेद किए गए हैं, उनमें प्रथम छह बाह्य तप हैं और शेष छह आभ्यन्तर तप, योग के अन्तिम चार अंग और आभ्यन्तर तप के छह भेदों में बहुत समानता है।

सूत्र में दूसरी बात आनन्द द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अथवा अपनी श्रद्धा के प्रकटीकरण की है, वह घोषणा करता है—भगवन्! आज से अन्ययूथिक देव तथा अन्यतीर्थिकों द्वारा परिगृहीत चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना, उनसे परिचय बढ़ाना, उनसे बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना मेरे लिए वर्जित है। उन्हें धर्मबुद्धि से अशन, पान आदि किसी प्रकार का आहार अथवा वस्त्र-पात्र आदि का दान देना भी वर्जित है। परन्तु उन पर अनुकम्पा बुद्धि से देने का निषेध नहीं है। यहाँ कई बातें विचारणीय हैं, उस चर्चा में जाने से पूर्व वृत्तिकार के शब्द उद्धृत करना उचित होगा—"अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि दातु वा सकृत्, अनुप्रदातु वा पुनः पुनरित्यर्थः, अयं च निषेधो धर्मबुद्धयैव, करुणया तु दद्यादपि।"

श्रावक का इतर धर्मावलम्बियों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए [illegible]
बात की चर्चा की गई है, उन्हें वन्दना नमस्कार करना, उनके साथ [illegible]
तथा उन्हें भोजन वस्त्रादि दान देना आनन्द अपने [illegible] जत मानता है
निषेध धर्मबुद्धि या आध्यात्मिक दृष्टि से है। [illegible] यह

अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ विश्वास रखे और उस से विचलित न हो, उस माग के तीन अग हैं-(१) आदश, (२) पथप्रदर्शक, (३) पथ। इन्ही को देव, गुरु और धम शब्द से प्रकट किया जाता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं और उस लक्ष्य को अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करते हैं जहाँ साधक को पहुँचना है। गुरु उस पथ को अपने जीवन एव उपदेशो द्वारा आलोकित करते हैं और उस पथ का नाम धम है। प्रस्तुत सूत्र मे अन्य यूथिक शब्द से इतर मतावलम्बी धम गुरुओ का निराकरण किया गया है। यह बताने की आवश्यकता नही है कि विभिन्न विचारधारा मे आग्रही धम गुरुओ के सकेत पर आँख मूद कर चलने वाला या उनकी बातो को महत्व देने वाला साधक आत्म शुद्धि के विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। दूसरे पद द्वारा अन्य देवो का निराकरण किया गया है। और तीसरे द्वारा अन्यमतीय एव स्थानो का। जहातक लौकिक व्यवहार परस्पर सहायता एव अनुकम्पा दान का प्रश्न है उनका इस पाठ से कोई सबध नही है, इसी लिए आचाय अभयदेव ने इस पाठ की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—"अय च निषेधो धर्म बुद्धयैव, करुणया तु दद्यादपि।"

'अन्नउत्थिय परिग्गहिआइ' के पश्चात्–'चेइआइ' या अरिहत चेइआइ' पाठ मिलता है और चैत्य शब्द का अथ मदिर या मूर्ति किया जाता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—वे जिन मन्दिर या जिनप्रतिमाएँ जिन पर दूसरो ने अधिकार कर लिया है, किन्तु यह अथ ठीक नही बैठता। इसके दो कारण हैं, पहली बात यह है कि जैन परम्परा इस बात को नही मानती कि दूसरे द्वारा स्वीकृत होने मात्र से मन्दिर या धम स्थान भ्रष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रतिमा के साथ अलाप, सलाप तथा अशन, पान आदि देने का सम्बन्ध नही बैठता। यहाँ चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान या धार्मिक मर्यादाएँ है।

इसके विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थो से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं रायपसेणीय सूत्र की टीका मे मलयगिरि ने नीचे लिखा अथ किया है—चेइय—चैत्य प्रशस्त मनोहेतुत्वात, भगवान प्रशस्त होने के कारण चैत्य हैं। पद्मचन्द्र कोष के १५१ पृष्ट पर चैत्य शब्द के निम्नलिखित अथ किए हैं—

चैत्य (न०) चित्याया इदम् अण्। गाँव आदि मे प्रसिद्ध महावृक्ष, देवता के पास का वृक्ष, बुद्ध भेद, मन्दिर, जनसभा, यज्ञ का स्थान, लोगो के विश्राम की जगह, देवता का स्थान, विम्ब।

दिगम्बर परम्परा में मूल सघ के प्रवर्त्तक श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अष्टपाहुड ग्रन्थ में चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया है, वे गाथाएँ तथा उनकी वचनिका निम्नलिखित हैं—

"बुद्ध ज बोहतो अप्पाण चेदयाइ अण्ण च ।
पच महव्वय सुद्ध णाणमय जाण चेदिहर ॥"

बुद्ध यत बोधयन आत्मान चैत्यानि अन्यत च ।
पच महाव्रत शुद्ध ज्ञानमय जानीहि चैत्यगृहम् ॥

वचनिका—जो मुनि बुद्ध कहिए ज्ञानमयी ऐसी आत्मा ताहि जानता होय बहुरि अन्य जीवनकूं चैत्य कहिए चेतना स्वरूप जानता होय बहुरि आप ज्ञानमयी होय बहुरि पांच महाव्रतनिकरि शुद्ध होय निर्मल होय ता मुनिकूं हे भव्य चैत्य गृह जानि ।

भावार्थ—जामें आपा पर का जानने वाला ज्ञानी निष्पाप निर्मल ऐसा चैत्य कहिए चेतना स्वरूप आत्मा तैसे सो चैत्य गृह है सो ऐसा चैत्यगृह सयमी मुनि है । अन्य पाषाण आदि का मदिरकूं चैत्य गृह कहना व्यवहार है ।

आगे फेरि कहै है—

"चेइय बध मोक्ख दुक्ख सुक्ख च अप्पय तस्स ।
चेइहर जिणमग्गे छक्कायहियकर भणिय ॥"

चैत्य बध मोक्ष दुख सुख आत्मक तस्य ।
चैत्य गृह जिन मार्गे षटकायहितकर भणितम् ॥

वचनिका—जाकै बध अर मोक्ष बहुरि सुख अर दुख ये आत्मा के होय जाके स्वरूप मे होय सो चैत्य कहिए जातै चेतना स्वरूप होय ताहीकै बध मोक्ष सुख, दुख सभवै ऐसा जो चैत्य का गृह होय सो चैत्यगृह है । सो जिन मार्ग विषै ऐसा चैत्य गृह छह काय का हित करने वाला होय सो ऐसा मुनि है सो पांच थावर अर त्रस मे विकलत्रय अर असैनी पचेन्द्रियताइ केवल रक्षा ही करने योग्य है, तातै तिनिकी रक्षा करने का उपदेश करै है, तथा आप तिनिका घात न करै है तिनिका यही हित है, बहुरि सैनी पचेन्द्रिय जीव हैं तिनी की रक्षा भी करै है रक्षा का उपदेश भी करै है

तथा तिनिकू ससार तै निवृत्त रूप मोक्ष होने का उपदेश करै है ऐसे मुनिराजकू चैत्यगृह कहिए ।

भावार्थ—लौकिकजन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार माने हैं तिनिकू सावधान किए हैं—जो जिन सूत्र मे छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी सयमी मुनि है सो चैत्यगृह है, अन्यकू चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है, ऐसे चैत्यगृह का स्वरूप कह्या ।

इन गाथाओ से सिद्ध होता है कि चैत्य शब्द ज्ञान और साधु का वाचक है। इसलिए इस स्थान पर उक्त दोनो अर्थ सगत होते हैं। चाहे जैन साधु ने परदर्शन की श्रद्धा ग्रहण की हो चाहे परदर्शन वालो ने अपने वेष को न छोडते हुए जैन ज्ञान ग्रहण किया हो यह दोनो श्रावक के वन्दन करने योग्य नही हैं। इनसे सगति करने वालो को मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। इसलिये इनके साथ विशेष परिचय हानि-कारक है। दान का निषेध धर्मबुद्धि से किया गया है न कि करुणाभाव से, कारण के पड जाने पर षट् कारण ऊपर कथन किये जा चुके हैं जैसे कि राजा आदि के अभियोग से इत्यादि।

जिन प्रतिमा और जिन बिम्ब का स्वरूप जो श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है वह भी पाठको के देखने योग्य है—

"सपरा जगम देहा दसणणाणेण सुद्धचरणाण ।
णिग्गथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ।।"

स्वपरा जगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम ।
निर्ग्रन्थ वीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ।।

वचनिका—दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिनिकी स्वपरा कहिये अपनी अर पर की चालती देह है सो जिन मार्गविषै जगम प्रतिमा है, अथवा स्वपरा कहिये आत्मा तै पर कहिये भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है—निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जाके किछू परिग्रह का लेश नाही, ऐसी दिगम्बरमुद्रा, बहुरि कैसी है—वीतरागस्वरूप है जाकै काहू वस्तुसौ राग द्वेष मोह नाही, जिन मार्ग विषै ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान करि निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनिकी गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा

परकी चालती देह निग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है सो जिन मार्ग विषै प्रतिमा है अन्य कल्पित है अर धातु पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार मे मान्य है ।

आगें फेरि कहै है—

"जं चरदि सुद्ध चरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होई वंदणीया णिग्गंथ संजदा पडिमा ॥"

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रंथा संयता प्रतिमा ॥

वचनिका—जो शुद्ध आचरणकूं आचरै बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तुकूं जानै है बहुरि सम्यग्दर्शनकरि अपने स्वरूपकूं देखै है ऐसैं शुद्ध सम्यक् जाकै पाइये है ऐसो निर्ग्रन्थ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिवे योग्य है ।

भावार्थ—जानने वाला, देखने वाला, शुद्ध सम्यक्त्व शुद्ध चारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयम सहित मुनि का स्वरूप है सो ही प्रतिमा है सो ही वंदिवे योग्य अन्य कल्पित वंदिवे योग्य नाँहि है, बहुरि तैसे ही रूप सदृश धातु पाषणकी प्रतिमा होय सो व्यवहार करि वंदिवे योग्य है ।

आगे फेरि कहै है—

"दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंत सुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठ बंधेहिं ॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा ॥"

दर्शनम् अनंतज्ञानं अनन्तवीर्यः अनन्तसुखा च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ता कर्माष्टकबंधैः ॥
निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्ग प्रतिमा ध्रुवा सिद्धा ॥

वचनिका—जो अनंतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतवीर्य, अनन्तसुख इनि करि सहित है, बहुरि शाश्वता अविनाशी सुख स्वरूप है, बहुरि अदेह है, कर्म नोकर्म

पुद्गलमयी देह जिनके नाही है, बहुरि अष्टकर्म के बंधन करि रहित है, बहुरि उपमा करि रहित है, जाकी उपमा दीजिये ऐसा लोक मे वस्तु नाही है, बहुरि अचल है प्रदेशनिका चलना जिनका नाही है बहुरि अक्षोभ है जिनिके उपयोग में किछु क्षोभ नाही है निश्चल है बहुरि जगमरूप करि निर्मित है कर्मतै निर्मुक्त हुये पीछे एक समय मात्र गमनरूप होय है, तातै जगम रूपकरि निर्मापित है, बहुरि सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग ता विषै स्थित है याही तै व्युत्सर्ग कहिये कायरहित है जैसा पूर्वै देह मैं आकार था तैसा ही प्रदेशनिका आकार किछू घाटि ध्रुव है, ससार तै मुक्त होय एक समय गमन करि लोक के अग्रभाग विषै जाय तिष्ठै पीछै चलाचल नाही है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।

भावार्थ—पहले दोय गाथा मैं तौ जगम प्रतिमा सयमि मुनिनिकी देह सहित कही, बहुरि इनि दोय गाथानि मैं थिर प्रतिमा सिद्धनिकी कही ऐसे जगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कह्या अन्य केई अन्यथा बहुत प्रकार कल्पै है सो प्रतिमा वदिवे योग्य नाही है।

आगै जिनबिंब का निरूपण करै है—

"जिणबिंब णाणमय सजमसुद्ध सुवीयराय च।
ज देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा॥"

जिनबिंब ज्ञानमय सयमशुद्ध सुवीतराग च।
यत ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षय कारणे शुद्धे॥

वचनिका—जिनबिंब कैसा है ज्ञानमयी है अर सयम करि शुद्ध है बहुरि अतिशय करि बीतराग है बहुरि जो कर्म का क्षय का कारण अर शुद्ध है ऐसी दीक्षा अर शिक्षा दे है।

भावार्थ—जो जिन कहिए अरहत सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहिए ताकी जायगा तिस की ज्यौं मानने योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं सो दीक्षा कहिए व्रत का ग्रहण अर शिक्षा कहिए व्रत का विधान बतावना ये दोऊ कार्य भव्य जीवनि कूं दे है, यातै प्रथम तौ सो आचार्य ज्ञानमयी होय जिन सूत्र का जिनकूं ज्ञान होय ज्ञान बिना दीक्षा शिक्षा कैसे होय अर आप सयम करि शुद्ध होय ऐसा न होय तौ अन्य

कू भी मयम शुद्ध न करावें, वहुरि अतिशय करि वीतराग न होय तो कषायरहित होय तव दीक्षा शिक्षा यथाय न दे, या तें ऐसे आचार्य कू जिन के प्रतिविंव जाननें ।

आगे फेरि कहै है--

तस्स य करह पणाम सव्व पुज्ज च विणय वच्छल्ल ।
जस्स य दसण णाण अत्थि धुव चेयणा भावो ।"

तस्य च कुरुत प्रणाम सर्वां पूजा च विनय वात्सल्यम ।
यस्य च दर्शन ज्ञान अस्ति ध्रुव चेतनाभाव ।।

वचनिका--ऐसे पूर्वोक्त जिनविंव कू प्रणाम करो वहुरि सर्व प्रकार पूजा करो विनय करो वात्सल्य करो, काहे तें--जावें ध्रुव कहिए निश्चयत दर्शन ज्ञान पाइए है वहुरि चेतना भाव है ।

भावाय--दर्शन ज्ञानमयी चेतनाभाव महित जिनविंव आचाय है तिनि कू प्रणामादिक करना, इहा परमाथ प्रधान कह्या है तहा जड प्रतिविंव की गौणता है ।

आगे फेरि कहे है--

तव वय गुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेहि सुद्धसम्मत्त ।
अरहतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ।"

तपोव्रत गुण शुद्ध जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षा शिक्षाणां च ।।

वचनिका—जो तप अर व्रत अर गुण कहिए, उत्तर गुण तिनिकरि शुद्ध होय वहुरि सम्यग् ज्ञान करि पदार्थनि कू यथार्थ जानें वहुरि सम्यग्दर्शन करि पदार्थनि कू देखै याही तें शुद्ध सम्यक्त्व जाकै ऐसा जिनविंव आचाय है सो येही दीक्षा शिक्षा की देने वाली अरहत की मुद्रा है ।

भावार्थ—ऐसा जिनविंव है सो जिनमुद्रा ही है ऐसा जिनविंव का स्वरूप कह्या है ।

यह वचनिका प० जयचन्द्र छावडा की है, इसमें यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि चैत्य शब्द साधु और ज्ञान का वाचक भी है, इस स्थान पर उक्त दोनों अर्थ युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं कारण कि आलाप-सलाप आदि चेतन से ही सिद्ध हो सकते हैं न कि जड से । आनन्द ने अन्य मतावलम्बियों के साथ सम्पर्क न रखने का निश्चय किया, किन्तु जीवन व्यवहार के लिए तथा राजकीय एव सामाजिक अनुरोध की दृष्टि से कुछ छूटें रखी । वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) रायाभिग्रोगेण—(राजाभियोगेन) अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग। यदि राजकीय ग्राज्ञा के कारण विवश होकर अन्य मतावलम्बियो के साथ सभापण आदि करना पडता है, तो उसकी छूट है।

(२) गणाभिग्रोगेण—(गणाभियोगेन) गण का अर्थ है—समाज अथवा व्यापार खेती आदि के लिए परस्पर सहयोग के रूप मे एकत्रित व्यक्तियो का दल। भगवान महावीर के समय लिच्छवि, मल्लि आदि लोकतन्त्रीय शासन भी गण कहलाते थे। इसका अर्थ है—व्यक्ति जिस गण का सदस्य है, उस गण का बहुमत यदि कोई निर्णय करे तो वैयक्तिक मान्यता के विपरीत होने पर भी उसे मानना आवश्यक हो जाता है।

(३) बलाभिग्रोगेण—बल का अर्थ है सेना, उसकी आज्ञा के रूप मे यदि ऐसा करना पडे तो छूट है।

(४) गुरुनिग्गहेण—(गुरुनिग्रहेण) माता पिता अध्यापक आदि गुरुजनो का आग्रह होने पर भी ऐसा करने की छूट है।

(५) वित्तिकान्तरेण—(वृत्तिकान्तरेण) वृत्ति का अर्थ है—आजीविका और कान्तार का अर्थ है—कठिनाई, साधारणतया कान्तार शब्द का अर्थ अरण्य या जगल होता है, किन्तु यहा इसका अर्थ अभाव या कठिनाई है। आजीविका सम्बन्धी कष्ट आ पडने पर अथवा अभावग्रस्त होने पर ऐसा करने की छूट है। वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'वित्तिकान्तारेण' त्ति वृत्ति —जीविका तस्या कान्तारम्-अरण्य तदिव कान्तार क्षेत्र कालो वा वृत्तिकान्तार–निर्वाहाभाव इत्यर्थ, तस्मादन्यत्र निषेधो दानप्रणामादे-रिति—प्रकृतमिति।

आनन्द ने घर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से भी भगवान महावीर के पास जाकर व्रत ग्रहण करने का अनुरोध किया, इससे प्रतीत होता है, कि उसकी पत्नी भी एक समझदार गृहिणी थी। आनन्द ने स्वय उपदेश या आदेश देने के स्थान पर उस को भगवान के पास भेजना उचित समझा जिससे कि उस पर साक्षात्‌रूप से भगवान के त्याग तपस्या एव ज्ञान का प्रभाव पडे, और वह स्वय समझपूर्वक व्रतो को ग्रहण कर सके।

शिवानन्दा का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तएण सा सिवनंदा भारिया आणंदेण समणोवासएण एवं वुत्ता समाणा हट्ठ तुट्ठा कोडुम्बियपुरिसे सद्दावइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"खिप्पामेव लहुकरण" जाव पज्जुवासइ ॥ ५६ ॥

छाया—ततः सा शिवानन्दा भार्या आनन्देन श्रमणोपासकेन एवमुक्ता सती हृष्ट-तुष्टा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वैवमवादीत—"क्षिप्रमेव लघुकरण" यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर सा—उस सिवनंदा भारिया—शिवानन्दा भार्या ने आणंदेण समणोवासएण—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा एवं वुत्ता समाणा—इस प्रकार कहे जाने पर हट्ठ तुट्ठा—हृष्ट-तुष्ट होकर कोडुम्बियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों को सद्दावइ—बुलाया, सद्दावित्ता—और बुलाकर एवं वयासी—इस प्रकार कहा कि खिप्पामेव लहुकरण—शीघ्र ही लघुकरण रथ तय्यार करके लाओ, जाव—यावत् उसने भगवान की पज्जुवासइ—पर्युपासना की ।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के उत्तम वचन सुनकर, शिवानन्दा अतीव हृष्ट तुष्ट हुई और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार बोली—कि तुम शीघ्र ही लघुकरण रथ अर्थात् जिसमें शीघ्र चलने वाले बैल जुते हुए हों ऐसे धार्मिक रथ को तैय्यार करके लाओ, मुझे भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाना है । इस प्रकार वह भगवान के पास पहुँची और उनकी पर्युपासना की ।

भगवान महावीर द्वारा धर्म प्रवचन—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे सिवनंदाए तीसे य महइ जाव धम्मं कहेइ ॥ ५७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः शिवानन्दायै तस्यां च महत्यां यावद् धर्मं कथयति ।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सिवानदाए—शिवानदा को और तीसे य महइ—उस महती परिषद् मे उपस्थित अन्य जनता को भी धम्म—धम कहेइ—प्रवचन सुनाया।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान महावीर ने शिवानदा और उस विशाल सभा को धर्मोपदेश दिया।

टीका—जब शिवानदा भार्या और महती परिषद श्री भगवान के समीप उपस्थित हुई तब भगवान ने सवेगनी, निर्वेदनी, आक्षपणी और विक्षेपणी इन चारो धर्म कथाओ का सविस्तर वणन किया।

शिवानन्दा की प्रतिक्रिया—

मूलम्—त एण सा सिवनदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव गिहिधम्म पडिवज्जइ, पडिवज्जिता तमेव धम्मिय जाणप्पवर दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिस पाउब्भूया तामेव दिस पडिगया ॥५८॥

छाया—तत खलु सा शिवानन्दा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टा यावद् गृहस्थधर्मं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य तदेव धार्मिक-यानप्रवरमारोहति, आरुह्य यस्या एव दिश प्रादुरभूत् तामेव दिश प्रतिगता।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर सा सिवनन्दाभारिया—वह शिवानन्दा भार्या समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतिए—पास से धम्म—धम को सुच्चा—सुनकर, निसम्म—हृदय म धारण करके, हट्ठ—प्रसन्न हुई जाव—और यावत् उसने गिहिधम्म—गृहस्थ धर्म को पडिवज्जइ—स्वीकार किया तमेव धम्मिय जाणप्पवर—उसी धार्मिक—धम कार्यो के लिए निश्चित रथ पर दुरुहइ—सवार हुई, दुरुहित्ता—सवार होकर, जामेव दिस पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी तामेवदिस—उसी ओर पडिगया—लौट गई।

भावार्थ—शिवानन्दा श्रमण भगवान महावीर के पास धम श्रवण कर एव उसे हृदयगम करके अतीव प्रसन्न हुई। उसने भी यथाविधि गृहस्थधम ग्रहण किया।

दिया—नहीं—ऐसा नहीं होगा। साथ ही भगवान ने बताया कि वह सौधम देव-लोक के अरुणाभ नामक विमान मे देवरूप मे उत्पन्न होगा और वहां उसकी चार पल्यापम आयु होगी। जैन धम के अनुसार देवो के चार निकाय (समूह) हैं—

(१) भवनपति—भूमि अन्दर रहने वाले देव।

(२) वाणव्यन्तर—भूमि पर रहने वाले देवता को वाणव्यन्तर कहत हैं।

(३) ज्योतिषि—सूय, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारालोक मे रहने वाले देवता ज्योतिषि कहलाते हैं।

(४) *वैमानिक—ऊध्व लोक मे रहने वाले देव—इनके २६ भेद हैं। प्रथम देव-*लोक का नाम सौधम है जहां ३२ लाख विमानो का अधिपति शक्रेन्द्र है।

देवलोको का विस्तृत वणन प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद, भगवती सूत्र तथा देवेन्द्रस्तव आदि से जानना चाहिए।

पल्योपम काल के परिमाण विशेष का नाम है, एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। अनुयोग द्वारा सूत्र मे इसका विस्तृत वर्णन है। इसके लिए टिप्पण देखिए।

भगवान् महावीर का प्रस्थान—

मूलम्—**तएण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ वहिया जाव विरहइ ॥ ६० ॥**

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदापि बहिर्यावद् विहरति।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर समणे भगव महावीरे—*श्रमण भगवान महावीर* अन्नयाकयाइ—अन्यदा कदाचित बहिया—अन्यत्र विहार कर गए जाव—यावत धर्मोपदेश करते हुए विहरइ—विचरने लगे।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदो म विहार कर गए और वहां धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ ६१ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको जातोऽभिगतजीवाजीवो यावत् प्रतिलाभयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर से—वह आणंदे—आनन्द अभिगय-जीवाजीवे—जीव और अजीव आदि तत्त्वों को जानने वाला समणोवासए—श्रमणोपासक जाए—हो गया, जाव—यावत् पडिलाभेमाणे—साधु साध्वियों को प्रासुक आहारादि का दान करते हुए विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगा ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता श्रमणोपासक बन गया और साधु साध्वियों को प्रासुक आहार आदि देते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने लगा ।

मूलम्—तए णं सा सिवनन्दा भारिया समणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणी विहरइ ॥ ६२ ॥

छाया—ततः खलु सा शिवानन्दा भार्या श्रमणोपासिका जाता, यावत् प्रतिलाभयन्ती विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर सा—वह शिवनन्दा भारिया—शिवानन्दा भार्या भी समणोवासिया जाया—श्रमणोपासिका हो गई जाव—यावत् पडिलाभेमाणी—साधु साध्वियों की आहारादि द्वारा सेवा करती हुई विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगी ।

भावार्थ—तदनन्तर शिवानन्दा भार्या भी श्रमणोपासिका बन गई और साधु साध्वियों को शुद्ध, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, कम्बल बहराती हुई विचरने लगी ।

आनन्द द्वारा घर से अलग रहकर धर्माराधन का संकल्प और ज्येष्ठ पुत्र को गृह भार सौंपना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं-सीलव्वय-गुण-वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दस संव-

च्छराइ वइक्कताइ । पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयसी धम्मजागरिय जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था—"एव खलु अह वाणियगामे नयरे बहूण राई-सर जाव सयस्सवि य ण कुडुबस्स जाव आधारे, त एएण वक्खेवेण अह नो सचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरित्तए । त सेय खलु मम कल्ल जाव जलते विउल असण ४, जहा पूरणो, जाव जेट्ठ-पुत्त कुडुबे ठवेत्ता, त मित्त जाव जेट्ठ-पुत्त च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलसि पोसह-साल पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्म-पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरित्तए ।" एव सपेहेइ, २ त्ता कल्ल विउल तहेव जिमिय-भुत्तुत्तरागए त मित्त जाव विउलेण पुप्फ ५ सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठ-पुत्त सद्दावेइ, २ त्ता एव वयासी —"एव खलु पुत्ता ! अह वाणियगामे बहूण राईसर जहा चिंतिय जाव विहरित्तए । त सेय खलु मम इदाणि तुम सयस्स कुडुम्बस्स आलवण ४ ठवेत्ता जाव विहरित्तए" ॥ ६३ ॥

छाया—तत खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्योच्चावचै शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यान पौषधोपवासैरात्मान भावयतश्चतुर्दश सवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि । पञ्चदश सवत्सरमन्तरा वर्त्तमानस्यान्यदा कदापि पूर्वरात्रापररात्र कालसमये धर्मजागरिका जाग्रतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकश्चिन्तित कल्पित प्रार्थितो मनोगत सकल्प समुदपद्यत—"एव खल्वह वाणिज्यग्रामे नगरे बहूना राजेश्वरयावत्स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य यावदाधार, तदेतेन व्याक्षेपेणाह नो शक्नोमि श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहर्तुम्, तत श्रेय खलु मम कल्ये यावज्ज्वलिति (सति) विपुलमशन ४ यथा पूरणो यावज्ज्येष्ठ पुत्र कुटुम्बे स्थापयित्वा त मित्र यावज्ज्येष्ठपुत्र चाऽऽपृच्छ्य कोल्लाके सन्निवेशे ज्ञातकुले पौषधशाला प्रतिलिख्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहर्तुम् ।" एव सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य कल्ये विपुल तथैव जिमितभुक्तोत्तरागतस्तत मित्र—यावद् विपुलेन पुष्पवस्त्रगन्धमाल्याऽलङ्कारेण च सत्करोति सम्मानयति, सत्कृत्य सम्मान्य, तस्यैव मित्र यावत् पुरतो ज्ये

ष्ठपुत्र शब्दायते, शब्दापयित्वा एवमवादीत—"एव खलु पुत्र ! अह वाणिज्यग्रामे बहूना राजेश्वर यथाचिन्तित यावद् विहर्तुम् । तत श्रेय ममेदानीं त्वा स्वकस्य कुटुम्बस्याऽऽलम्बन ४ स्थापयित्वा यावद् विहर्तुम ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स आणदस्स समणोवासगस्स—उस आनन्द श्रमणोपासक को उच्चावएहि सीलव्वय-गुण वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहि—अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान पौषधोपवास के द्वारा अप्पाण भावेमाणस्स—आत्मा को सस्कारित करते हुए चोद्दस सवच्छाराइ—चौदह वर्ष वइक्कताइ—वीत गए, पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अतरावट्टमाणस्स—पदरहवे वर्ष मे अन्नया कयाइ—एक समय पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि—पूर्वरात्रि के पश्चात् अर्थात् अतिम प्रहर मे धम्मजागरिय जागरमाणस्स—धर्म जागरण करते हुए इमेयारूवे—इस प्रकार का अज्झत्थिए—आध्यात्मिक चितिए—चिंतित, कप्पिए—जिसकी पहिले ही कल्पना की हुई थी, पत्थिए—प्रार्थित, मणोगए सकप्पे—मनोगत सकल्प समुप्पज्जित्था—उत्पन्न हुआ, एव खलु अह—मैं निश्चय ही इस प्रकार वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे बहूण राईसर-जाव सयस्सवि ण कुडुम्बस्स—बहुत से राजा ईश्वर यावत् अपने भी कुटुम्ब का जाव आधारे—आलम्बन यावत् आधारभूत हूँ, त एएण ववखेवेण—इस विक्षेप के कारण अह—मैं समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप प्राप्त की हुई धम्मपण्णत्ति—धर्मप्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ताण—स्वीकार करके विहरित्तए—विचरने मे नो सचाएमि—समर्थ नही हूँ, त—अत सेय खलु—श्रेय है मम—मुझको कल्ल जाव जलते—कल प्रात काल सूर्य के निकलते ही जहा पूरणो—पूरण सेठ के समान विउल—विपुल असण—अशन पान द्वारा मित्र एव परिवारजनो को भोजन कराके जाव—यावत् जेट्ठपुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को कुडुम्बे—कुटुम्ब पर ठवेत्ता—स्थापित करके त—और उस मित्र जाव जेट्ठपुत्र च—मित्र यावत् ज्येष्ठ पुत्र को आपुच्छित्ता—पूछकर कोल्लाएसन्निवेसे—कोल्लाक सन्निवेश मे नाय कुलसि—ज्ञात कुल की पोसहसाल—पौषधशाला मे पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन करके समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतिय—पास प्राप्त हुई धम्मपण्णत्ति—धर्मप्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ताण—स्वीकार करके विहरित्तए—विचरना एव—इस प्रकार सपेहेइ—विचार किया, सपेहित्ता—विचार करके कल्ल—दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय होने पर विउल—

विपुल अशनादि तैयार कराया, तहेव—उसी प्रकार जिमियभुत्तुत्तरागए—सब के भोजन करने के पश्चात् त मित्त जाव—उस उपस्थित मित्रवर्ग एव परिवार का विउलेण पुप्फ—विपुल पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला, अलकार आदि के द्वारा सक्कारे इसम्माणेइ—सत्कार सम्मान किया, सक्कारित्ता सम्माणित्ता—सत्कार और सम्मान करके तस्सेव मित्त जाव पुरओ—उसी मित्रवर्ग यावत् परिवार के समक्ष जेट्ठपुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को सद्दावेइ—बुलाया, और सद्दावित्ता—बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा एव खलु पुत्ता—हे पुत्र ! इस प्रकार निश्चय ही अह—मैं वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे राईसर—राजा ईश्वर आदि का आधारभूत हूँ, अत कार्य व्यग्रता के कारण धर्मक्रिया का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। जहा चितिय जाव विहरित्तए—जिस प्रकार चिन्तन किया था, अर्थात् मेरे मन मे विचार आया कि—मैं ज्येष्ठ पुत्र को कार्यभार सौंपकर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करता हुआ विचरूँ। त सेय खलु मम-अत मुझे यही श्रेय है, कि इयाणिं—अब तुम—तुम्हे सयस्स कुडुम्बस्स—अपने कुटुम्ब का आलबण—आलबन ठवेत्ता—स्थापित करके जाव विहरित्तए—यावत् धर्म की आराधना करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक का अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को सस्कारित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वर्ष मे एक दिन पूर्वरात्रि के अपर भाग मे धर्म जागरण करते समय उसके मन मे यह सकल्प उठा कि—मैं वाणिज्य ग्राम नगर मे अनेक राजा ईश्वर एव स्वजनो का आधार तथा मार्गदर्शक हूँ। अनेकानेक कार्यों मे पूछा जाता हूँ। इस विक्षेप के कारण मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास अङ्गीकृत धर्म प्रज्ञप्ति का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता। अत मेरे लिए यह श्रेय है, कि—कल प्रात काल सूर्योदय होने पर विपुल अशन पानादि तैयार कराकर मित्र एव परिवारादि को भोजन कराकर पूरण सेठ के समान उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर मित्रों एव ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर कोल्लाक सन्निवेश में ज्ञातकुल की पौषधशाला का प्रतिलेखन कर श्रमण भगवान महावीर के पास स्वीकृत धर्म प्रज्ञप्ति का यथाविधि पालन करूँ। यह विचार कर दूसरे दिन मित्रवर्ग तथा परिवार को आमन्त्रित किया और पुष्प वस्त्र, गन्ध, माला और विपुल अशन पानादि के द्वारा उनका सत्कार किया।

तदनन्तर उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया और कहा—पुत्र ! मैं वाणिज्य-ग्राम नगर म राजा, ईश्वर, आत्मीयजनादि का आधारभूत हूँ। यावत् अनेकानेक कार्यों मे पूछा जाता हूँ। अत व्यस्तता के कारण धमप्रज्ञप्ति का सम्यक् पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए उचित है कि—मैं अब तुमको कुटुम्ब के पालन पोषणादि का भार सौंप कर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करूँ।

"सीलव्वय-गुण-वेरमण पच्चक्खाण-पोसहोववासेहि"

टीका—श्रमण भगवान महावीर के पास व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आनन्द को चौदह वप व्यतीत हो गए। इस अवधि मे आत्मविकास के लिए वह अनेक प्रकार के व्रतो का पालन करता रहा। प्रस्तुत पक्ति मे उनका श्रेणी विभाजन किया गया है। सवप्रथम शीलव्रत हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप मे पहले बताए जा चुके हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध शील अर्थात् सदाचार एव नतिकता से है। बौद्ध परम्परा मे ये पचशील के रूप मे बताए गए हैं। योगदशन मे इन्हे यम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है और अष्टागयोग की भूमिका माना गया है। इनके पश्चात् तीन गुणव्रत हैं जो शीलव्रतो के पोषक हैं, तथा जीवन मे अनुशासन पैदा करते हैं। तत्पश्चात् सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत हैं, जो आत्मचिन्तन के लिए दैनन्दिन कर्त्तव्य के रूप मे बताए गए हैं। पौषधोपवास तपस्या का उपलक्षण है, इसका अर्थ है—आनन्द शास्त्रो मे प्रतिपादित अनेक प्रकार की तपस्याएँ करता रहा। परिणामत उत्तरोत्तर जीवनशुद्धि होती गई और आत्मा मे दृढता आती गई। साधना मे उत्साह बढता गया और एक दिन मध्य रात्रि के समय धमचिन्तन करते हुए उसके मन मे आया कि अब मुझे गृह कार्यो से निवृत्त होकर एकान्त मे रहते हुए सारा समय आत्म साधना मे लगाना चाहिए। दूसरे दिन उसने अपने परिवार तथा जाति बन्धुओ को आमन्त्रित किया। भोजन, वस्त्र, पुष्प, माला आदि के द्वारा उनका सम्मान किया और उनकी उपस्थिति मे ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपने के भाव प्रकट किए।

आनन्द वाणिज्य ग्राम के राजा ईश्वर सेनापति आदि समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियो का सम्मान पात्र था। विविध प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर वे

उससे परामर्श लिया करते थे। परन्तु, उसने इन सब बातों को आत्मसाधना में विक्षेप माना और पौषधशाला में जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा आनन्द की आज्ञा का स्वीकार—

मूलम्—तए णं जेट्ठे-पुत्ते आणंदस्स समणोवासयस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ ॥ ६४ ॥

छाया—ततः खलु ज्येष्ठपुत्र आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर जेट्ठपुत्ते—ज्येष्ठ पुत्र ने आणंदस्स समणोवासयस्स—आनन्द श्रमणोपासक के एयमट्ठं—इस अभिप्राय को तहत्ति—तथेति अर्थात् जैसा आपकी आज्ञा हो, यह कहते हुए विणएणं—विनयपूर्वक पडिसुणेइ—स्वीकार किया।

भावार्थ—तदनन्तर ज्येष्ठ पुत्र ने आनन्द श्रमणोपासक के उक्त कथन को 'तथास्तु' कहते हुए अत्यन्त विनय के साथ स्वीकार किया।

मूलम्—तए णं से आणंदे, समणोवासए तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एवं वयासी—"मा णं, देवाणुप्पिया! तुब्भे अज्जप्पभिइ केइ मम बहुसु कज्जेसु जाव आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, मम अट्ठाए असणं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा" ॥ ६५ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासकः—तस्यैवमित्र—यावत्पुरतो ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयति, स्थापयित्वा एवमवादीत्-मा खलु देवानुप्रिया! यूयमद्यप्रभृति कोऽपि मम बहुषु कार्येषु यावत् आपृच्छतु वा, प्रतिपृच्छतु वा, ममार्थाय अशनं वा ४ उपस्कुरुत वा उपकुरुत वा।

शब्दार्थ—तए णं से आणंदे समणोवासए—तत्पश्चात् उस आनन्द श्रमणोपासक ने तस्सेव मित्त जाव पुरओ—मित्र जातिबन्धु आदि के समक्ष जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को

कुडुम्बे—कुटुम्ब पर ठवेइ—स्थापित किया। ठवित्ता—स्थापित करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो! अज्जप्पभिइ—आज से तुब्भे—तुम केई—कोई भी मम—मुझको बहुसु कज्जेसु—विविध कार्यों के सम्बन्ध मे मा—मत आपुच्छउ वा—पूछना और नाही पडिपुच्छउ वा—परामर्श करना, मम अट्ठाए—और मेरे लिए असण वा४—अशन पानादि उवक्खडेउ वा—तैयार मत करना और न उवकरेउ वा—मेरे पास लाना।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द ने दो बातो की मनाही की है, पहली बात है—हे देवानुप्रियो! अब मुझे गृहव्यवस्था सम्बन्धी किसी भी काय मे मत पूछना, इस प्रकार उसने गृहस्थ सम्बन्धि जीवनचर्या से अपना हाथ खीच लिया। दूसरी बात है अब मेरे लिए अशन-पान आदि भोजन सामग्री न तैयार करना और न मेरे पास लाना। इससे प्रतीत होता है आनन्द अन्तिम समय मे निरारम्भ भोजनचर्या पर रहने लगा था, यद्यपि उसने मुनिव्रत नही लिया परन्तु उसके निकट अवश्य पहुँच गया था।

आनन्द का निष्क्रमण—

मूलम्—तए ण से आणदे समणोवासए जेट्ठ-पुत्त मित्त-नाइ आपुच्छइ, २ त्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता वाणियगाम नयर मज्झ-मज्झेण निग्गच्छइ, २ त्ता जेणेव कोल्लाए-सन्निवेसे, जेणेव नायकुले जेणेव पोसह-साला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता पोसहसाल पमज्जइ, २ त्ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, २ त्ता दब्भ-सथारय सथरइ, सथरित्ता दब्भ-सथारय दुरुहइ, २ त्ता पोसहसालाए पोसहिए दब्भ-सथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ॥ ६६॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको ज्येष्ठपुत्र मित्रज्ञातिमापृच्छति, आपृच्छ्य स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वाणिज्यग्राम नगर मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव कोल्लाक सन्निवेश, येनैव ज्ञातकुल, येनैवपौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पौषधशाला प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलिखति, प्रतिलिख्य दर्भसस्तारक सस्तृणाति, सस्तीर्य दर्भसस्तारक दूरोहति,

दूरुह्य पौषधशालायां पौषधिको दर्भसंस्तारोपगतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर से—उस आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक ने जेट्ठपुत्तं मित्तणाइं—ज्येष्ठ पुत्र तथा मित्रों एवं ज्ञातिजनों को आपुच्छइ—पूछा, आपुच्छित्ता—पूछकर सयाओ गिहाओ—वह अपने घर से पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर वाणियगामं नयरं—वाणिज्य ग्राम नगर के मज्झं मज्झेणं—बीचोबीच निग्गच्छइ—निकला, निगच्छित्ता—निकलकर जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे—जहां कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव नायकुले—जहां ज्ञात कुल था, जेणेव पोसहसाला—और जहां पौषधशाला थी, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया, उवागच्छित्ता—आकर पोसहसालं—पौषधशाला को पमज्जइ—पूंजा अर्थात् साफ किया, पमज्जित्ता—पूंछकर उच्चारपासवण भूमि—उच्चार प्रस्रवण अर्थात् शौच तथा पेशाब करने की भूमि की पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके दब्भसंथारयं—डाभ का बिछौना संथरइ—बिछाया, संथरित्ता—बिछाकर, दब्भसंथारयं—डाभ के बिछौने पर दुरुहइ—बैठा, दुरुहित्ता—बैठकर पोसहसालाए—पौषधशाला में पोसहिए—पौषधिक होकर दब्भ संथारोवगए—डाभ के बिछौने पर बैठकर समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अंतिए—पास की धम्मपण्णत्तिं—धर्मप्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके विहरइ—रहने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने बड़े पुत्र तथा मित्र ज्ञातिजनों की अनुमति ली और अपने घर से निकला, वाणिज्यग्राम नगर के बीच होता हुआ जहां कोल्लाक सन्निवेश था जहां ज्ञातकुल तथा ज्ञातकुल की पौषधशाला थी वहां पहुंचा। पौषधशाला का परिमार्जन करके उच्चार प्रस्रवण (शौच तथा लघुशंका) भूमि की प्रतिलेखना की। तत्पश्चात् दर्भासन पर बैठकर पौषध अङ्गीकार करके भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मदान का अनुष्ठान करने लगा।

टीका—पुत्र को घर का भार सौंपकर तथा जाति बन्धुओं से विदा लेकर आनन्द श्रमणोपासक कोल्लाक सन्निवेश में पहुंचा और पौषधशाला में पौषधव्रत स्वीकार करके धर्मचिन्ता में लीन हो गया। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है, कि वह भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा, यहां धर्म प्रज्ञप्ति का

माग के रूप मे प्रतिपादित की गई है जिसके तीन अग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। उत्तराध्ययन सूत्र मे चारित्र के साथ तप का भी उल्लेख है, वास्तव मे देखा जाय तो वह चारित्र का ही अग है। पाप जनक प्रवृत्तियो के निरोधरूप चारित्र को शास्त्रो मे सयम शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और पूवसचित कर्मो एव वैकारिक सस्कारो को दूर करने के लिए जिस चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है उसे तप कहते हैं। कम निरोध की दृष्टि से सयम का दूसरा नाम सवर है। तप सवररूप भी है, और निजरारूप भी। कम निरोध की दृष्टि से वह सवर और कमक्षय की दृष्टि से वही निजरा भी है।

प्रतीत होता है कोल्लाक सनिवेश मे आनन्द का जातिवग रहता था वह उनके घर से आहार आदि लेकर जीवन यापन करने लगा। श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा मे इसी का विधान किया गया है अर्थात कुछ समय प्रतिमाधारी को स्वजातीयवग के घरा से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिए।

आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए ण से आणदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसपज्जित्ताण विहरइ। पढम उवासग पडिम अहा-सुत्त अहा-कप्प अहा-मग्ग अहा-तच्च सम्म काएण फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, आराहेइ ॥ ६७ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासक उपासक-प्रतिमा उपसपद्य विहरति, प्रथमामुपासकप्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प यथामार्गं, यथातत्त्व सम्यक् कायेन स्पृशति, पालयति, शोधयति, तीरयति, कीर्तयति, आराधयति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से—वह आणदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक उवासगपडिमाओ—उपासक प्रतिमाओ को उवसपज्जित्ताण—स्वीकार करके विहरइ—विचरने लगा, पढम—प्रथम उवासग पडिम—उपासक प्रतिमा को अहासुत्त—सूत्र के अनुसार, अहाकप्प—कल्प के अनुसार, अहामग्ग—मार्ग के अनुसार, अहातच्च—यथार्थ तत्त्व के अनुसार, सम्म—सम्यक् रूप मे, काएण—काया के द्वारा फासेइ—स्वीकार किया, पालेइ—पालन किया, सोहेइ—निरतिचार शोधन किया, तीरेइ—

आराधित अच्छी तरह पूर्ण किया, किट्टेइ—कीर्तन किया अर्थात् अंगीकृत प्रतिमा का अभिनन्दन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक उपासकप्रतिमाएँ स्वीकार करके विचरने लगा। उसने प्रथम उपासक प्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया, कीर्तन किया तथा आराधन किया।

टीका—साधुओं की उपासना—सेवा करने वाला उपासक कहलाता है। अभिग्रह विशेष को पडिमा—प्रतिज्ञा कहते हैं। उपासक-श्रावक का अभिग्रहविशेष प्रतिज्ञा, उपासक पडिमा कहलाती है।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासग-पडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं एक्कारसमं। जाव आराहेइ ॥ ६८ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको द्वितीयामुपासकप्रतिमाम्, एवं तृतीयां, चतुर्थीं, पञ्चमीं, षष्ठीं, सप्तमीं, अष्टमीं, नवमीं, दशमीं, एकादशीं, यावदाराधयति।

शब्दार्थ—तएणं—तदनन्तर से—उस आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रावक ने दोच्चं उवासगपडिमं—दूसरी उपासक प्रतिमा एवं—इसी प्रकार तच्चं—तीसरी, चउत्थं—चौथी, पंचमं—पाँचवीं, छट्ठं—छट्ठी, सत्तमं—सातवीं, अट्ठमं—आठवीं, नवमं—नवीं, दसमं—दसवीं, एक्कारसमं—ग्यारवीं का जाव—यावत् आराहेइ—आराधना किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छट्ठी, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं और ग्यारहवीं उपासकप्रतिमा का आराधन किया।

टीका—उपरोक्त दो सूत्रों में आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण का वर्णन है। प्रतिमा एक प्रकार का व्रत या अभिग्रह है, जहां आत्मशुद्धि के लिए धार्मिक नियमों का

विशेष रूप से अनुष्ठान किया जाता है, प्रत्येक प्रतिमा मे किसी एक क्रिया को लक्ष्य मे रख कर सारा समय उसी के चिन्तन, मनन, अनुष्ठान एव आत्मसात् करने मे लगाया जाता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है--

(१) दर्शन प्रतिमा—दशन का अथ है श्रद्धा या दृष्टि। आत्मविकास के लिए सवप्रथम दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। दशनप्रतिमा का अर्थ है—वीतराग देव, पाच महाव्रतधारी गुरु तथा वीतराग के वताए हुए माग पर दृढ विश्वास। उन्ही का चिन्तन, मनन एव अनुष्ठान। शास्त्रो मे इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है—

सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्मद्दसणजुओ उ जो जन्तू।
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलुहोइ पढमा उ॥

शङ्कादि शल्यविरहित सम्यगदशनयुक्तस्तु यो जन्तु।
शेषगुण विप्रमुक्त एषा खलु भवति प्रथमा॥

अर्थात् चारित्रादि शेप गुण न होने पर भी सम्यग्दर्शन का शका, काक्षा, आदि दोषो से रहित होकर सम्यक्तया पालन करना पहली अर्थात् दशन प्रतिमा है। इस प्रतिमा मे श्रमणोपासक 'रायाभियोगेण' आदि आगारो रहित सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, नास्तिक आदि वादियो के मतो को भली प्रकार जानकर विधिपूवक सम्यग्दशन का पालन करता है। इस पडिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—दशन के पश्चात् दूसरी व्रत प्रतिमा है, सम्यग्दृष्टि जीव जब अणुव्रतो का निर्दोष पालन करता है तो उसे व्रतप्रतिमा कहा जाता है। पहली प्रतिमा का आराधक पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व वाला होता है। दूसरी मे वह चारित्र शुद्धि की ओर झुक कर कर्मक्षय का प्रयत्न करता है। वह पाँच अणुव्रत और तीन गुण-व्रतो को धारण करता है। चार शिक्षा व्रतो को भी अङ्गीकार करता है किन्तु सामायिक और देशावकाशिक व्रतो का यथा समय सम्यक् पालन नही करता। इस पडिमा का समय दो मास है।

दसणपडिमा जुत्तो पालेतोऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा॥

दर्शनप्रतिमायुक्त, पालयन् अणुव्रतानि निरतिचाराणि ।
अनुकम्पादिगुणयुतो जीवइह भवति व्रतप्रतिमा ॥

(३) सामायिक प्रतिमा—सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। तीसरी पडिमा में सर-धर्म विषयक रुचि रहती है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण करता है। सामायिक और देशावगाशिक की आराधना भी उचित रीति से करता है, किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में पौषधोपवास व्रत की सम्यग् आराधना नहीं कर सकता। इस पडिमा का समय तीन मास का है।

वरदंसणवयजुत्तो सामाइयं कुणइ जो उ तिसन्झासु ।
उक्कोसेण तिमास एसा सामाइयप्पडिमा ॥

वरदर्शनव्रत युक्त सामायिकं करोति यस्तु त्रिसन्ध्यासु ।
उत्कृष्टेन त्रीन मासान् एषा सामायिक प्रतिमा ॥

(४) पौषध प्रतिमा—पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओं के साथ जो व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की पूर्णतया आराधना करता है, यह पौषध प्रतिमा है। इस पडिमा की अवधि चार मास की होती है।

पुव्वोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसह तु सम्पुण्णं ।
अट्ठमि चउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा ॥

पूर्वोदित प्रतिमायुत पालयति य पौषधं तु सम्पूर्णम् ।
अष्टमी चतुर्दश्यादिषु चतुरो मासान् चतुर्थी सा ॥

(५) कायोत्सर्ग प्रतिमा—कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर का त्याग अर्थात् कुछ समय के लिए शरीर वस्त्र आदि का ध्यान छोड़कर मन को आत्मचिन्तन में लगाना, इस प्रकार रात भर ध्यान का अनुष्ठान करना कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसकी अवधि पाँच मास है। दिगम्बर परम्परा में इसमें स्थान पर सचित्त त्याग प्रतिमा है।

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य ।
अट्ठमिचउद्दसीसु पडिमं ठाएगराईयं ॥

असिणाण वियडभोई मउलिकडो दिवसवम्भयारी य ।
राइ परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ।।
झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोयपुज्जे जिणे जिएकसाए ।
नियदोस पच्चणीय अण्ण वा पञ्च जा मासा ।।

सम्यक्त्वाणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतवान स्थिरश्च ज्ञानी च ।
अष्टमी चतुदश्यो प्रतिमा तिष्ठत्येकरात्रिकीम ।।
अस्नानो दिवसभोजी मुत्कलकच्छो दिवस ब्रह्मचारी च ।
रात्रौकृतपरिमाण प्रतिमा वर्जेपु दिवसेषु ।।
ध्यायति प्रतिमया स्थित त्रलोक्यपूज्यान जिनान जितकषायान ।
निजदोषप्रत्यनीकमन्यद्वा पञ्च यावन्मासाम ।।

अर्थात् सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा गुणव्रतो का धारक अष्टमी या चतुदशी के दिन-रात भर कायोत्सग करता है। अथवा सासारिक प्रवत्तियो को त्याग कर सारी रात आत्मचि तन मे व्यतीत करता है, इसी को कायोत्सग प्रतिमा कहते हैं। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पाँच मास तक की होती है। इस प्रतिमा मे रात्रि भोजन का परित्याग तथा दिन मे ब्रह्मचयव्रत का पालन किया जाता है और रात्रि का परिमाण किया जाता है। धोती की लाग नही लगाई जाती।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—पूर्वोक्त पाच प्रतिमाओ के आराधन के पश्चात् छठी पडिमा में सर्वधम रुचि होती है। वह पूर्वोक्त सब व्रतो का सम्यक् रूप से पालन करता है और ब्रह्मचय प्रतिमा को स्वीकार करता है। इसमे पूण ब्रह्मचय का विधान है। स्त्रियो से अनावश्यक वार्तालाप, उनके शृङ्गार तथा चेष्टाओ को देखना आदि वर्जित हैं, कि तु वह सचित्त आहार का त्याग नही करता अर्थात् औषध सेवन के समय या अ य किसी कारण वह सचित्त को भी सेवन कर लेता है। इसकी अवधि छह मास है। दिगम्बर परम्परा मे इसे रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा या दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहते हैं।

पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ, विजिय मोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबभमेगतओ य, राइ पि थिर चित्तो ।।

दर्शनप्रतिमायुक्त, पालयन् अणुव्रतानि निरतिचाराणि ।
अनुकम्पादिगुणयुतो जीवइह भवति व्रतप्रतिमा ।।

(३) सामायिक प्रतिमा—सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। तीसरी पडिमा मे सर्व-धर्म विषयक रुचि रहती है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण करता है। सामायिक और देशावकाशिक की आराधना भी उचित रीति से करता है, किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनो मे पौषोधोपवास व्रत की सम्यग् आराधना नही कर सकता। इस पडिमा का समय तीन मास का है।

वरदसणवयजुतो सामाइय कुणइ जो उ तिसञ्झासु ।
उक्कोसेण तिमास एसा सामाइयप्पडिमा ।।

वरदर्शनव्रत युक्त सामायिक करोति यस्तु त्रिसध्यासु ।
उत्कृष्टेन त्रीन मासान एषा सामायिक प्रतिमा ।।

(४) पौषध प्रतिमा—पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओ के साथ जो व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की पूर्णतया आराधना करता है, वह पौषध प्रतिमा है। इस पडिमा की अवधि चार मास की होती है।

पुव्वोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसह तु सम्पुण्ण ।
अट्ठमि चउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा ।।

पूर्वोदित प्रतिमायुत पालयति य पौषध तु सपूर्णम ।
अष्टमी चतुर्दश्यादिषु चतुरो मासान चतुर्थ्येषा ।।

(५) कायोत्सर्ग प्रतिमा—कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर का त्याग अर्थात् कुछ समय के लिए शरीर वस्त्र आदि का ध्यान छोडकर मन को आत्मचिन्तन मे लगाना, इस प्रकार रात भर ध्यान का अनुष्ठान करना कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसकी अवधि पाँच मास है। दिगम्बर परम्परा मे इसके स्थान पर सचित्त त्याग प्रतिमा है।

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयव थिरो य नाणी य ।
अट्ठमिचउद्दसीसु पडिम ठाएगराईय ।।

असिणाण वियडभोई मउलिकडो दिवसबम्भयारी य ।
राइ परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ।।
झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोयपुज्जे जिणे जिएकसाए ।
नियदोस पच्चणीय अण्ण वा पञ्च जा मासा ।।

सम्यक्त्वाणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतवान स्थिरश्च ज्ञानी च ।
अष्टमी चतुदश्यो प्रतिमा तिष्ठत्येकरात्रिकीम ।।
अस्नानो दिवसभोजी मुत्कलकच्छो दिवस ब्रह्मचारी च ।
रात्रौक्तपरिमाण प्रतिमा वर्जेषु दिवसेषु ।।
ध्यायति प्रतिमया स्थित त्रलोक्यपूज्यान जिनान जितकषायान ।
निजदोषप्रत्यनीकमन्यद्वा पञ्च याव मासाम ।।

अर्थात सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा गुणव्रतो का धारक अष्टमी या चतुदशी के दिन-रात भर कायोत्सग करता है। अथवा सासारिक प्रवत्तियो को त्याग कर सारी रात आत्मचि तन मे व्यतीत करता है, इसी को कायोत्सग प्रतिमा कहते हैं। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पाँच माम तक की होती है। इस प्रतिमा मे रात्रि भोजन का परित्याग तथा दिन मे ब्रह्मचयव्रत का पालन किया जाता है और रात्रि का परिमाण किया जाता है। धोती की लाग नही लगाई जाती।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओ के आराधन के पश्चात् छठी पडिमा मे सवधम रुचि होती है। वह पूर्वोक्त सव व्रतो का सम्यक् रूप से पालन करता है और ब्रह्मचय प्रतिमा को स्वीकार करता है। इसमे पूण ब्रह्मचय का विधान है। स्त्रियो से अनावश्यक वार्तालाप, उनके शृङ्गार तथा चेष्टाओ को देखना आदि वर्जित हैं, किन्तु वह सचित्त आहार का त्याग नही करता अर्थात् औषध सेवन के समय या अन्य किसी कारण वह सचित्त को भी सेवन कर लेता है। इसकी अवधि छह मास है। दिगम्बर परम्परा मे इसे रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा या दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहते हैं।

पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ, विजिय मोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबभमेगतओ य, राइ पि थिर चित्तो ।।

सिङ्गारकहा विरओ इत्थीए सम रहम्मि नो ठाइ ।
चयइ य अइप्पसङ्ग, तहा विभूस च उक्कोस ।।
एव जा छम्मासा एसोऽहिगओ उ इयरहा दिट्ठ ।
जावज्जीव पि इम, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ।।

पूर्वोदित गुणयुक्तो विशेषतो विजितमोहनीयश्च ।
वजयत्यब्रह्मैका ततस्तु रात्रावपि स्थिरचित्त ।।
शृङ्गारकथाविरत स्त्रिया सम रहसि न तिष्ठति ।
त्यजति चाति प्रसङ्ग तथा विभूषां चोत्कृष्टाम ।।
एव यावत षण्मासान एषोऽधिकतस्तु इतरथा दृष्टम ।
यावज्जीवमपीद वजयति एतस्मिन् लोके ।।

अर्थात् पूर्वोक्त गुणो से युक्त जो व्यक्ति मोहनीयकम पर विजय प्राप्त कर लेता है, रात्रि को भी ब्रह्माचय का पालन करता है तथा स्त्रियो से मलापादि नही करता । शृङ्गारयुक्त वेपभूषा नही करता । इस प्रकार ६ मास तक रहना ब्रह्माचय प्रतिमा है । इस प्रतिमा की अवधि कम से कम एक, दो या तीन दिन है और उत्कृष्ट छ मास है । यावज्जीवन भी ब्रह्मचर्य को धारण कर सकता है ।

(७) सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा—सातवी पडिमा मे सवधम विपयक रुचि होती है । इसमे उपरोक्त सब नियमो का पालन किया जाता है । इस पडिमा का धारक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है और सचित्त आहार का सवथा त्याग कर दता है, किन्तु आरम्भ का त्याग नही करता । इसकी उत्कृष्ट काल मर्यादा सात मास है । दिगबर परम्परा मे सातवी ब्रह्माचय प्रतिमा है ।

सच्चित्त आहार वज्जइ असणाइय निरवसेस ।
सेसवय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्व ।।

सचित्तमाहार वजयति अशनादिक निरवशेषम् ।
शेषपदसमायुक्तो याव मासान सप्त विधि पूवम् ।।

(८) स्वय आरम्भवर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारक उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है । सचित्त आहार का त्याग करता है । स्वय किसी प्रकार का आरम्भ अथवा हिसा नही करता । इसमे आजीविका अथवा निर्वाह के लिए

दूसरे से कराने का त्याग नही होता। काल मर्यादा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन उत्कृष्ट ८ मास है।

वज्जइ सयमारम्भ सावज्ज कारवेइ पेसेहिं।
वित्तिनिमित्त पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा।।

वजयति स्वयमारम्भ सावद्य कारयति प्रेष्य।
वृत्तिनिमित्त पूवगुणयुक्तोऽष्ट यावन्मासान।।

(९) भृतकप्रेष्यारम्भवजनप्रतिमा—नवमी पडिमा को धारण करने वाला उपासक उपरोक्त सब नियमो का यथावत् पालन करता है। आरम्भ का भी परित्याग कर देता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का परित्याग नही करता अर्थात् जो भोजन उसके निमित्त बनाया गया है वह उसे ग्रहण कर लेता है। वह स्वय आरम्भ नही करता न दूसरो से कराता है किन्तु अनुमति देने का उसका त्याग नही होता। इस प्रतिमा का कालमान कम से कम एक, दो या तीन दिन है और अधिक से अधिक ९ मास है।

पेसेहिं आरम्भ सावज्ज कारवेइ नो गुरुय।
पुव्वोइयगुणजुत्तो नव मासा जाव विहिणाउ।।

प्रेष्यैरारम्भ सावद्य कारयति नो गुरुकम।
पूर्वोदित गुणयुक्तो नव मासान यावद्विधिनव।।

(१०) उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा मे उपासक अपने निमित्त से बने हुए भोजन का भी परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नही करता जो उसके लिए बनाई या तय्यार की गई हो। सासारिक कार्यो के विषय मे कोई बात पूछने पर इतना ही उत्तर देता है कि 'मैं इसे जानता हूँ या नही जानता।' इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति विषयक कोई आज्ञा, आदेश या परामर्श नही देता। सिर को उस्तरे से मुँडाता है। कोई कोई शिखा रखता है। इसकी कालमर्यादा कम से कम एक, दो या तीन दिन उत्कृष्ट दस मास है।

उद्दिट्ठकड भत्तपि वज्जए किमुय सेसमारम्भ।
सो होई उ खुरमुण्डो, सिहलिं वा धारए कोइ।।

दव्व पुट्ठो जाण जाणे इइ वयइ नो य नो वेति ।
पुव्वोदिय गुणजुत्तो दस मासा कालमाणेण ॥

उद्दिष्टकृत भक्तमपि वजयति किमुत शेषमारम्भम ।
स भवति तु क्षुरमुण्ड शिखां वा धारयति कोऽपि ॥
द्रव्य पृष्टो जानन जानामीति नो वा नवेति ।
पूर्वोदित गुणयुक्तो दश मासान कालमानेन ॥

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—ग्यारहवी पडिमाधारी सवधम विषयक रुचि रखता है। उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है। सिर के बालो को उस्तरे (क्षुर) से मुण्डवा देता है, शक्ति होने पर लुञ्चन कर सकता है। साधु जैसा वेष धारण करता है। साधु के योग्य भण्डोपकरण आदि उपधि धारण कर श्रमण निर्ग्र थो के लिए प्रतिपादित धम का निरतिचार पालन करता हुआ विचरे। ग्यारहवी पडिमाधारी की सारी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं अत प्रत्येक क्रिया मे यतनापूवक प्रवृत्ति करे। साधु के समान ही गोचरी से जीवन निर्वाह करे किन्तु इतना विशेप है कि उस उपासक का अपने सम्बन्धियो से सवथा राग नही छूटता है, इस लिए वह उन्ही के घरो मे गोचरी लेने जाता है।

इस प्रतिमा का कालमान जघन्य एक, दो, तीन दिन है उत्कृष्ट ११ मास है। अर्थात् यदि ग्यारह महीने से पहले ही प्रतिमाधारी श्रावक की मत्यु हो जाए या दीक्षित हो जाए तो जघन्य या मध्यम काल ही उसकी अवधि है। यदि दोनो मे से कुछ भी न हो तो उपरोक्त सब नियमो के साथ ग्यारह महीने तक इस पडिमा का पालन किया जाता है।

सब पडिमाओ का समय मिलाकर साढे पाँच वष होता है।

खुरमुण्डो लोएण व रयहरण ओग्गह च घेत्तूण ।
समणब्भूओ विहरइ धम्म काएण फासे तो ॥
एव उक्कोसेण एक्कारसमास जाव विहरेइ ।
एक्काहाइपरेण एव सव्वत्थ पाएण ॥

क्षुरमुण्डो लोचेन वा रजोहरणमवग्रह च गृहीत्वा ।
श्रमणभूतो विहरति धम स्पृशन ॥

एवमुत्कृष्टेनैकादश मासान यावद विहरति ।
एकाहादे परत एव सवत्र प्रायेण ॥

उपरोक्त पाठ मे प्रतिमाओ के पालन के लिए तीन पद दिए हैं—'अहासुत्त' 'अहाकप्प तथा 'अहामग्ग' 'अहासुत्त' का अथ है शास्त्र मे उनका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुसार। 'अहाकप्प' का अथ है कल्प अर्थात् श्रावक की मर्यादा के अनुसार। 'अहामग्ग' का अथ है मार्ग अर्थात् क्षायोपशमिक स्थिति के अनुसार। ग्यारह प्रतिमाओ मे श्रावक धम का प्रारम्भ से लेकर उच्चतम रूप मिलता है। इनका प्रारम्भ सम्यक् दशन से होता है और अन्त ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा के साथ। तत्पश्चात् मुनिव्रत है। श्रावक की मर्यादा यही समाप्त हो जाती है।

आनन्द श्रमणोपासक ने उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओ का विधिविधान के अनुसार शास्त्रोक्त रीति से भली प्रकार आराधन किया।*

आनन्द का तपश्चरण और शरीर शोषण—

मूलम्—तए ण से आणदे समणोवासए इमेण एयारूवेण उरालेण विउलेण पयत्तेण पग्गहिएण तवो-कम्मेण सुक्के जाव किसे धमणिसतए जाए ॥ ६६ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासकोऽनेनैतद्रूपेणोदारेण विपुलेन प्रत्यनेन प्रगृहीतेन तप कर्मणा शुष्को यावत्कृशो धमनिसततो जात ।

शब्दाथ—तए ण–तत्पश्चात् स—वह आणदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक इमेण—इस यएारूवेण—एतत्स्वरूप उरालेण—उदार, विउलेण–विपुल पग्गहिएण–स्वीकृत पयत्तेण–प्रयत्न तथा तवोकम्मेण–तप कर्म से सुक्के—शुष्क जाव—यावत् किसे—कृश धमणिसतए—उभरी हुई नाडियो से व्याप्त सा जाए–हो गया।

---

*ऊपर ग्यारह प्रतिमाओ का सक्षिप्त वणन किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए मेरे द्वारा विरचित दशाश्रुतस्कन्ध की 'गणपतिगुणप्रकाशिका' नामक भाषा टीका मे छठी दशा का अनुशीलन करना चाहिए—व्याख्याकार।

भावार्थ—इस प्रकार के कष्टकर एव विपुल श्रम तथा तप के ग्रहण करने के कारण आनन्द का शरीर सूख गया, उसकी नसें दिखाई देने लगी।

आनन्द द्वारा मरणातिक सल्लेखना का निश्चय—

मूलम्—तए ण तस्स आणदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्ता० जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अय अज्झत्थिए ५ "एव खलु अह इमेण जाव धमणिसतए जाए। त अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे सद्धा धिइ सवेगे। त जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिइ सवेगे, जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगव महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेय कल्ल जाव जलते अपच्छिममारणतियसलेहणा झूसणाझूसियस्स, भत्तपाणपडियाइक्खियस्स काल अणवकङ्खमाणस्स विहरित्तए।" एव सपेहेइ, २ त्ता कल्ल पाउ जाव अपच्छिममारणतिय जाव काल अणवकङ्खमाणे विहरइ ॥ ७० ॥

छाया—तत खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् पूर्वरात्रौ यावद्धर्म जागरिका जाग्रतोऽयमाध्यात्मिक ५ "एव खल्वहमनेन यावद्धमनिसन्ततो जात। तदस्ति ताव मे उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकारपराक्रम, श्रद्धा, धृति, सवेग, यावच्च मे धर्माचार्यो धर्मोपदेशक श्रमणो भगवान् महावीरो जिन सुहस्ती विहरति, तावन्मे श्रेय कल्य यावज्ज्वलति अपश्चिममारणान्तिक सलेखना जोषणा जूषितस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य कालमनवकाक्षतो विहर्तुम्, एव सप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य कल्य प्रादुर्यावदपश्चिममारणान्तिक यावत्कालमनवकाक्षन् विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—इसके अनन्तर तस्स—उस आणदस्स समणोवासयस्स—आनन्द श्रमणोपासक को अन्नया कयाइ—एक दिन पुव्वरत्ता०—पूर्वरात्रि के अपर भाग में जाव—यावत् धम्मजागरियं जागरमाणस्स—धर्म जागरण करते २ अय—यह अज्झत्थिए ४—सकल्प उत्पन्न हुआ कि—एव खलु अह—मैं निश्चय ही इमेण—इस तपस्या से शुष्क जाव—यावत् एव धमणिसतए—धमनियो से व्याप्त जाए—हो गया हूँ, त अत्थि ता०—तो भी मे—मुझ मे अभी उट्ठाणे—उत्थान, कम्मे—कर्म, बले—बल, वीरिए—

वीय, पुरिसक्कार परक्कमे—पुरुपकार पराक्रम, सद्धा धिइ सवेगे—श्रद्धा, धृति और सवेग अत्थि—हैं, त जाव ता—जव तक मे—मुझ मे उट्ठाणे—उत्थान सद्धाधिइसवेगे—यावत्, श्रद्धा, धति, सवेग, अत्थि—हैं जाव य—और जव तक मे—मेरे धम्मायरिए—धर्माचार्य धम्मोवेएसए—धर्मोपदेशक समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर, जिणे—जिन सुहत्थी—सुहस्ती विहरइ—विचरते हैं ताव ता—तव तक कल्ल—कल प्रात काल जाव—यावत् जलते—सूर्य उदय होने पर अपच्छिममारणतियसलेहणा झूसणा झूसियस्स—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को अङ्गीकार करके भत्तपाण-पडियाइक्खियस्स—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके काल अणवकखमाणस्स—मृत्यु की काक्षा न करते हुए मे—मेरे को विहरित्तए—विचरना सेय-श्रेय है । एव-इस प्रकार सपेहेइ—विचार किया, सपेहित्ता—विचार करके कल्ल पाउ—दुसरे दिन प्रात काल जाव—यावत् अपच्छिममारणतिय—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को स्वीकार करके, जाव—यावत काल अणवकखमाणे—काल की काक्षा न करते हुए विहरइ—विचरने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर एक दिन आनन्द श्रावक को पूवरात्रि के अपर भाग मे धर्म चिन्तन करते हुए यह विचार आया—यद्यपि मैं उग्र तपश्चरण के कारण कृश हो गया हूँ । नसें दीखने लगी हैं, फिर भी अभी तक उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुपार्थ पराक्रम, श्रद्धा, धृति और सवेग विद्यमान हैं । अत जव तक मुझ मे उत्थानादि हैं और जव तक मेरे धर्मोपदेशक धर्माचाय श्रमण भगवान महावीर जिनसुहस्ती विचर रहे हैं । मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि अतिम मरणान्तिक सलेखना अङ्गीकार करलूँ । भोजन, पानी आदि का परित्याग करदूँ और मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए शान्त चित्त से अन्तिम काल व्यतीत करूँ ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द द्वारा अन्तिम सलेखनाव्रत अङ्गीकार करने का वर्णन है, इसमे कई बातें महत्वपूर्ण हैं ।

सलेखना जीवन का अन्तिम व्रत है, और यह जैन साधक की जीवन-दृष्टि को प्रकट करता है । पहले वताया जा चुका है कि जैन धर्म मे जीवन एक साधन है, साध्य नही । वह अपने आप मे लक्ष्य नही है । वह आत्म-विकास का साधन मात्र

है। साधन को तभी तक अपनाना चाहिए, जब तक वह लक्ष्य सिद्धि मे सहायक है। इसके विपरीत यदि वह बाधाएँ उपस्थित करने लगे तो साधन को छोड देना ही उचित है। शरीर या जीवन को भी तभी तक रखना चाहिए, जब तक वह आत्म-विकास मे सहायक है। रोग, असक्ति अथवा अन्य कारणो से जब यह प्रतीत होने लगे कि अब वह विकास के स्थान पर पतन की ओर ले जाएगा, मन मे उत्साह न रहे, चिन्ताएँ सताने लगें और भावनाएँ कलुषित होने लगें, तो ऐसी स्थिति आने से पहले ही शरीर का परित्याग कर देना उचित है। आनन्द श्रमणोपासक ने भी यही निश्चय किया। उसने सोचा—जब तक मुझ मे बल, वीर्य, पराक्रम, उत्साह आदि विद्यमान हैं और मेरे धर्मोपदेशक, मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर विचर रहे हैं, मुझे जीवन का अन्तिम व्रत ले लेना चाहिए।

यह निश्चय कर लेने पर प्रात होते ही उसने सलेखना व्रत ले लिया, आमरण अशन, पान आदि आहार का त्याग कर दिया और एकमात्र आत्म चिन्तन मे लीन हो गया। सूत्रकार ने यहाँ बताया है कि जिस प्रकार उसने जीने की आकाक्षा छोड दी उसी प्रकार मरने की आकाक्षा भी नही की अर्थात् उसने यह भी नही चाहा कि भूख-प्यासादि के कारण कष्ट हो रहा है अत मृत्यु शीघ्र ही आजाए। जीवन, मरण, यश कीर्ति ऐहिक भोग तथा पारलौकिक सुख आदि सब इच्छाओ से निवृत्त होकर एकमात्र आत्मचिन्तन मे लीन होकर वह समय व्यतीत करने लगा।

प्रस्तुत सूत्र मे कुछ शब्द ध्यान देने योग्य हैं, उत्थान—उठना, बैठना, गमनागमन आदि शारीरिक चेष्टाएँ अथवा हल-चल। बल—शारीरिक शक्ति। वीर्य—आत्म तेज या उत्साह शक्ति जो किसी कार्य को करने की प्रेरणा देती है—"विशेषेण इयते प्रेयते अनेन इति वीर्यम्"। पुरुषकार—पुरुषार्थ या उद्यम। पराक्रम—इष्ट साधन के लिए परिश्रम। श्रद्धा—विशुद्ध चित्तपरिणति के कारण होने वाला दृढ विश्वास। धृति—धैर्य, भय, शोक, दु ख, सकट आदि से विचलित न होना अर्थात् मन मे किसी प्रकार का क्षोभ या उद्वेग न आना। सवेग—आत्मा तथा अनात्मा सम्बन्धी विवेक के कारण बाह्य वस्तुओ से होने वाली विरक्ति। शास्त्र मे स्थान २ पर धर्म जागरिका के लिए पूर्व रात्रि का अपर भाग विशेष रूप से बताया गया है, इसका अर्थ है—मध्यम रात्रि। उस समय दुनिया का कोलाहल बन्द हो जाता है और मानसिक वृत्तियाँ शान्त होती हैं। योग परम्परा मे भी मन की एकाग्रता का अभ्यास

करने के लिए इस समय को प्रशस्त माना है। आनंद ने भगवान महावीर स्वामी के रहते ही अन्तिम व्रत ले लेना उचित समझा। धर्मानुष्ठान के लिए गुरु या मार्ग दर्शक का उपस्थित रहना अत्यंत उपयोगी है इससे उत्साह बना रहता है और किसी प्रकार का संदेह, द्विविधा, अड़चन आदि उत्पन्न होने पर उनका निवारण होता रहता है।

आनन्द को अवधिज्ञान का होना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने। पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे पंच-जोयण सयाइं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेण य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासं घर पव्वयं जाणइ पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ॥ ७१॥

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् शुभेनाध्यवसायेन, शुभेनपरिणामेन, लेश्याभिर्विशुद्ध्यमानाभिस्तदावरणीयानां कर्मणां क्षयोपशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्। पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि क्षेत्रं जानाति पश्यति। एवं दक्षिणात्ये पश्चिमात्ये च, उत्तरे खलु यावत् क्षुल्लहिमवन्तं वर्षधरपर्वतं जानाति पश्यति, ऊर्ध्वं यावत् सौधर्मकल्पं जानाति पश्यति, अधो यावद् अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपाच्युतनरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर आणंदस्स समणोवासगस्स—आनंद श्रमणोपासक को अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित् सुभेणं—शुभ अज्झवसाणेणं—अध्यवसाय तथा सुभेणं परिणामेणं—शुभपरिणाम के कारण विसुज्झमाणीहिंलेसाहिं—विशुद्ध होती हुई लेश्याओं से तदावरणिज्जाणं कम्माणं—अवधिज्ञानावरण कर्म के खओवसमेणं—क्षयोपशम से ओहिनाणे—अवधि ज्ञान समुप्पन्ने—उत्पन्न हो गया, उसके द्वारा

पुरत्थिमेण—पूर्व की ओर लवण समुद्दे—लवण समुद्र में पच जोयण सयाइ—पाँच सौ योजन खेत्त—क्षेत्र को जाणइ पासइ—जानने और देखने लगा। एव दक्खिणेण पच्चत्थिमेण—इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम मे भी पाँच सौ योजन तक जानने और देखने लगा। उत्तरेण—उत्तर की ओर चुल्लहिमवतवासधरपव्वय—क्षुल्लहिमवान-वर्षधर पर्वत को जाणइ पासइ—जानने और देखने लगा। उड्ढ—ऊर्ध्व लोक मे सोहम्म कप्प जाव—सौधर्म कल्प तक जाणइ पासइ—जानने देखने लगा और अहे—अधोलोक मे इमीसे—इस रयणप्पभाए—रत्न प्रभा पुढवीए—पृथ्वी के चउरासीइवाससहस्सट्ठिइय—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुयच्चुय नरय—लोलुपाच्युत नामक नरक जाव—तक जाणइ—जानने तथा पासइ—देखने लगा।

भावार्थ—इस प्रकार धर्म चिन्तन करते हुए आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम एव विशुद्ध लेश्या के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप वह पूर्व, पश्चिम की तरफ लवण समुद्र मे पाच सौ योजन की दूरी तक जानने और देखने लगा, उत्तर दिशा की तरफ क्षुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत को, ऊर्ध्वलोक मे सौधर्मकल्प तक और अधोलोक मे चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्युत नरक तक जानने और देखने लगा।

टीका—इस सूत्रमे आनन्द के अवधिज्ञान का वर्णन है। उसका क्रम नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। तपस्या, धर्मचिन्तन आदि के कारण उसके अध्यवसाय शुद्ध हुए। तदनन्तर परिणाम शुद्ध हुए। परिणाम शुद्ध होने पर लेश्याएँ शुद्ध हुई। लेश्याएँ शुद्ध होने पर अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उससे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। टीकाकार ने अध्यवसाय का अर्थ किया है—प्रथम मनोभाव अर्थात कार्यविशेष या अनुष्ठान के लिए दृढसकल्प। उसके लिए परिश्रम करने का निश्चय और मार्ग मे आने वाले सकट एव विघ्न बाधाओ से विचलित न होने की प्रतिज्ञा। परिणाम का अर्थ है—अध्यवसाय के पश्चात् उत्तरोत्तर बढती हुई विशुद्धि एव उत्साह के फलस्वरूप उठने वाले मनोभाव। लेश्या का अर्थ है अन्तिम मनोभाव जो आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति को प्रकट करते हैं।

जैन आगमो मे ६ लेश्यायें बताई गई हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तैजस् (५) पद्म और (६) शुक्ल। कृष्ण लेश्या क्रूरतम विचारो को प्रकट

करती है इसके पश्चात नील आदि लेश्याओ मे विचार उत्तरोत्तर शुद्ध होते जाते हैं। अन्तिम लेश्या मे वे पूणतया निमल हो जाते हैं। विचार ज्यो ज्यो निमल होते हैं, साधक उत्तरोत्तर लेश्याओ को प्राप्त करता जाता है। इनका विस्तृत वर्णन पण्णवणा सूत्र का सत्तरहवाँ पद, और उत्तराध्ययन तथा चतुथ कमग्रन्थ मे दिया गया है।

अवधिज्ञानावरण—जैन दशन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दशन, अनन्त सुख एव अनन्त वीर्य अर्थात् शक्ति का पुञ्ज है, उसका यह स्वरूप कमबन्ध के कारण दबा हुआ है, इसी लिए वह ससार मे भटक रहा है और सुख-दु ख भोग रहा है। कम आठ हैं, उनमे से ४ आत्मा के उपरोक्त गुणो को दबा रखते हैं, शेष ४ विविध योनियो मे विविध प्रकार की शारीरिक एव सामाजिक स्थिति न्यूनाधिक आयु एव बाह्य सुख दु ख के प्रति कारण हैं। प्रथम चार मे ज्ञानावरण—ज्ञान पर पर्दा डालता है, दशनावरण—दशन पर, मोहनीय—सुख का घात करता है और अन्तराय शक्ति का। ज्ञानावरण के ५ भेद हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुत-ज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मन पयय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।

अवधिज्ञान—दूर-सूक्ष्म विषयक उस अतीन्द्रिय ज्ञान को कहते हैं जो रूप वाले द्रव्यो तक सीमित है। आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और वह निश्चित सीमा तक दूरवर्ती पदार्थो को देखने तथा जानने लगा।

लवण समुद्र—जैन भूगोल के अनुसार मनुष्यक्षेत्र अढाई द्वीपो तक फैला हुआ है। मध्य मे जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौडा वृत्ताकार है। उसके चारो ओर लवण समुद्र है। लवण समुद्र के चारो ओर धातकी खण्ड नामक द्वीप है। उस द्वीप को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। उसके चारो ओर पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत है। मनुष्यो की बस्ती यहाँ तक ही है।

वषधर पर्वत—जम्बूद्वीप के बीच मेरु पवत है। मेरु से दक्षिण की ओर भरत आदि ६ खण्ड हैं। वषधर पवत इन खण्डो का विभाजन करता है। एतत्सम्बन्धी विस्ताराथ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थो को देखना चाहिए।

सौधर्म देवलोक—ऊर्ध्व लोक मे प्रथम देवलोक का नाम सौधम है।

रत्न प्रभा—पृथ्वी के अधोभाग मे सात नर्क हैं। प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है। उस नरक में भी अनेक प्रकार के नारकीय जीव रहते हैं। लोलुपाच्युत नरक भी इसी पृथ्वी का स्थान विशेष है। जहां नारकीय जीवों की आयु चौरासी हज़ार वर्ष मानी जाती है।

भगवान महावीर का पुनरागमन—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गया, जाव पडिगया ॥ ७२ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर समवसृत। परिषन्निर्गता यावत्प्रतिगता।

शब्दार्थ—तेण कालेण—उस काल चौथे आरक मे तेण समएण—उसी समय मे जब वाणिज्य ग्राम मे आनद को अवधिज्ञान उत्पन्न हो चुका था, समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर समोसरिए—पधारे परिसा निग्गया—परिषद् धर्म श्रवणार्थ गई जाव—यावत् पडिगया—और लौट गई।

भावार्थ—उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम धर्म जागृति करते हुए वाणिज्य ग्राम के बाहर दुतिपलाश चैत्य मे पधारे नगर की परिषद् धर्म श्रवण करने के लिए गई और धर्म उपदेश सुन कर वापिस लौट आई।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे वाणिज्य ग्राम नगर के बाहिर दूतिपलाश चैत्य मे श्रमण भगवान के पुनरागमन का निर्देश किया गया है। लोगों का धर्म श्रवण के लिए आने और वापिस लौटने का भी सकेत है। इन सबका विस्तृत वर्णन पहले आ चुका है।

गौतम स्वामी का वर्णन—

मूलम्—तेण कालेण तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इदभूई नाम अणगारे गोयम गोत्तेण सत्तुस्सेहे, समचउरससठाण सठिए, वज्जरिसहनारायसघयणे, कणगपुलगनिघसपम्हगोरे

उग्गतवे, दित्ततवे, तत्तवे, घोरतवे, महातवे, उराले, घोरगुणे घोरतवस्सी, घोरबभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, सखित्तविउलतेउलेस्से, छट्ठ-छट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ ॥ ७३ ॥

छाया—तस्मिन काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नाम अनगारो गौतम गोत्र खलु सप्तोत्सेध, समचतुरस्र सस्थान सस्थित, वज्रर्षभनाराचसहनन, कनकपुलकनिकषपद्मगौर, उग्रतपा, दीप्ततपा, तप्ततपा घोरतपा, महातपा, उदार, घोरगुण, घोरतपस्वी, घोरब्रह्मचर्यवासी, उत्सृष्टशरीर, सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य, षष्ठषष्ठेन अनिक्षिप्तेन तप कर्मणा, सयमेन तपसा आत्मान भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तेण कालेण—उस काल तेण समएण—उस समय समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के जेट्ठे अतेवासी—प्रधान शिष्य इदभूई नाम अणगारे—इन्द्रभूति नामक अनगार गोयमगोत्तेण—गौतम गोत्रीय सत्तुस्सेहे—सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, समचउरससठाणसठिए—समचतुरस्र सस्थान वाले वज्जरिसहनारायसघयणे—वज्रपभनाराचसहनन वाले कणगपुलगनिघसपम्हगोरे—निकष—कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा और पद्म के समान गौरवण वाले उग्गतवे—उग्र तपस्वी, दित्ततवे—दीप्त तपस्वी तत्तवे—तप से तपे हुए घोरतवे—घोर तपस्वी महातवे—महा तपस्वी उराले—उदार घोरगुणे—महान् गुणो वाले घोरतवस्सी—घोर तपस्वी घोरबभचेरवासी—उग्र ब्रह्मचय व्रत के धारक उच्छूढसरीरे—शारीरिक मोह से रहित अथवा शरीर त्यागी सखित्तविउलतेउलेस्से—तेजोलेश्या की विशाल शक्ति को समेटे हुए छट्ठ छट्ठेण—षष्ठ भक्त अर्थात् बेले-बेले के अणिक्खित्तेण—निरन्तर तवोकम्मेण—तपानुष्ठान सजमेण—सयम, तवसा—तथा अनशनादि अन्य तपश्चरण के द्वारा अप्पाणभावेमाणे—अपनी आत्मा को सस्कारित करते हुए विहरइ—विचर रहे थे ।

भावार्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार विचर रहे थे, वे सात हाथ ऊँचे थे, समचतुरस्रसस्थान, वज्रपभनाराचसहनन वाले तथा सुवर्ण पुलक निकष और पद्म के

समान गौरवण वाले थे। उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, घोरतपस्वी, महातपस्वी, उदार, महा गुणवान, उत्कृष्ट तपोधन, उग्र ब्रह्मचारी, शरीर से निर्मल और संक्षिप्त की हुई विपुल तेजोलेश्या के धारक थे। निरन्तर बेले तथा अन्य प्रकार के तपोनुष्ठान द्वारा आत्मविकास कर रहे थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी का वर्णन है। *यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के कुछ मुख्य शिष्य होते हैं, जिन्ह* गणधर कहा जाता है। भगवान महावीर के ११ गणधर थे उनमे इन्द्रभूति प्रथम एव ज्येष्ठ थे। वे महातपस्वी तथा विनय सम्पन्न थे। प्रस्तुत पाठ मे दिया गया प्रत्येक विशेषण उनके महत्वपूर्ण गुणो को प्रकट करता है।

इन्द्रभूति—गौतम स्वामी का वैयक्तिक नाम इन्द्रभूति था, गौतम उनका गोत्र था। व्यवहार मे अधिकतर गोत्र का प्रयोग होने से उनका नाम ही गौतम प्रसिद्ध हो गया। भगवान् महावीर भी उन्हे 'गोयमा'! अर्थात् 'हे गौतम'! शब्द द्वारा सम्बोधित करते थे।

अणगारे—इस शब्द का अर्थ है साधु एव मुनि, जैन धर्म मे साधना के २ रूप बताए गए हैं। (१) श्रावक के रूप मे जहाँ गृह सम्पत्ति तथा सूक्ष्म हिंसादि का त्याग नही होता है। (२) साधु का इनका पूर्णतया त्याग होता है। श्रावक को सागार कहा जाता है। आगार के २ अर्थ हैं—(१) घर या (२) व्रत धारण मे अमुक छूट। इन दोनो का परित्याग होने के कारण मुनि को अनगार कहा जाता है।

सत्तुस्सेहे—(सप्तोत्सेध) इसमे गौतम स्वामी की शारीरिक सम्पत्ति का वर्णन है। उत्सेध का अर्थ है—ऊँचाई वे सात हाथ ऊँचे थे।

समचउरस-सठाण सठिए—(समचतुरस्रसस्थान सस्थित) जैन धर्म मे शरीर की रचना नामकर्म के उदय से मानी जाती है। नामकर्म की अठानवे प्रकृतियाँ है, उन्ही मे ६ सस्थान तथा ६ सहननो का वर्णन आता है। सस्थान का अर्थ है शरीर की रचना, इसका मुख्य सम्बन्ध बाह्य आकार से है। किसी का शरीर सुडौल होता है अर्थात हाथ पाव आदि अग सतुलित एव सुरूप होते हैं और किसी का बेडौल। इसी आधार पर ६ सस्थान बताए गए हैं, उनमे समचतुरस्रसस्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसका

अथ है सिर से लेकर पैरो तक समस्त अङ्गो का एक दूसरे के अनुरूप एव सु दर होना।

वज्ज रिसह-नाराय सघयणे—(वज्रपभ नाराच सहन) सहनन का अर्थ है—शरीर के अगा का सगठन। उदाहरण के रूप मे किसी का शारीरिक सगठन इतना दुवल होता है कि थोडा सा झटका लगने पर अङ्ग अपने स्थान से हट जाते हैं। और किसी के इतने मजवूत होते हैं कि किसी भी परिस्थिति मे अपना स्थान नही छोडते। इसी आधार पर ६ सहनन वताए गए हैं और इनमे शारीरिक सन्धियो की बनावट का वणन है जो शरीर शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूण है। वज्र-ऋपभनाराच सहनन सर्वोत्तम माना गया है, और यह तीथङ्कर, चक्रवर्ती एव अन्य अ्य महापुरुषो के होता है। इसमे हड्डियाँ तीन प्रकार से मिली हुई होती है। (१) नाराच अर्थात् मर्कट वन्ध अर्थात् एक हड्डी दूसरी हड्डी मे कुण्डे की तरह फँसी हुई होती है, (२) ऋपभ–अर्थात् उस व धन पर वेप्टन पट्ट चढा रहता है, (३) कीलक–अर्थात् पूरे जाड मे कील लगी रहती है। वज्रऋपभनाराच सहनन मे ये व ध पूण रूप मे होते हैं। इसके विपरीत अ य सहननो मे किसी मे आधा कील होता है किसी मे होता ही नही, किसी मे वेप्टनपट्ट नही होता और किसी मे हड्डियाँ मर्कटव ध के स्थान पर यो ही आपस म सटी रहती हैं और अस्थिबन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है।

कणग-गोरे—(कणकपुलकनिकपपद्मगौर) इसमे भगवान् गौतम के शरीर का वण बताया गया है। वे सुवर्णपुलक निकप अर्थात् कसौटी पर खिची हुई सुवण रेखा तथा पद्म अर्थात् कमल के समान गौर वर्ण के थे।

उग्गतवे—(उग्रतपा) 'वे उग्र अर्थात् कठोर तपस्वी थे।

घोरतवे—(घोर-तपा) 'वे घोरतपस्वी थे, घोर का अर्थ है कठोर, उन्होने तपस्या करते समय कभी अपने शरीर के प्रति ममता या दुवलता नही दिखाई, दूसरो के लिए जो अत्यन्त दयालु थे वे ही अपने लिए कठोर थे।

महातवे—(महा-तपा) वे महा तपस्वी थे। उपरोक्त तीनो विशेपण इस बात को प्रकट करते हैं कि जैन परम्परा मे वाह्य एव आभ्य तर सभी प्रकार के तपो का महत्वपूण स्थान रहा है।

उराले—(उदार) वे उदार अर्थात् मनस्वी एव विशाल हृदय थे । प्रत्येक बात मे उनका दृष्टिकोण उच्चतम लक्ष्य की ओर रहता था ।

घोरगुणे—(घोरगुण) वे तपस्या, ज्ञान, कठोर चारित्र आदि विशिष्ट गुणो के धारक थे । घोर शब्द से उन गुणो की ओर सकेत किया गया है जहा किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्बलता के लिए स्थान नही होता ।

घोर-तवस्सी-घोरबभचेरवासी—(घोरतपस्वी-घोरब्रह्मचर्यवासी) इन दोनों विशेषणो मे भी यही बताया गया है, कि उनकी तपस्या एव कठोर ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्बलता के लिए अवकाश न था । उन्हे देख कर दूसरे आश्चर्यचकित हो जाते थे ।

उच्छूढ सरीरे—(उत्सृष्टशरीर) उन्होने अपने शरीर का परित्याग कर रखा था अर्थात् खाना पीना, चलना फिरना आदि कार्य करने पर भी ममत्व छोड रखा था । उपनिषदो मे इसी अर्थ को लेकर जनक को वैदेह कहा गया है ।

सखित्त-विउल-तेउ-लेस्से—(सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य) यहाँ तेजो लेश्या का अर्थ है दूसरो को भस्म कर देने की शक्ति । यह उग्र तपस्या के फलस्वरूप अपने आप प्रकट होती है । गौतम स्वामी में यह शक्ति विपुल अर्थात् प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी किन्तु उन्होने इसे अपने ही शरीर मे समेट रखा था । प्रचुर शक्ति होने पर भी उन्होने उसका कभी प्रयोग नही किया । जैन परम्परा मे तपोजन्य विभूतियों के लिए गौतम स्वामी को आदर्श माना जाता है ।

छट्ठ-छट्ठेण—(षष्ठषष्ठेन) एक प्रकार की तपस्या है । इसका अर्थ है छ भोजनो का परित्याग—अर्थात् पहले दिन सायकाल का भोजन न करे, दूसरे दिन तथा तीसरे दिन पूर्ण उपवास रखे । और चौथे दिन प्रात कालीन भोजन करे । इस प्रकार इसमे २ दिन का पूर्ण उपवास और दो दिन एक एक समय भोजन करना होता है । गौतम स्वामी इस प्रकार का तप निरन्तर कर रहे थे अर्थात् छट्ठ करके पारणा करते थे और फिर छट्ठ कर लेते थे । इस प्रकार दीर्घकाल से उनका तप निरन्तर चल रहा था जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की शान्तिचन्द्रीया वृत्ति मे गौतम स्वामी का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

"अनन्तरोक्त विशेषणे हीन सहननोऽपिस्यादत आह 'वज्ज' त्ति वज्रर्षभनाराच-

सहनन, तत्र नाराचम् उभयतो मर्कटबन्ध, ऋषभ तदुपरिवेष्टनपट्ट, कीलिका—अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एव रूप सहनन यस्य स तथा, अय च निन्द्यवर्णोऽपिस्यादत आह—'कणग' त्ति कनकस्य-सुवर्णस्य पुलको—लवस्तस्य यो निकष कषपट्टके रेखारूप तद्वत् तथा 'पम्ह' त्ति अवयवे समुदायोपचारात पद्म शब्देन पद्मकेसराण्युच्यन्ते तद्वद गौर इति, अय च विशिष्ट चरणरहितोऽपिस्यादत आह उग्रम्—अप्रधृष्य तप —अनशनादि यस्य स तथा यदन्येन चिन्तितुमपि न शक्यते तद्विधेन तपसायुक्त इत्यर्थ, तथा दीप्त जाज्वल्यमान दहन इव कमवनगहनदहन समर्थतया ज्वलित तपोधमध्यानादि यस्य स तथा, तथा तप्त तपो येन स तथा। एव हि तेन तप्त तपो येन सर्वाण्यशुभानि कर्माणि भस्मसात्कृतानीति, तथा महत् प्रशस्तमाशसादि दोषरहितत्वात् तपो यस्य स तथा, तथा उदार —प्रधान अथवा ओरालो—भीष्म, उग्रादि विशेषेण विशिष्ट तप करणत पार्श्वस्थानामल्पसत्वाना भयानक इत्यथ, तथा घोरो निर्घृण परीष-हेन्द्रियादिरिपुगण विनाशनमाश्रित्य निदय इत्यर्थ, अन्येतु आत्मनिरपेक्ष घोरमाहु, तथा घोरा—इतरैर्दुरनुचरागुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी तथा घोर—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद यद् ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तु शील यस्य स तथा। 'उच्छूढ'—उज्झित सस्कारपरित्यागात् शरीर येन स तथा। सक्षिप्ता—शरीरान्तर्ग-तत्वेन ह्रस्वता गता विपुला विस्तीर्णा अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तु दहन समर्थत्वात् तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्य लब्धिविशेष प्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। चतुर्दश—पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य स तथा, तेन तेषा रचितत्वात्, अनेन तस्य श्रुत-केवलितामाह—स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—चतुर्ज्ञानोपगत, मति-श्रुतावधिमन पर्यायरूप ज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थ। उक्त विशेषणद्वयकलितोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुदशपूर्वविदा षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणात्, अत आह सर्वे च ते अक्षर सन्निपाताश्च अक्षरसयोगास्ते ज्ञेयतया सन्ति यस्य स तथा किमुक्त भवति? या काचिज्जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवन्ति ता सर्वा अपि जानाति अथवा श्रव्यानि—श्रुतिसुखकारीणि अक्षराणि साकल्येन नितरा वदितु शीलमस्येति स तथा एव गुणविशिष्टो भगवान विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्तेन विहरतीति योग, तत्र दूर—विप्रकृष्ट सामन्त सन्निकृष्ट तत्प्रतिषेधाददूरसामन्त तत्र नातिदूरे नातिनिकटेत्यर्थ, किं विध सन् तत्र विहरतीति? ऊर्ध्वं जानुनी यस्य स

तथा, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिक निषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थ, अध शिरो—नोर्ध्वं तिर्यग् वा निक्षिप्त दृष्टि, किन्तु नियत भूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थ, ध्यान धर्म शक्ल वा तदेव कोष्ठ—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपागत । यथाहिकोष्ठके धान्य निक्षिप्तमविप्रसृत भवति एव भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्त करण-वृत्तिरित्यर्थ, सयमेन—पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन, तपसा अनशनादिना च शब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्य, सयमतपसोग्रहण चानयो प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्याप नार्थं प्राधान्य च सयमस्य नवकर्मानुपादान हेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरा हेतुत्वेन, भवति चाभिनवकर्मानुपादानात पुराणकर्म क्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणे मोक्ष इति, आत्मान भावयन्—वासयन् विहरीति तिष्ठतीत्यर्थ ।"

भावार्थ—उक्त सदर्भ मे श्री गौतमस्वामी की शारीरिक एव आध्यात्मिक सम्पदा सक्षेप मे वर्णित है—"जैसे—भगवान गौतम की सहनन वज्रऋषभनाराच थी जो कि अत्यन्त दृढ एव शक्तिशाली होती है। उनके शरीर का वर्ण कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा तथा पद्म कमल के पराग की भान्ति गौर और मनोहारी था। इस प्रकार विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त होने पर भी उग्र तप करते थे जिस का साधारण व्यक्ति चिन्तन भी नही कर सकते। वे तप तथा धर्म ध्यान की जाज्वल्यमान ज्वाला से कर्म महावन को दहन कर रहे थे। वे आशसारहित तपस्तेज से उद्दीप्त थे। उनके महा-तपश्चरण को देखकर पार्श्वस्थ एव हीनसत्त्व व्यक्ति भयभीत होते थे। व इन्द्रिय और परीषह शत्रुओ को निर्दयता से दमन कर रहे थे। उन्होने शरीर सत्कार और ममत्व को छोडकर दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया हुआ था। भगवान गौतम सदैव मूल तथा उत्तर गुण की आराधना मे तत्पर रहते थे। उग्र तप एव भीष्म ब्रह्मचर्य व्रत से योजनो परिमाण क्षेत्र मे स्थित वस्तुओ का भस्म करने मे समर्थ तेजोलेश्या लब्धि विशेष उत्पन्न हो गई थी। जिसको उन्होने अपने आध्यात्म म सक्षिप्त किया हुआ था।

चौदह पूर्व के रचयिता होने से वे चतुर्दश पूर्वधर थे। सभी चतुर्दश पूर्वधारी भी समग्रश्रुत के धारक नहीं होते, उन म भी षाड्गुण्य हानि-वृद्धियुक्त तथा अवधि-ज्ञान के विकल होते हैं। परन्तु, गौतम मति श्रुति अवधि और मन पर्याय चार ज्ञान सम्पन्न थे। सूत्रकर्त्ता ने 'सव्वक्खरसन्निवाई' पद दिया है अर्थात उनका ज्ञान इतना विमल व विशिष्ट था कि ससार मे जितनी भी पदानुपूर्वी, वाक्यानुपूर्वी सम्भव हो

सकती हैं, एक पद या एक वाक्य मात्र कहने से समस्त विषय को वे सम्यक् प्रकार से जान लेते थे ।

श्री गौतम ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार सम्पन्न होते हुए भी निरभिमानी और विनय की जीती जागती मूर्ति थे। अत इन विशेषताओ से युक्त, सचित्त भूमि वर्ज कर उत्कुटुक आसन ऊर्ध्वजानु और शिर कुछ झुकाए भूमि-गत दृष्टि, धर्मध्यान को ध्याते हुए न अति दूर न अति समीप, मोक्ष हेतु सयम और तप से अपनी आत्मा को सुवासित करते हुए भगवान महावीर के चरणो मे विचरण कर रहे थे।"

गौतम स्वामी का भिक्षा के लिए जाना—

मूलम—तए ण स भगव गोयमे छट्ठक्खमणपारणगसि पढमाए पोरिसीए सज्झाय करेइ, बिइयाए पोरिसीए झाण झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरिय अचवल असभते मुहपत्ति पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता, भायण-वत्थाइ पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण वत्थाइ पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइ, उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समण भगव महावीर वदइ, नमसइ, वदित्ता, नमसित्ता एव वयासी—"इच्छामि ण भते ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगसि वाणियगामे नयरे उच्चनीय मज्झिमाइ कुलाइ घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडितए।" "अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह" ॥८४॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम षष्ठक्षपणपारणके प्रथमाया—पौरुष्या स्वाध्याय करोति, द्वितीयाया पौरुष्या ध्यान ध्यायति, तृतीयाया पौरुष्यमत्वरितम-चपलमसम्भ्रान्तो मुखवस्त्रिका प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजन वस्त्राणि प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजनवस्त्राणि प्रमार्जयति प्रमार्ज्य भाजनान्युद्गृह्णाति, उद्गृह्य येनैव श्रमणे भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—"इच्छामि खलु भदन्त ! युष्माभिरभ्यनुज्ञात षष्ठ-

क्षपणपारणके वाणिज्यग्रामनगरे उच्च-नीच मध्यमानि कुलानि गृह समुदानस्य भिक्षाचर्यायै अटितुम् ।" "यथासुख देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्ध कुरु ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण-पारणगसि—षष्ठक्षपणा के अर्थात् बेला उपवास के पारणे के दिन पढमाए पोरिसीए—*प्रथम पौरुषी मे सज्झाय करेइ—स्वाध्याय किया, बिइयाए पोरिसीए—दूसरी पौरुषी* मे झाण झियाइ—ध्यान किया तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी मे अतुरिय—शीघ्रता रहित अचवल—चपलता रहित असभते—असम्भ्रान्त होकर मुहपत्ति पडिलेहेइ—मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ—पात्र और वस्त्रो की पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ —पात्र और वस्त्रो का पमज्जइ—प्रमार्जन किया पमज्जित्ता—प्रमार्जन करके भायणाइ—पात्रो को *उग्गाहेइ—उठाया, उग्गाहित्ता—उठाकर जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान महावीर थे, तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए, उवागच्छित्ता—* आकर समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को वदइ नमसइ—वन्दना नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा भते—भगवन् ! तुब्भेहिं—आपकी अब्भणुण्णाए—अनुमति प्राप्त होने पर छट्ठक्खमणपारणगसि—बेलापारणा के लिए वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे उच्चनीयमज्झिमाइकुलाइ—उच्च नीच और मध्यम कुलो की घरसमुदाणस्स—गृह-समुदानी-सामूहिक घरो से, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडित्तए—पर्यटन *करना इच्छामिण—चाहता हूँ, भगवान ने उत्तर दिया देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय !* अहासुह—जैसे तुम को सुख हो मा पडिबधकरेह—विलम्ब न करो ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण—बेलापारणे के दिन पहली पौरुषी मे स्वाध्याय किया दूसरी पौरुषी में ध्यान किया, तीसरी पौरुषी मे बिना शीघ्रता के, चपलता एव उद्वेग के बिना शान्त चित्त से मुख वस्त्रिका एव पात्रो वस्त्रो की प्रतिलेखना की और परिमार्जन किया। तत्पश्चात् जहा श्रमण भगवान महावीर थे वहा पहुँचे, उन्हे वन्दना नमस्कार किया और पूछा भगवन ! आपकी अनुमति प्राप्त होने पर मैं बेलापारणे के लिए वाणिज्य

ग्राम मे उच्च, मध्यम तथा अधम सभी कुलो मे समुदानीकी भिक्षाचर्या करना चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, विलम्ब मत करो भगवान ने उत्तर दिया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे पारणे के दिन का वणन किया गया है। गौतम स्वामी ने पहले प्रहर मे शास्त्रो का स्वाध्याय किया दूसरे मे ध्यान और तीसरे मे मुखवस्त्रिका पात्र एव वस्त्रो की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भगवान महावीर के पास पहुँचे। वन्दना नमस्कार के पश्चात भिक्षाथ वाणिज्यग्राम मे जाने की अनुमति मांगी **'पढमाए पोरिसीए-प्रथमाया पौरुष्या'** पौरुषी शब्द का अथ पहर है, इसका यौगिक अथ है पुरुष की छाया के आधार पर निश्चित किया गया काल परिमाण। हमारी छाया प्रात काल लम्बी होती है और घटते २ मध्याह्न मे सक्षिप्त हो जाती है, दोपहर के बाद फिर बढने लगती है। इसी आधार पर जैनकाल गणना मे दिन को चार पोरिसिओ मे विभक्त किया है। आजकल भी जैन साधु एव श्रावको द्वारा काल मर्यादा स्थिर करने की परम्परा विद्यमान है। जैन शास्त्रो मे पोरिसी नाम का प्रत्याख्यान भी है, जिसमे व्यक्ति सूर्योदय के पश्चात् एक प्रहर या दो पहर तक अन्न एव जल ग्रहण न करने का निश्चय करता है। प्रथम पहर मे स्वाध्याय तथा द्वितीय पहर मे ध्यान। इसी प्रकार भगवान् गौतम स्वामी दो पहर तक आत्मचिंतन मे लगे रहे। तृतीय पहर प्रारम्भ होने पर अपना व्रत पूरा किया और प्रतिलेखना आदि दैनिक कार्यो मे लग गए। साधारणतया साधुओ के लिए यह विधान है कि प्रतिदिन प्रात सूर्योदय होने पर और साय सूर्यास्त से पहले प्रतिलेखन करनी चाहिए, किन्तु गौतम स्वामी भोजन आदि का परित्याग करके जबतक एकान्त आत्म-चिन्तन मे लीन रहे जब तक अन्य दैनिक कार्यों को स्थगित कर दिया।

साधारणतया भिक्षा का समय—पहला पहर बीतने पर होना है, किन्तु गौतम स्वामी ने छट्ठ भक्त कर रखा था, उसकी मर्यादा के अनुसार चौथे दिन भी दो पहर मे पहिले भोजन नही करना चाहिए इसी लिए वे तीसरे पहर भिक्षा के लिए गए।

उच्च नीच—भिक्षा के लिए घूमते समय गौतम स्वामी ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि जिस घर मे वे जा रहे हैं वे सम्पन्न हैं या दरिद्र, बिना भेद भाव के वे प्रत्येक घर मे घूमने लगे।

सामुदानीकी—भिक्षा के लिए घूमते समय कई प्रकार की चर्याओ का विधान है। उदाहरण के रूप म गोमूत्रिका नाम की एक चर्या है। इसमे साधु गली मे घूमता है। एक ओर के एक घर से भिक्षा लेकर दूसरी ओर चला जाता है और फिर उसी ओर आकर दूसरे घर से भिक्षा लेता है। सामुदानीकी चर्या मे एक ही किनारे के बीच मे बिना किसी घर को छोडे भिक्षा लेता चला जाता है। गौतम स्वामी ने सामुदानीकी भिक्षा की।

अतुरिय—इत्यादि, दो दिन के उपवास का पारणा होने पर भी गौतम स्वामी ने सारे दैनिक कृत्य स्थिरता एव धैर्यपूर्वक किए, उनमे न किसी प्रकार की त्वरा थी, न चपलता और न सम्भ्रम अर्थात् घबराहट। साधक के लिए यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अपनी साधना काल मे तथा उसके पश्चात् भी धैर्य एव दृढता से काम ले।

प्रतिलेखना आदि करके गौतम स्वामी भगवान् महावीर के पास गए। वन्दना नमस्कार किया और भिक्षार्थ वाणिज्यगाम मे घूमने की अनुज्ञा माँगी। भगवान न उत्तर दिया—'अहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबध करेह' अर्थात् ह देवानुप्रिय! तुम्हे जैसा सुख हो, प्रतिबध अर्थात् रुकावट मत आने दो। भगवान महावीर का यह उत्तर जैनागमो मे सवत्र मिलता है, किसी भी यथाप्राप्त उचित काय के लिए अनुज्ञा माँगने पर वे कहा करते थे—"जैसा तुम्हे सुख हो, देर मत करो।" यह उत्तर एक ओर इस बात को प्रकट करता है कि वे शुभ कार्य के लिए भी अपनी आज्ञा किसी पर लादते नही थे, साथ ही देरी मत करो कह कर उसके उत्साह को बढाते भी थे।

मूलम—तए ण भगव गोयमे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए-समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसभते जुगतर परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ ईरिय सोहेमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइ कुलाइ घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ ॥ ७५ ॥

छाया—तत खलु भगवान गौतम श्रमणेन भगवता महावीरेणाभ्यनुज्ञात सन् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकाद् दूतिपलाशाच्चत्यात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्र-

म्यात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो युगान्तरपरिलोकनया दृष्ट्या पुरत ईर्या शोधयन् येनैव वाणिज्यग्राम नगर तेनैवोपागच्छति, उपागत्य वाणिज्यग्रामे नगरे उच्चनीय-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदान-भिक्षाचर्यायै अटति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर भगव गोयमे—भगवान् गौतम समणेण भगवया महावीरेण—श्रमण भगवान महावीर से अब्भणुण्णाए समाणे—अनुमति मिल जाने पर समणस्स भगवग्रो महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतियाग्रो—पास से दूइपलासाग्रो—दूतिपलाश चेइयाग्रो—चैत्य से पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्ख-मित्ता—निकलकर अतुरिय—विना शीघ्रता किए, अचवले—चपलता रहित असभते—असम्भ्रान्त होकर अर्थात जुगतर परिलोयणाए दिट्ठीए—युगपरिमाण अवलोकन करने वाली दृष्टि से पुरओ—आगे की ओर ईरिय—ईर्या का सोहेमाणे—शोधन करते हुए, जेणेव वाणियगामे नयरे—जहा वाणिज्य ग्राम नगर था, तेणेव—वहा उवागच्छइ पहुँचे, उवागच्छित्ता—पहुँचकर, वाणियगामे नयरे—वाणिज्य ग्राम नगर मे उच्च-नीयमज्झिम कुलाइ—उत्तम, मध्यम, अधम कुलो मे घरसमुदाणस्स—गृह समुदानी भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडइ—भ्रमण करने लगे ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान गौतम भगवान् महावीर की अनुमति मिलने पर दूतिप-लाश उद्यान से निकले, चपलता तथा घबराहट के बिना धैर्य एव शान्ति के साथ साढे तीन हाथ तक मार्ग पर दृष्टि डालते हुए वाणिज्य ग्राम नगर मे आए, और उच्च, नीच एव मध्यम कुलो मे यथा क्रम भिक्षाचर्या के लिए घूमने लगे ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे गौतम स्वामी के भिक्षार्थ पर्यटन का वर्णन है । पिछले पाठ मे प्रतिलेखना से पहले जो तीन क्रियाविशेषण दिए गए थे वे यहा पुन दिए गए हैं अर्थात् भिक्षा के लिए घूमते समय भी गौतम स्वामी मे किसी प्रकार की त्वरा, चपलता या घबराहट नही थी ।

जुगन्तर—युग का अर्थ है गाडी का जुवा जो बैलो के कन्धे पर रखा जाता है, उसकी लम्बाई साढे तीन हाथ मानी जाती है । साधु के लिए यह विधान है कि वह चलते समय सामने की ओर साढे तीन हाथ तक भूमि देखता चले, इधर-उधर या बहुत दूर न देखे ।

ईरियं सोहेमाणे—साधु के आचार मे सत्रह प्रकार का सयम बताया गया है—पाच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और चार कषायो का दमन। समिति का अर्थ है—चलने, फिरने, बोलने, भिक्षा करने तथा वस्त्र पात्र आदि को उठाने, रखने मे सावधानी। सब प्रथम ईर्यासमिति है इसका अर्थ है—चलने म सावधानी। प्रस्तुत पक्ति मे यह बताया गया है कि गौतम स्वामी ईर्यासमिति का शोधन या पालन करते हुए घूमने लगे। वाणिज्य ग्राम मे वे उच्च-नीच तथा मध्यम समस्त कुलो मे सामुदानीकी भिक्षाचर्या करने लगे।

गौतम द्वारा आनन्द की चर्याविषयक समाचार का श्रवण—

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्त भत्तपाण सम्म पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहित्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामतेण वीईवयमाणे, बहुजण सद्द निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—"एव खलु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अतेवासी आणदे नाम समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव अणवकखमाणे विहरइ ॥ ७६ ॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतमो वाणिज्यग्रामे नगरे—यथाप्रज्ञप्त्या यावद् भिक्षाचर्यायै अटन् यथा पर्याप्त भक्तपान सम्यक् प्रतिगृह्णाति, प्रतिगृह्य वाणिज्य ग्रामात् प्रतिनिर्गच्छति, प्रतिनिर्गत्य कोल्लाकस्य सन्निवेशस्याऽदूरसामन्ते व्यतिव्रजन् बहुजनशब्द निशाम्यति। बहुजनोऽन्यान्यस्मै एवमाख्याति ४—"एव खलु देवानुप्रिया! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी आनन्दो नाम श्रमणोपासक पौषधशालायामपश्चिम यावत् अनवकाक्षन् विहरति।"

भावार्थ—तए ण—तदनन्तर से—उस भगव गोयमे—भगवान् गौतम ने वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे जहापण्णत्तीए तहा—यथा व्याख्या प्रज्ञप्ति म कहा है, उसी प्रकार जाव—यावत भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या क लिए अडमाणे—भ्रमण करते हुए अहापज्जत्त—यथापर्याप्त भत्तपाण—भक्तपान सम्म—सम्यक रूप से

पडिग्गाहेइ—ग्रहण किया, पडिग्गाहित्ता—ग्रहण करके वाणियगामाओ—वाणिज्यग्राम नगर से पडिणिगच्छइ—निकले, पडिणिगच्छित्ता—निकल करके कोल्लायस्स सन्निवेसस्स—जब वे कोल्लाक सन्निवेश के अदूरसामन्तेण—पास से वीइवयमाणे—जा रहे थे तो बहुजण सद्द—बहुत से मनुष्यो को निसामेइ—यह कहते हुए सुना, बहुजणो—बहुत मनुष्य अन्नमन्नस्स—परस्पर एवमाइक्खइ—इस प्रकार कह रहे थे—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो ! एव खलु—इस प्रकार समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर का अतेवासी—शिष्य आणदे नाम—आनन्द नामक श्रावक पोसहसालाए—पौषध शाला मे अपच्छिम जाव अणवकखमाणे—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना किए हुए यावत् मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए विहरइ—विचर रहा है।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने वाणिज्यग्राम नगर मे व्याख्या प्रज्ञप्ति मे वर्णित साधुजनोचित कल्प के अनुसार भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त अन्नजल ग्रहण किया और वाणिज्यग्राम नगर से बाहर निकल कर कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुँचे। बहुत से मनुष्यो को बात करते हुए सुना कि—हे देवानुप्रियो ! श्रमण भगवान महावीर का शिष्य आनन्द श्रमणोपासक पौषधशाला में अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना किए हुए यावत् जीवन मरण की आकाक्षा न रखते हुए विचर रहा है।

गौतम का आनन्द के पास पहुँचना—

मूलम्—तए ण तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिय ४ "त गच्छामि ण आणद समणोवासय पासामि।" एव सपेहेइ, सपेहित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव आणदे समणोवासए, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ ॥ ७७ ॥

छाया—तत खलु तस्य गौतमस्य बहुजनस्यान्तिके एतदर्थं श्रुत्वा एतद्रूप अध्यात्मिक ४—तद गच्छामि खलु आनन्द श्रमणोपासक पश्यामि, एव सप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य येनैव कोल्लाक सन्निवेशो येनैव आनन्द श्रमणोपासक येनैव पौषधशाला तेनैव उपागच्छति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स गोयमस्स—गौतम स्वामी को बहुजणस्स अतिए—बहुत लोगो से एय—यह बात सोच्चा—सुनकर निसम्म—ग्रहण करके अयमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार आया कि त गच्छामिण—मैं जाऊँ और आणद समणोवासय—आनन्द श्रमणोपासक को पासामि—देखूँ, एव सपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, सपेहित्ता—विचार करके जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे—जिस ओर कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव पोसहसाला—और जिस ओर पौषधशाला थी, जेणेव आणदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रावक था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए।

भावार्थ—अनेक मनुष्यो से यह बात सुनकर गौतमजी के मन मे यह विचार आया कि मैं इधर का इधर ही जाऊँ, और आनन्द श्रमणोपासक को देखूँ। यह विचार कर वे कोल्लाक सन्निवेश मे स्थित पौषधशाला में बैठे हुए आनन्द श्रावक के पास आए।

टीका—भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम स्वामी कोल्लाक सन्निवेश मे पहुँचे वहाँ उन्होंने परस्पर चर्चा करते हुए लोगो से आनन्द के विषय म सुना कि किस प्रकार उसने सलेखना व्रत ले रखा है, और आमरण भोजन तथा पानी का परित्याग कर दिया है। उनके मन मे भी आनन्द के पास जाने की उत्कठा जागृत हुई।

आनन्द को गौतम स्वामी का अपने पास आने का निमन्त्रण—

मूलम्—तए ण से आणदे समणोवासए भगव गोयम एज्जमाण पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगव गोयम वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—"एव खलु भन्ते! अह इमेण उरालेण जाव धमणिसतए जाए, नो सचाएमि देवाणुप्पियस्स अतिय पाउब्भवित्ता ण तिक्खुत्तो मुद्धाणेण पाए अभिवदित्तए, तुब्भे ण भन्ते! इच्छाकारेण अणभिओगेण इओ चेव एह, जा ण देवाणुप्पियाण तिक्खुत्तो मुद्धाणेण पाएसु वदामि नमसामि" ॥ ७८ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको भगवन्त गौतम ईर्यमाण पश्यति। दृष्ट्वा हृष्ट—यावद् हृदयो भगवन्त गौतम वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवम

वादीत—"एव खलु भदन्त ! अहमनेनोदारेण यावद् धमनिस ततो जात, नो शक्नोमि देवानुप्रियस्यान्तिक प्रादुर्भूय त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादावभिवन्दितुम्। यूय भदन्त ! इच्छाकारेणानभियोगेनेतश्चैव एत, यस्मात् खलु देवानुप्रियाणा त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादयोवन्दे नमस्यामि।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से आणदे समणोवासए—उस आनन्द श्रमणोपासक ने भगव गोयम—भगवान गौतम को एज्जमाण—आते हुए पासइ—देखा, पासित्ता—देख कर हट्ठ जाव हियए—हृष्ट तुष्ट यावत प्रसन्न हृदय होकर भगव गोयम—भगवान गौतम को वदइ नमसइ—वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा भते !—हे भगवन ! एव खलु—इस प्रकार अह—मैं इमेण उरालेण—इस उदार तपस्या से जाव—यावत धमणिसतए—धमनियो से व्याप्त जाए—हो गया हूँ, अत देवाणुप्पियस्स—देवानुप्रिय के अतिय—पास मे पाउब्भवित्ता ण—आकर तिक्खुत्तो—तीन बार मुद्धाणेण—मस्तक से पाए—पैरो को अभिवदित्तए—वन्दना करने मे नो सचाएमि—समर्थ नही हूँ भते !—हे भगवन आप ही इच्छाकारेण—स्वेच्छापूर्वक अणभिओगेण—और बिना किसी दबाव के इओ चेव—यहाँ एह—पधारिए, जा ण—जिससे मै देवाणुप्पियाण—देवानुप्रिय को तिक्खुत्तो—तीन बार मुद्धाणेण—मस्तक द्वारा पाएसु—चरणो मे वदामि नमसामि—वन्दना नमस्कार करूँ।

भावार्थ—आनन्द श्रावक ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा और अतीव प्रसन्न हो कर उन्हे नमस्कार कर इस प्रकार कहा—"हे भगवन् ! मै उग्रतपस्या के कारण अतीव कृश हो गया हूँ कि बहुना, सारा शरीर उभरी हुई नाडियो मे व्याप्त हो गया है। अत देवानुप्रिय के समीप आने तथा तीन बार मस्तक झुका कर चरणो मे वन्दना करने मे असमर्थ हूँ। भगवन ! आप ही स्वेच्छापूर्वक बिना किसी दबाव के मेरे पास पधारिए, जिससे देवानुप्रिय के चरणो मे तीन बार मस्तक झुका कर वन्दना कर सकूँ।

टीका—गौतम स्वामी को आया जान कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुआ। किन्तु उसमे इतनी शक्ति नही थी कि उठकर उनके सामने जाता और वन्दना नमस्कार

करता। आनन्द उपासकने लेटे ही लेटे प्रसन्नता प्रकट की और चरण स्पर्श करने के लिए उन्हें समीप आने की प्रार्थना की।

इच्छाकारेण—इसका अर्थ है स्वेच्छापूर्वक, जैन आगमों में गुरुजनों से किसी प्रकार का अनुरोध करते समय इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अनभियोगेण—अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग या बाध्य करना। प्रस्तुत सूत्र में आनन्द गौतम स्वामी से प्रार्थना करते समय अनभियोग शब्द का प्रयोग करता है। इस पाठ से तीन बातें प्रकट होती हैं—१ गौतम स्वामी के आने पर आनन्द का प्रसन्न होना, वह तपस्या से कृश हो गया था, और सारे शरीर पर नसें उभर आई थीं, फिर भी उसके मन में शान्ति थी और गुरुजन के आने पर उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। २ वह इतना कृश हो गया था कि शय्या में उठने की सामर्थ्य ही नहीं रही, फिर भी गौतम स्वामी के प्रति आदर एवं भक्ति प्रकट करने की पूरी भावना थी। इसीलिए उसने संकोच के साथ उन्हें अपने पास आने की प्रार्थना की। इसका अर्थ है श्रावक को सामान्यतः गुरुजनों के समीप जाकर ही वन्दना नमस्कारादि करना चाहिए किन्तु अशक्ति आदि के कारण अपवाद रूप में इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। ३ गुरुजनों से प्रार्थना आदेश के रूप में नहीं की जाती इसी लिए यहाँ 'इच्छाकारेण और अनभियोगेण' शब्दों का प्रयोग है।

आनन्द द्वारा अपने अवधि ज्ञान की सूचना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ ७९ ॥

तए णं से आणंदे भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"अत्थि णं भंते! गिहिणो गिह-मज्झावसंतस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ?" "हंता अत्थि", "जइ णं भंते! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ, एवं खलु भंते! ममवि गिहिणो गिहमज्झाव-संतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयण-सयाइं जाव लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि ॥ ८० ॥

छाया—तत खलु स भगवान गौतम येनैव आनन्द श्रमणोपासक तेनैव उपागच्छति ।

तत खलु स आनन्दो भगवतो गौतमस्य त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादौ वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त ! गृहिणो गृहमध्यावसतोऽवधिज्ञान समुत्पद्यते ?" "हन्त ! अस्ति ।"

"यदि खलु भदन्त ! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, एव खलु भदन्त ! ममापि गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञान समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि यावत् लोलुपाच्युत नरक जानामि पश्यामि ।

शब्दार्थ—तए ण—तत्पश्चात् से भगव गोयमे—भगवान् गौतम जेणेव आणदे समणोवासए—जहा आनन्द श्रमणोपासक था तेणेव—वहा उवागच्छइ—आए ।

तए ण—तदनतर से आणदे—आनन्द ने भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम को तिक्खुत्तो—तीन बार मुद्धाणेण—मस्तक से पाएसु—पैरो मे वदइ—वन्दना की नमसइ—नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—अत्थि ण भते—भगवन् ! क्या गिहिणो—गृहस्थ को गिहमज्झावसतस्स—घर मे रहते हुए ओहिनाण—अवधिज्ञान समुपज्जइ ?—उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने उत्तर दिया हता अत्थि—हाँ हो सकता है, पुन आनन्द ने कहा—भते !—हे भगवन् जइ ण—यदि गिहिणो जाव समुपज्जइ—गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो भते !—हे भगवन् एव खलु—इस प्रकार मम वि गिहिणो—मुझ गृहस्थ को भी गिहमज्झावसतस्स—घर मे रहते हुए को ओहिनाणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, पुरत्थिमेण—पूर्व की ओर लवण समुद्दे—लवण समुद्र पच जोयण—सयाइ—पाँच सौ योजन जाव—यावत् लोलुयच्चुय—लोलुपाच्युत नरय—नरक को जाणामि पासामि—जानता हूँ, देखता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के पास आए ।

उसने उन्हे तीन बार मस्तक झुका कर वन्दना नमस्कार किया और पूछा—भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम—"हा आनन्द हो सकता है ।" आनन्द—'भगवन् यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान

करता। आनन्द उपासकने लेटे ही लेटे प्रसन्नता प्रकट की और चरण स्पर्श करने के लिए उन्हे समीप आने की प्रार्थना की।

इच्छाकारेण—इसका अर्थ है स्वेच्छापूर्वक, जैन आगमों मे गुरुजनों से किसी प्रकार का अनुरोध करते समय इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अनभियोगेण—अभियोग का अर्थ है—*बलप्रयोग या बाध्य करना*। प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द गौतम स्वामी से प्रार्थना करते समय अनभियोग शब्द का प्रयोग करता है। इस पाठ से तीन बातें प्रकट होती हैं—१ गौतम स्वामी के आने पर आनन्द का प्रसन्न होना, वह तपस्या से कृश हो गया था, और सारे शरीर पर नसें उभर आई थी, फिर भी उसके मन मे शान्ति थी और गुरुजन के आने पर उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। २ वह इतना कृश हो गया था कि शय्या से उठने की सामर्थ्य ही नही रही, फिर भी गौतम स्वामी के प्रति आदर एव भक्ति प्रकट करने की पूरी भावना थी। इसीलिए उसने सकोच के साथ उन्हे अपने पास आने की प्रार्थना की। इसका अर्थ है श्रावक का सामान्यत गुरुजनो के समीप जाकर ही वन्दना नमस्कारादि करना चाहिए किन्तु अशक्ति आदि के कारण अपवाद रूप मे इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। ३ गुरुजनों से प्रार्थना आदेश के रूप मे नही की जाती इसी लिए यहाँ 'इच्छाकारेण और अनभियोगेण' शब्दो का प्रयोग है।

आनन्द द्वारा अपने अवधि ज्ञान की सूचना—

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे जेणेव आणदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ ७९ ॥

तए ण से आणदे भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेण पाएसु वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—"अत्थि ण भते! गिहिणो गिहमज्झावसतस्स ओहिनाण समुपज्जइ?" "हता अत्थि", "जइ ण भते! गिहिणो जाव समुपज्जइ, एव खलु भते! ममवि गिहिणो गिहमज्झावसतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे ण लवणसमुद्दे पचजोयण-सयाइ जाव लोलुयच्चुयं नरय जाणामि पासामि ॥ ८० ॥

छाया—तत खलु स भगवान गौतम येनैव आनन्द श्रमणोपासक तेनैव उपागच्छति ।

तत खलु स आनन्दो भगवतो गौतमस्य त्रि कृत्वो मूर्ध्ना पादौ वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त ! गृहिणो गृहमध्यावसतोऽवधिज्ञान समुत्पद्यते ?" "हन्त ! अस्ति ।"

"यदि खलु भदन्त ! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, एव खलु भदन्त ! ममापि गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञान समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन शतानि यावत् लोलुपाच्युत नरक जानामि पश्यामि ।

शब्दार्थ—तए ण—तत्पश्चात् से भगव गोयमे—भगवान् गौतम जेणेव आणदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रमणोपासक था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए ।

तए ण—तदनन्तर से आणदे—आनन्द ने भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम को तिक्खुत्तो—तीन बार मुद्धाणेण—मस्तक से पाएसु—पैरो मे वदइ—वन्दना की नमसइ—नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—अत्थि ण भते—भगवन् ! क्या गिहिणो—गृहस्थ को गिहमज्झावसतस्स—घर मे रहते हुए ओहिनाण—अवधिज्ञान समुपज्जइ ?—उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने उत्तर दिया हता अत्थि—हाँ हो सकता है, पुन आनन्द ने कहा—भते !—हे भगवन् जइ ण—यदि गिहिणो जाव समुपज्जइ—गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो भते !—हे भगवन् एव खलु—इस प्रकार मम वि गिहिणो—मुझ गृहस्थ को भी गिहमज्झावसतस्स—घर मे रहते हुए को ओहिनाणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, पुरत्थिमेण—पूर्व की ओर लवण समुद्दे—लवण समुद्र पच जोयण—सयाइ—पाच सौ योजन जाव—यावत् लोलुयच्चुय—लोलुपाच्युत नरय—नरक को जाणामि पासामि—जानता हूँ, देखता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के पास आए ।

उसने उन्हे तीन बार मस्तक झुका कर वन्दना नमस्कार किया और पूछा—भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम—"हाँ आनन्द हो सकता है ।" आनन्द—'भगवन् यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान

उत्पन्न हो सकता है, तो मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैं पूर्व की ओर लवणसमुद्र मे पाँच सौ योजन तक, अधोलोक मे लोलुपाच्युत नरक तक जानने तथा देखने लगा हूँ।

गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर—

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे आणद समणोवासय एव वयासी—"अत्थि ण, आणदा! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ। नो चेव ण एअमहालए। त ण तुम, आणदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव तवोकम्म पडिवज्जाहि"॥ ८१॥

तए ण से आणदे भगवं गोयम एव वयासी—"अत्थि ण, भते! जिण-वयणे सताण तच्चाण तहियाण सब्भूयाण भावाण आलोइज्जइ जाव पडिवज्जिज्जइ?" "नो इणट्ठे समट्ठे।"

"जइ ण भते! जिण-वयणे सताण जाव भावाण नो आलोइज्जइ जाव तवो कम्म नो पडिवज्जिज्जइ, त ण भते! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव पडिवज्जह।" ॥८२॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"अस्ति खलु आनन्द! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, नो चैव खलु एतन्महालय, तत् खलु त्वमानन्द! एतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचय यावत्तप कर्म प्रतिपद्यस्व।"

तत खलु स आनन्दो भगवन्त गौतमेवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त! जिन-वचने सता तत्त्वाना तथ्याना सद्भूताना भावाना (विषये) आलोच्यते यावत प्रतिपद्यते?" गौतम—"नायमर्थ समर्थ।"

(आनन्द) "यदि खलु भदन्त! जिनवचने सता यावद् भावाना (विषये) नो आलोच्यते यावत् तप कर्म नो प्रतिपद्यते, तत् खलु भदन्त! यूयमेवैतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचयत यावत प्रतिपद्यध्वम्।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान् गौतम आणद समणोवासय—आनन्द श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार बोले—आणदा ! हे आनन्द ! अत्थि ण गिहिणो जाव समुप्पज्जइ—यह ठीक है कि गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ! नो चेव ण एअ महालए—किन्तु इतना विशाल नही, त ण—इसलिए आणदा ! हे आनन्द ! तुम—तुम एयस्स ठाणस्स—मृषावादरूप इस स्थान की आलोएहि—आलोचना करो जाव—यावत उसे शुद्ध करने के लिए तवोकम्म—तपस्या पडिवज्जहि—स्वीकार करो ।

तए ण—तत्पश्चात से आणदो—वह आनन्द समणोवासए—श्रमणोपसक भगव गोयम—भगवान् गौतम को एव वयासी—इस प्रकार बोला भते !—हे भगवन् ! अत्थि ण—क्या जिणवयणे—जिन शासन मे सताण—सत्य, तच्चाण—तात्त्विक, तहियाण—तथ्य तथा सब्भूयाण—सद्भूत भावाण—भावो के लिए भी आलोइज्जइ—आलोचना की जाती है ? जाव—और यावत् पडिवज्जिज्जइ—तप कर्म स्वीकार किया जाता है ? गौतम ने उत्तर दिया—नो इणट्ठे समट्ठे—ऐसा नही है, तब आनन्द ने कहा—भते!—हे भगवन् ! जइण—यदि जिणवयणे—जिन प्रवचन मे सताण जाव भावाण—सत्य आदि भावो की नो आलोइज्जइ—आलोचना नही होती जाव—यावत् उनके लिए तवोकम्म—तप कर्म नो पडिवज्जिज्जइ—नही स्वीकार किया जाता, त ण—तो भते !—हे भगवन् ! तुब्भ चेव—आप ही—एयस्स ठाणस्स—इस स्थान के लिए आलोएह—आलोचना कीजिए जाव—यावत् पडिवज्जह—तप कर्म स्वीकार कीजिए ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने आनन्द श्रावक से यह कहा कि—"हे आनन्द ! गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान तो उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इतना विशाल नही । अत हे आनन्द ! इस असत्य भाषण की आलोचना करो यावत् आत्म शुद्धि के लिए उचित तपश्चरण स्वीकार करो ।"

इसके पश्चात् आनन्द भगवान् गौतम से बोला—"हे भगवन् ! क्या जिन प्रवचन मे सत्य, तात्त्विक, तथ्य और सद्भूत भावो के लिए भी आलोचना की जाती है ? यावत् तप कर्म स्वीकार किया जाता है ?"

भगवान् गौतम ने उत्तर दिया—"आनन्द ! ऐसा नही हो सकता ।"

मता के अनुसार एक उपवास दो उपवास आदि छोटा-बडा तपश्चरण प्रायश्चित्त के रूप मे करले तो उस भूल के पुन होने की सभावना नही रहती। आत्म शुद्धि का यह मार्ग जैन परम्परा म अब भी प्रचलित है। जैन साधु एव श्रावक अपनी भूलो के लिए प्रतिदिन चिन्तन एव पश्चात्ताप करते हैं और छोटी-बडी तपस्या अगीकार करते हैं।

गौतम स्वामी महातपस्वी, महाज्ञानी तथा कठोर चर्या वाले साधु थे। आनन्द ने उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी जिस प्रकार उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। वह पूछता है—"क्या जैन शासन मे सत्य, तथ्य, तात्त्विक एव सद्भूत वस्तु के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना होता है ?" उसका यह वाक्य वैदिक परम्परा से जैन परम्परा का भेद प्रकट करता है, उसका अभिप्राय है कि जैन परम्परा किसी की आज्ञा के कथन या शब्द पर आधारित नही है अर्थात् यहाँ किसी के कथन मात्र से कोई बात भली या बुरी नहीं होती यहाँ तो सत्य ही एकमात्र कसौटी है।

गौतम का शकित होकर भगवान् के पास आना—

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे आणदेण समणोवासएण एव वुत्ते समाणे, सकिए कखिए विइगिच्छा समावन्ने, आणदस्स अतियाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगव महावीरे, तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ, २ त्ता एसणमणेसण आलोएइ आलोइत्ता भत्तपाण पडिदसइ, पडिदसित्ता समण भगव वदइ नमसइ, २ त्ता एव वयासी—"एव खलु भते! अह तुब्भेहि अब्भणुण्णाए त चेव सव्व कहेइ, जाव तए ण अह सकिए ३ आणदस्स समणोवासगस्स अतियाओ पडिणिक्खमामि, २ त्ता जेणेव इह तेणेव हव्वमागए, त ण भते! कि आणदेण समणोवासएण तस्स ठाणस्स आलोएयव्व जाव पडिवज्जेयव्व उदाहु मए ?"

"गोयमा!" इ समणे भगव महावीरे भगव गोयम एव वयासी-गोयमा! तुम चेव ण तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणद च समणोवासय एयमट्ठ खामेहि ॥ ८१ ॥"

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम आनन्देन श्रमणोपासकेनैवमुक्त सन् शङ्कित काक्षितो विचिकित्सा समापन्न आनन्दस्यान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य येनैव दूतिपलाशचैत्यो येनैव श्रमणो भगवान् महावीर तेनैव उपागच्छति, उपागत्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते गमनागमनस्य प्रतिक्रामति, प्रतिक्रम्य एषणमनेषणमालोचयति, आलोच्य भक्तपान प्रतिदर्शयति, प्रतिदर्श्य श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"एव खलु भदन्त ! अह युष्माभिरभ्यनुज्ञात तदेव सर्व कथयति यावत तत खल्वह शङ्कित ३ आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य अन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामामि प्रतिनिष्क्रम्य येनैवह तेनैव हव्यमागत, तत्खलु भदन्त ! किमानन्देन श्रमणोपासकेन तस्य स्थानस्याऽऽलोचितव्य यावत प्रतिपत्तव्यमुताहो मया ? "हे गौतम !" इति श्रमणो भगवान् महावीरो भगवन्त गौतममेवमवादीत्—"गौतम त्वमेव खलु तस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व आनन्द च श्रमणोपासकमेतस्मै अर्थाय क्षमापय।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान् गौतम आणदेण समणोवासएण—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर सकिए—शकित कखिए—काक्षित विइगिच्छासमावन्ने—और विचिकित्सा युक्त होकर आणदस्स अतियाओ—आनन्द के पास मे पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्खमित्ता—निकल कर जेणेव दूइपलासे चेइए—जहाँ दूतिपलाश चैत्य था, जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पहुँचे, उवागच्छित्ता—पहुँच कर समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अदूरसामन्ते—पास मे गमणागमणाए—गमनागमन का पडिक्कमइ—प्रतिक्रमण किया, पडिक्कमित्ता—प्रतिक्रमण करके एसणमणेसणे—एषणीय एव अनेषणीय की आलोएइ—आलोचना की, आलोइत्ता—आलोचना करके, भत्तपाण—आहार पानी पडिदसेइ—दिखलाया पडिदसित्ता—दिखाकर समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर को वदइ—वन्दना की, नमसइ—नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वदना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार बोले भते !—हे भगवन् ! एव खलु—इस प्रकार निश्चय ही अह—मैं, तुब्भेहि अब्भणुण्णाए—आपकी अनुमति मिलने पर इत्यादि त चेव सव्व कहेइ—सारी घटनाएँ कह सुनाईं जाव—यावत् तए ण—उससे अह—मैं सङ्किए—शकित होकर आणदस्स समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणोपासक के अतियाओ—पास

से पडिणिक्खमामि—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकल कर जेणेव इह—यहाँ आप विराजमान हैं, तेणेव—वहाँ हव्वमागए—शीघ्रतापूर्वक आया हूँ, त ण—तो क्या भंते—भगवन्! कि—क्या तस्स ठाणस्स—उस स्थान के लिए आणंदेण समणोवास-एण—आनन्द श्रमणोपासक को आलोएयव्व—आलोचना करनी चाहिए, जाव पडिवज्जे-यव्व—यावत् ग्रहण करना चाहिए उदाहु—अथवा मए—मुझे, गोयमाइ—'गौतम!' यह सम्बोधन करते हुए—समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने भगव गोयम—भगवान् गौतम को एव वयासी—इस प्रकार कहा—गोयमा—हे गौतम! तुम चेव ण—तुम ही तस्स ठाणस्स—उस स्थान की आलोएहि—आलोचना करो, जाव—यावत् पडिवज्जाहि—तप कर्म स्वीकार करो आणद च समणोवासय—और आनन्द श्रमणो-पासक से एयमट्ठ—इस बात के लिए खामेहि—क्षमा प्रार्थना करो।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के इस प्रकार कहने पर शका, काक्षा, एव विचिकित्सा से युक्त होकर आनन्द के पास से बाहर निकले, और दूतिपलाश चैत्य मे श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुँचे। वहाँ भगवान् के समीप गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। एषणीय और अनेषणीय की आलोचना की। भगवान् को भोजन पानी दिखलाया, वन्दना नमस्कार किया और कहा— 'मैं आपकी अनुमति प्राप्त कर के इत्यादि गौतम ने पूर्वोक्त समस्त घटनाएँ कह सुनाइ अन्त मे कहा मैं शकित होकर आपकी सेवा मे आया हूँ।" भगवन! उस पाप स्थान की आलोचना तथा तपस्या आनन्द को करनी चाहिए अथवा मुझ को ?" 'गौतम'! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम! तुम ही उस असत्य भाषण रूप पाप स्थान के लिए आलोचना यावत् तप कर्म स्वीकार करो तथा आनन्द श्रावक से इस अपराध के लिए क्षमा याचना करो।"

टीका—आनन्द का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी विचार मे पड गए। इस विषय मे भगवान् से पूछने का निश्चय किया।

यहा सूत्रकार ने तीन शब्द दिए हैं—'सकिए कखिए और विइगिच्छे', इन शब्दो का निरूपण पहले किया जा चुका है। गौतम स्वामी के मन मे सदेह उत्पन्न हो गया, और वह डाँवाडोल होने लगा।

सग-पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता, मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए-पडिक्कते, समाहि-पत्ते, काल-मासे काल किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेण अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ ण अत्थेगइयाण देवाण चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता, तत्थ ण आणदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता ॥ ८६ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको बहुभि शीलव्रतैर्यावदात्मान भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याय पालयित्वा एकादश चोपासकप्रतिमा सम्यक् कायेनस्पृष्ट्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मान जोषयित्वा सष्टि भक्ता यनशनेन-छित्त्वा आलोचित प्रतिक्रान्त समाधिप्राप्त कालमासे काल कृत्वा सौधर्मावतसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्ये खलु अरुणेविमाने देवत्वेनोपपन्न, तत्र खलु अस्त्यकेषा देवाना चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता, तत्र खलु आनन्दस्यापि देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—तए ण—तदन तर से आणदे समणोवासए—वह आनन्द श्रमणोपासक बहूहि सीलव्वएहि—अनेक प्रकार के शील एव व्रतो के द्वारा जाव—यावत अप्पाण—अपनी आत्मा को भावेत्ता—सस्कारित करके वीस वासाइ—बीस वर्ष तक समणोवासग परियाग—श्रमणोपासक पर्याय को पाउणित्ता—पालन करके मासियाए सलेहणाए—एक महिने की सलेखना द्वारा अत्ताण—अपनी आत्मा को झूसित्ता—शुद्ध करके सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता—साठ बार का अनशन पूरा करके आलोइए पडिक्कते—आलोचना प्रतिक्रमण करके समाहिपत्ते—समाधि मे लीन रहता हुआ, कालमासे कालकिच्चा—अतिम समय आने पर सोहम्मेकप्पे—सौधर्म कल्प मे सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतसक महाविमाणस्स—महाविमान के उत्तरपुरत्थिमेण—उत्तरपूर्व अर्थात् ईशानकोण मे अरुणे विमाणे—अरुण विमान मे देवत्ताए—देवरूप मे उववन्ने—उत्पन्न हुआ, तत्थ ण—वहाँ अत्थेगइयाण देवाण—अनेक देवो की चत्तारि पलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है, तत्थ ण—वहा आणदस्सवि देवस्स—आनन्द देव की भी चत्तारिपलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक बहुत से शीलव्रत आदि के द्वारा आत्मा को सस्कारित करता रहा, उसने श्रावक व्रतो का पालन किया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। अन्त मे एक मास की सलेखना ली और साठ बार के भोजन अर्थात तीस दिन का अनशन करके मृत्युकाल आने पर समाधिमरण को प्राप्त हुआ। मर कर वह सौधर्म देवलोक, सौधर्मावतसक महाविमान के ईशानकोण मे स्थित अरुण विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ बहुत से देवताओ की आयु मर्यादा चार पल्योपम की बताई गई है। आनन्द की आयु मर्यादा भी चार पल्योपम है।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द के जीवन का उपसहार किया गया है। वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक रहा, साढे चौदह वर्ष बीतने पर घर छोड कर पौषधशाला मे रहने लगा। वहाँ उसने क्रमश ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ स्वीकार की और ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा मे साधु के समान जीवन व्यतीत करने लगा। ज्यो २ आत्मशुद्धि होती गई उसका उत्साह बढता चला गया, क्रमश उसने अन्तिम सलेखना व्रत ले लिया और जीवन एव मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए शान्तचित्त होकर आत्म चिन्तन मे लीन रहने लगा। एक महीने के उपवास के पश्चात शरीरान्त हो गया और सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुआ।

उसके विचारो मे उत्तरोत्तर दृढता आती गई, उत्साह बढता गया और अन्त तक चित्त शान्त रहा। एक महीने का उपवास होने पर भी मनोदशा मे परिवर्तन नहीं हुआ। शास्त्रकार ने इस बात का पुन पुन उल्लेख किया है।

आनन्द का भविष्य—

मूलम्—"आणदेण भते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएण, भवक्खएण, ठिइक्खएण अणतर चय चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?"

"गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ ८७ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण पढम आणदज्झयण समत्त ॥

छाया—आनन्द खलु भदन्त ! देवस्तस्माद्देवलोकादायु क्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेण अनन्तर चय च्युत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेप ।

शब्दार्थ—गौतम ने प्रश्न किया भते !—हे भगवन् ! आणदेण–आनन्द देवे–देव ताओ—उस देवलोगाओ—देवलोक से आउक्खएण—आयुक्षय होने पर, भवक्खएण – भवक्षय होने पर, ठिइक्खएण स्थिति क्षय होने पर, अणतर—अनन्तर चय चइत्ता—वहाँ से च्यवन करके कहिं—कहाँ गच्छिहिइ—जायगा ? कहिं—और कहाँ उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया गोयमा—हे गौतम ! महाविदेहेवासे—महाविदेह वर्ष मे सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा ।

भावार्थ—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! आनन्द देव आयु भव तथा स्थिति के क्षय होने पर देव शरीर का परित्याग कर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—हे गौतम ! आनन्द महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगा और वहाँ से सिद्धगति प्राप्त करेगा ।

निक्षेप–सुधर्मा स्वामी ने कहा—"हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन का यह भाव बतलाया है, वैसा ही म तुमसे कहता हूँ ।"

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द के भविष्य का कथन है । गौतम स्वामी ने पूछा भगवन् ! देवत्व की अवधि समाप्त होने पर आनन्द कहाँ उत्पन्न होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया 'महा विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा ।'

यहाँ दो बातें उल्लेखनीय है । पहली बात यह है कि जैन परम्परा मे देवत्व कोई शाश्वत् अवस्था नही है । मनुष्य तपस्या एव अन्य शुभ कर्मों द्वारा उसे प्राप्त करता है और उपार्जित पुण्य समाप्त हो जाने पर पुन मर्त्यलोक मे आ जाता है । ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में देवता शाश्वत् शक्ति के प्रतीक हैं, इतना ही नही जीवो के शुभाशुभ कर्मों के फल एव भविष्य पर उनका नियन्त्रण है । किन्तु उपनिषदो मे

देवत्व का वह स्थान नही रहा। वहा जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या अमृतत्व की प्राप्ति हो गया और देव अवस्था को नश्वर बताया गया। वहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति" अर्थात देवता भी पुण्यक्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक मे आ जाते हैं। इतना ही नही वहाँ देवत्व प्राप्ति के साधन रूप यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान को दुबल नौकाएँ बताया गया है, अर्थात् वे मानव को जीवन के चरम लक्ष्य तक नही पहुँचा सकती "प्लावह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-मवरमेषु कम।" अर्थात् यज्ञ रूपी नौकाएँ जिनमे अठारह प्रकार का कम बताया गया है दृढ नही हैं।

दूसरी बात महाविदेह क्षेत्र की है, पहले यह बताया जा चुका है कि विश्व एक कालचक्र के अनुसार घूमता रहता है। उत्थान के पश्चात् पतन और पतन के पश्चात् उत्थान का अनवरत क्रम चल रहा है। जैन परम्परा मे उत्थान काल उत्सर्पिणी और पतन काल को अवसर्पिणी काल कहा गया है। प्रत्येक काल के छ विभाग किए गए हैं, जि हे आरा कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल मे प्रथम आरा अत्यन्त पाप पूण होता है। उस समय मनुष्या के विचार अत्यन्त क्रूर होते हैं, श्रावक अथवा साधु किसी प्रकार की धार्मिक मर्यादा का अस्तित्व नही होता। द्वितीय आरे मे पापवृत्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है फिर भी उस समय कोई जीव मोक्ष का अधिकारी नही होता। तृतीय तथा चतुर्थ आरे मे उत्तरोत्तर धार्मिक भावना बढती जाती है। उसी समय तीथङ्कर एव अन्य महापुरुष उत्पन्न होते हैं और वे मोक्ष माग का उपदेश करते हैं। पाचवा आरा आने पर यह क्षेत्र कमभूमि के स्थान पर भोग भूमि बन जाता है अर्थात उस समय लोग कल्पवृक्षो से स्वय प्राप्त वस्तुओ पर अपना निर्वाह करते हैं आजीविका के लिए खेती, युद्ध आदि किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नही रहती। परिणामस्वरूप पापवृत्ति भी उत्तरोत्तर घटती चली जाती है। छठे आरे मे यह और भी कम हो जाती है। अवसर्पिणी के छठे के समान होता है। इसी प्रकार अवसर्पिणी का द्वितीय उत्सर्पिणी के पचम के समान अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम दोनो आरे भोग भूमि के माने जाते हैं। तृतीय, चतुथ मे ही तीथङ्करादि उत्पन्न होते हैं और धर्मोपदेश होता है। पञ्चम मे पुन धर्म का ह्रास होने लगता है और छठे म वह सर्वथा लुप्त हो जाता है। वतमान समय अवसर्पिणी का पचम आरा माना जाता है, इस समय भरत क्षेत्र से कोई व्यक्ति मोक्ष नही प्राप्त कर सकता।

किन्तु महाविदेह क्षेत्र मे इस प्रकार परिवर्तन नही होता। वहा सदा चौथा आरा बना रहता है। तीर्थङ्कर विचरते रहते हैं, जिन्हे विहरमाण कहा जाता है और मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता है। भरत क्षेत्र मे धर्मानुष्ठान द्वारा आत्म विकास करने वाले अनेक व्यक्तियो के लिए शास्त्रो मे बताया गया है कि वे स्वर्ग लोक मे जीवन पूरा करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगे और वहा मोक्ष प्राप्त करेंगे। आनन्द श्रमणोपासक भी महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि-मोक्ष को प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति पर सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—"हे जम्बू! मैंने भगवान् से जैसा सुना वैसा तुम्हे बता रहा हूँ। जिस प्रकार उपनिषदो मे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, जनक, श्वेतकेतु, जाबाल, यमनचिकेता सवाद मिलते हैं और उनमे आत्म तत्त्व एव जगत् के गम्भीर रहस्यो का प्रतिपादन किया गया है, तथा बौद्ध साहित्य मे भगवान् बुद्ध तथा उनके प्रधान शिष्य आनन्द के परस्पर सवाद मिलते हैं। उसी प्रकार जैन आगमो म सर्वप्रथम भगवान् महावीर तथा गौतम स्वामी के परस्पर सवाद हैं। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान उत्तर के रूप मे सिद्धान्तो का निरूपण करते हैं। दूसरे सवाद, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी के बीच हैं, भगवान् महावीर की परम्परा सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है। वे श्रुतकेवली और चौथे गणधर थे, उनके शिष्य जम्बू स्वामी के शिष्य प्रभव स्वामी हुए। वर्तमान जैन आगम सुधर्मास्वामी की रचना माने जाते हैं क्योकि उन्होने ही भगवान् महावीर से उन्हे अर्थ के रूप म सुना और शब्दो के रूप मे स्वय गुम्फन करके जम्बू स्वामी को उपदेश किया।

॥ सप्तम उपासकदशाङ्ग सूत्र का आनन्द अध्ययन समाप्त ॥

बीयं अज्झयणं

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन के विषय में प्रश्न—

मूलम्—जइ ण भंते ! समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्स ण, भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ॥ ८९ ॥

छाया—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशाना प्रथमाध्ययनस्यायमर्थ प्रज्ञप्त, द्वितीयस्य खलु भदन्त ! अध्ययनस्य कोऽर्थ प्रज्ञप्त ?

शब्दार्थ—जइ ण—यदि भंते !—भगवन् ! समणेण भगवया महावीरेण—श्रमण भगवान् महावीर ने जाव—यावत् सपत्तेण—जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण—उपासकदशा नामक सातवे अग के पढमस्स अज्झयणस्स—प्रथम अध्ययन का अयमट्ठे—यह अर्थ पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है तो भंते !—हे भगवन् ! दोच्चस्स ण अज्झयणस्स—द्वितीय अध्ययन का के अट्ठे—क्या अर्थ पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा—भगवन् ! यावत् मोक्ष के प्राप्त हुए श्रमण भगवान महावीर ने यदि सातव अग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है तो हे भगवन ! दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बताया है ?

टीका—प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अध्ययन की उत्थानिका है जिस मे कामदेव श्रावक का वर्णन है। आर्य जम्बूस्वामी प्रथम आनन्द विषयक अध्ययन समाप्त होने पर द्वितीय अध्ययन के विषय मे पूछते हैं।

बीय कामदेवज्झयण

कामदेव का जीवनवृत और पौषधशाला गमन—

मूलम—एव खलु जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण चम्पा नाम नयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। जियसत्तू राया। कामदेवे गाहावई। भद्दा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीग्रो निहाण-पउत्ताग्रो, छ वुड्ढि-पउत्ताग्रो, छ पवित्थर-पउत्ताग्रो, छ वया दस-गो-साहस्सिएण वएण। समोसरण। जहा ग्राणदो तहा निग्गग्रो, तहेव सावय-धम्म पडिवज्जइ।

सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठ-पुत्त-मित्त नाइ ग्रापुच्छित्ता, जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता जहा ग्राणदो जाव समणस्स भगवग्रो महावीरस्स ग्रतिय धम्म-पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ ९० ॥

छाया—एव खलु जम्बू ! तस्मिन काले तस्मिन समये चम्पा नाम नगर्यासीत। पूणभद्रश्चैत्य। जितशत्रू राजा। कामदेवो गाथापति। भद्रा भार्या। पट हिरण्यकोटचो निधानप्रयुक्ता पड् वृद्धिप्रयुक्ता, पट् प्रविस्तरप्रयुक्ता, पड् व्रजा दश गोसाहस्रिकेण व्रजेन। समवसरणम्। यथान दस्तथानिगत। तथव श्रावक धम प्रतिपद्यते, सा चे वक्तव्यता। यावज्ज्येष्ठपुत्र मित्र ज्ञातिमापृच्छ्य येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य यथान दो यावत श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽतकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दाथ—एव खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेण कालेण—उस काल तेण समएण—उस समय चम्पा नाम—चम्पा नामक नयरी—नगरी होत्था—थी, पुण्णभद्दे चेइए—पूणभद्र नामक चत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था। कामदेवे गाहावई—कामदेव गाथापति था और उनकी भद्दा भारिया—भद्रा भार्या थीं। छ हिरण्ण कोडीग्रो—छ हिरण्य कोटि अर्थात् सुवण मुद्राएँ निहाण पउत्ताग्रो—उनके खजने मे रखे थे छ वुड्ढि पउत्ताग्रो—छह करोड व्यापार मे लगे थे छ पवित्थर पउत्ताग्रो—छह करोड प्रविस्तर अर्थात् गृह एव तत्सम्बन्धी उपकरणो मे लगे हुए थे, छ व्वया—छह व्रज थे दसगोसाहस्सिएण वएण—एक व्रज म दस हजार गौएँ थीं, अर्थात् साठ हजार गौएँ थीं। समोसरण—भगवान् आए और उनका समव-

सरण हुआ। जहा—जिस प्रकार आणदे—आन द घर से निकला था वह भी घर से उसी प्रकार निग्गए—निकला, तहेव—उसी तरह सावय धम्म—श्रावक धर्म को पडिवज्जइ—ग्रहण किया, सा चेव—वही वत्तव्वया—वक्तव्यता यहा भी समझनी चाहिए, जाव—यावत् जेट्ठपुत्त—ज्येष्ठ पुत्र मित्तनाइ—और मित्रो तथा ज्ञातिजनो को आपुच्छित्ता—पूछकर जेणेव—जहाँ पोसहसाला—पौषधशाला थी तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आया, उवागच्छित्ता—आकर जहा आणदो—आन द के समान जाव—यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अतिय—समीपस्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धम प्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ताण—ग्रहण करके विहरइ—विचरने लगा।

भावाथ—सुधर्मास्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू! उस काल उस समय चम्पा नामक नगरी थी, वहाँ पूणभद्र चैत्य और जितशत्रु राजा था। वही कामदेव गाथापति था और उसकी भद्रा नाम वाली भार्या थी। छह करोड हिरण्य उसके खजाने मे थे। छह करोड व्यापार मे लगे थे। छह करोड गृह, तत्सम्ब धी उपकरण, वस्त्र रथ, पोत आदि मे लगे हुए थे। छह व्रज थे, प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाए थी, अर्थात् साठ हजार पशुधन था। भगवान् महावीर पधारे और उनका समवसरण हुआ। कामदेव भी आन द की तरह घर से निकला और श्रमण भगवान् महावीर के पास आया। उसी प्रकार श्रावकधर्म स्वीकार किया। यह सब वृत्तान्त आन द के समान समझना चाहिए यावत् कामदेव भी ज्येष्ठ पुत्र, मित्रवर्ग तथा जाति ब धुओ से पूछ कर पौषधशाला मे गया। वहाँ जाकर आन द की तरह श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति अङ्गीकार करके विचरने लगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे कामदेव गाथापति का वणन है, व्रत ग्रहण से लेकर पौषधशाला मे जाकर निर तर धर्मानुष्ठान तक की घटनाएँ इसकी भी आन द के समान हैं।

मिथ्यादृष्टि देव का उपसर्ग—

मूलम्—**तए ण तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयसि एगे देवे मायी मिच्छ-दिट्ठी अतिय पाउब्भूए ॥ ९० ॥**

छाया—तत खलु तस्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवो मायी मिथ्यादृष्टिरंतिक प्रादुरभूत् ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स—उस कामदेव श्रमणोपासक के अंतिय–समीप पुव्वरत्तावरत्ताकाल समयसि–मध्य रात्रि मे एगे देवे–मायीमिच्छदिट्ठी—जो कि मायावी और मिथ्या दृष्टि था पाउब्भूए—प्रकट हुआ ।

भावार्थ—तदनन्तर मध्यरात्रि मे कामदेव श्रमणोपासक के समीप एक मायावी और मिथ्यादृष्टि देव प्रकट हुआ ।

टीका—धर्म निष्ठ पुरुषो को साधना से विचलित करने तथा उनके अनुष्ठान म विघ्न डालने के लिए दुष्ट प्रकृति वाले यक्ष-राक्षस आदि का प्रकट होना भारत की समस्त परम्पराओ मे मिलता है। वैदिक परम्परा मे ऋषियो द्वारा किए गए यज्ञो मे विघ्न डालने के लिए राक्षस आते हैं। इसी प्रकार विविध व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली तपस्या मे भी यक्ष, राक्षस असुर आदि विघ्न डालते हैं। इसी प्रकार जैन परम्परा मे भी इनका वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत पाठ मे देवता का मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्यादृष्टि बताया गया है। इसका अर्थ है वह जैन धर्म का विरोधी था। जैन शास्त्रों मे बताया गया है कि बहुत से तापस जैन धर्म न मानने पर भी तपस्या के कारण अमुक जाति के देव बन जाते हैं और उनकी धर्म सम्बन्धी विद्वेष भावना वहाँ भी बनी रहती है।

देव द्वारा विकराल रूप धारण—

मूलम—तए ण से देवे एग महं पिसाय-रूव-विउव्वइ । तस्स ण देवस्स पिसाय-रूवस्स इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—सीससे गो कलिंज-सठाण-सठिय, सालिभसेल्लसरिसा सेसा कविलतेएण दिप्पमाणा, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल सठाण-सठिय निडाल, मुगु स पुञ्छ व तस्स भुमगाओ फुग्ग फुग्गाओ विगय-बीभच्छ-दसणाओ, सीस-घडि-विणिग्गयाइ अच्छीणी विगय-बीभच्छ-दसणाइ, कण्णा जह सुप्प कत्तर चेव विगय बीभच्छ-दसणिज्जा,

उरब्भ-पुड-सन्निभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली सठाण-सठिया दोवि तस्स नासा पुडया, घोडय-पुञ्छ व तस्स मसूइ कविल-कविलाइ विगय-बीभच्छ-दसणाइ उट्ठा उट्टस्स चेव लबा, फालसरिसा से दता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तर चेव-विगय बीभच्छ-दसणिज्जा, हल-कुद्दाल-सठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्ल च तस्स खड्ड फुट्ट कविल फरुस महल्ल, मुइगाकारोवमे से खधे, पुर-वर-कवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया सठाण सठिया दोवि तस्स बाहा, निसा-पाहाण सठाण सठिया दो वि तस्स अग्ग हत्था, निसा लोढ सठाण सठियाओ हत्थेसु अगुलीओ, सिप्पिपुडग सठिया से नक्खा, ण्हाविय-पसेवओ व्व उरसि लबति दो वि तस्स थणया, पोट्ट अयकोट्ठओ व्व वट्ट, पाण-कलद सरिसा से नाही, सिक्कग सठाण सठिया से नेत्ते, किण्ण पुड सठाण सठिया दो वि तस्स वसणा, जमल कोट्ठिया-सठाण सठिया दो वि तस्स ऊरू, अज्जुण गुट्ठ व तस्स जाणूइ कुडिल-कुडिलाइ विगय बीभच्छ दसणाइ, जघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरी सठाण सठिया दोऽवि तस्स पाया, अहरी-लोढ सठाण सठियाओ पाएसु अगुलीओ, सिप्पि पुड सठिया से नक्खा ॥ ६१ ॥

छाया—तत खलु स देव एक महान्त पिशाचरूप विकुरुते। तस्य खलु देवस्य पिशाच रूपस्यायमेतद्रूपो वर्णकव्यास प्रज्ञप्त,–शीर्ष तस्य गोकलिञ्ज सस्थान सस्थित शालिभसेल्लसदृशास्तस्य केशा कपिलतेजसादीप्यमाना, महदुष्ट्रिकाकभल्ल सस्थान सस्थित ललाट, मुगु सपुच्छ वत्तस्य भुवौ फुग्गफुग्गौ विकृत बीभत्सदर्शनौ, शीर्षघटी विनिर्गते अक्षिणी विकृतबीभत्सदर्शने, कर्णौ यथा शूर्प कर्त्तरे इव विकृतबीभत्स दर्शनीयौ, उरभ्रपुटसन्निभा तस्य नासा शुषिरा, यमलचुल्ली सस्थान सस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे, घोटकपुच्छ वत्तस्य श्मश्रूणि कपिलकपिलानि विकृत बीभत्सदर्शनानि, ओष्ठौ उष्ट्रस्येव लम्बौ, फालसदृशास्तस्य दन्ता, जिह्वा यथा सूपकर्त्तरमेव विकृत बीभत्सदर्शनीया, हलकुदाल सस्थिता तस्य हनुका, गल्लकडिल्ल च तस्य गर्त्त स्फुट कपिल परुष महत मृदङ्गाकारोपमौ तस्य स्कन्धौ, पुरवरकपाटोपम तस्य वक्ष, कोष्ठिकासस्थानसस्थितौ द्वावपि बाहू, निशापाषाण-सस्थान-सस्थितौ द्वावपि तस्या-

प्रहस्तौ, निशालोष्ट सस्थानसस्थिता हस्तयोरगुल्य, शुक्तिपुटक सस्थितास्तस्य नखा, नापितप्रसेयकाविवोरसि लम्बेते द्वावपि स्तनकौ, उदरमय कोष्ठकयदवृत्त, पानकल दसदृशी तस्य नाभि, शिक्यक सस्थानसस्थिते तस्य नेत्रे, किण्वपुट सस्थान सस्थितौ द्वावपि तस्य वृषणौ, यमल कोष्ठिका सस्थानसस्थितौ द्वावपि तस्योरू, अर्जुनगुच्छ वत्तस्य जानुनी कुटिल कुटिले विकृतबीभत्सदर्शने, जघे करकटी रोमभिरुपचिते, अधरी सस्थानसस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ, अधरी लोष्टसस्थानसस्थिता पादेष्वगुल्य, शुक्तिपुटसस्थितास्तस्य नखा ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एग मह—एक महान् विकराल *पिसायरूव—पिशाच रूप धारण किया, तस्सण—उस देवस्स—देव के पिसायरूवस्स—पिशाच रूप का इमे एयारूवे—इस प्रकार से वण्णावासे—सविस्तर वर्णन पण्णत्ते—* किया गया है—से—उसका सीस—सिर गोकलिजसठाण सठिय—गोकलिज—(बास की टोकरी अथवा धातु आदि से बना हुआ पात्र जिसमे गाय को चारा दिया जाता है) के समान था, सालिभसेल्ल सरिसा—शालिभसेल्ल अर्थात् चावल आदि की मजरी के तन्तुओ के समान रूखे और मोटे कविल तेएण दिप्पमाणा—भूरे रग के चमक वाले से—उसके केसा—केश थे, महल्ल-उट्टिया कभल्ल सठाण-सठिय निडाल—उसका ललाट बडे मटके के कपाल जैसा था, तस्स—उसकी भुमगाओ—भौंहे मुगु सपुन्छ वा—*गिलहरी की पून्छ के समान फुग्गफुग्गाओ—बिखरी हुई और विगयबीभच्छदसणिज्जा—विकृत और बीभत्स दिखाई देती थी,* अच्छीणि—आखें सीसघडिविणिग्गयाइ—मटकी के समान सिर से बाहर निकली हुई थी, विगयबीभच्छदसणाइ—विकृत और बीभत्स दीखती थी, कण्णा—कान जह सुप्प कत्तर चेव—टूटे हुए छाज के समान विगयबीभच्छदसणिज्जा—देखने मे विकृत और भयकर थे, से नासा—उसकी नाक उरब्भपुडसन्निभा—मेढे की नाक जैसी थी। दोवि तस्स नासा पुडया—उसकी नाक के दोनो छेद झुसिरा—गड्ढे समान और जमलचुल्लीसठाणसठिया—जुडे हुए दो चूल्हो के समान थे तस्स मसूइ—उसकी मून्छें घोडय-पुन्छ व—घोडे की पून्छ जैसी और कविल कविलाइ—भूरे रग की तथा विगयबीभच्छदसणाइ—विकृत और बीभत्स थी, उट्ठा—ओष्ठ उट्टस्स चेव—ऊष्ट के ओठ की तरह लबा—लम्बे थे से—उसके दता—दान्त फालसरिसा—हल की लोहे की फाल के समान तीखे थे। जिब्भा—जिह्वा जह सुप्पकत्तर चेव—छाज के टुकडे के समान विगयबीभच्छदसणिज्जा—विकृत

और देखने मे बीभत्स थी, से हणुया—उसकी ठुड्डी हलकुद्दालसठिया—हल के अग्र भाग के समान बाहर उभरी हुए थी गल्लकडिल्ल च तस्स—कढाही के समान अन्दर धँसे हुए उसके गाल खड्ड—गड्ढे वाले फुट्ट—फटे हुए अर्थात् घाव वाले कविल फरुस—भूरे कठोर महल्ल—तथा विकराल थे। से खधे—उसके कधे मुइगाकारोवमे—मृदङ्ग के समान थे, से वच्छे—उसका वक्ष स्थल छाती पुरवरकवाडोवमे—नगर के फाटक के समान चौडा था, दो वि तस्स बाहा—उसकी दोनो भुजाएँ कोट्ठिया सठाण सठिया—कोष्ठिका (हवा रोकने के या इकट्ठी करने के लिए भस्त्रा-धौकनी के मुँह के सामने बनी हुइ मिट्टी की कोठी) के समान थी, दोवि तस्स अग्गहत्था—उसकी दोनो हथेलिया निसापाहाणसठाणसठिया—चक्की के पाट के समान मोटी थी, हत्थेसु-अगुलीओ—हाथो की अगुलियाँ निसालोढ सठाणसठियाओ—लोढी के समान थी से नखा—उसके नख सिप्प पुडगसठिया—सीपियो के समान थे दोवि तस्स थणया—उसके दोनो स्तन ण्हावियपसेवओ व्व—नाई की गुच्छी (उस्तरे आदि रखने के चमडे की थैलियो) के समान उरसि लबति—छाती से लटक रहे थे पोट्ट—पेट अयकोट्ठओ व्व वट्ट—लोहे के कुसूल कोठे—के समान गोल था, से नाही—उसकी नाभि पाणकलदसरिसा—जुलाहो द्वारा वस्त्र मे लगाए जाने वाले आटे के जल (माड बनाने के बतन के समान गहरी थी, से नेत्ते—उसके नेत्र सिक्कगसठाण सठिए—छीके के समान थे दोवि तस्स-वसणा—उसके दोनो अण्डकोप किण्ण पुडसठाणसठिया—बिखरे हुए दो थैलों के समान थे। दोवि तस्स ऊरू—उसकी दोनो जघाएँ जमल कोट्ठियासठाणसठिया—समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी, तस्स जाणूइ—उसके घुटने अज्जुणगुट्ठ व—अर्जुन वृक्ष के गुच्छे के समान कुडिल कुडिलाइ विगयबीभच्छदसणाइ—टेढे-मेढे विकृत और बीभत्स भयानक दशन वाले थे। जघाओ—उसकी पिण्डलियाँ कक्खडीओ—कठोर और लोमेहिं उवचियाओ—बालो से भरी हुई थी। दोवि तस्स पाया—उसके दोनो पैर अहरी सठाण सठिया—दाल पीसने की शिला की तरह थे। पाएसु अगुलीओ—पैरो की अगुलिया अहरी लोढ सठाण सठियाओ—लोढी की आकृति वाली थी। से नक्खा—उन अगुलियो के नख सिप्पिपुडसठिया—सीपियो के समान थे।

भावार्थ—उस मायावी, मिथ्यादृष्टि देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण किया। उसका मस्तक गोकलिज अर्थात गाय को चारा डालने के उपयोग में आने

वाली टोकरी या कुण्ड के सदृश था । शालिभसेल्ल—अर्थात धान्य आदि की मजरी के तन्तुओ के समान रूखे और मोटे भूरे रग के केश थे । ललाट मटके के समान लम्बा-चौडा था । भौहे गुलहरी की पूञ्छ के समान बिखरी हुई और बीभत्स थीं । आखें अत्यन्त विकृत टेढी मेढी थी, ऐसा प्रतीत होता था जैसे मटके मे दो छेद हो । कान टूटे हुए छाज के समान थे । नाक मेंढे जैसी थी और उसमे गड्ढे के समान छेद थे । नाक के छेद जुड हुए दो चूल्हो के समान थे । मूञ्छे घोडे की पूञ्छ के समान लम्बी, भूरी तथा विकृत थी । होट ऊँट के होटो के समान लम्बे थे । दात फाल के समान तीखे थे । जीभ छाज के टुकडे के समान विकृत और बीभत्स थी । उसकी ठुड्डी (जबडे) हल कुद्दाल के समान उभरी थी । गाल कडाही के समान अन्दर को धँसे हुए गढे जैसे थे और फटे हुए भूरे और बीभत्स थे । कधे ढोल के समान थे । छाती नगर कपाट के समान चौडी थी । भुजाएँ कोष्ठिका (फूँकनी) के समान थी । हथेलियाँ चक्की के पाट के समान मोटी थी । हाथो की अगुलियाँ लोढी के समान थी । नाखून सीप के समान थे । स्तन छाती पर से लटक रहे थे, जैसे नाई के उपकरण रखने की थैलियाँ हो । पेट लोहे के कोठे (कुसूल) के समान गोल था । नाभि ऐसी गहरी थी जैसी जुलाहे का आटा-माड घोलने का कुडा हो । नेत्र छीके के समान थे । अण्डकोष भरे हुए दो थैलो (बोरियो) के समान थे । जघाएँ समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी । घुटने अर्जुन वृक्ष के गुच्छ के समान टेढे-मेढे, विकृत और बीभत्स थे । पिण्डलिया कठोर और बालो से भरी थी, पैर दाल पीसने की शिला की तरह थे । पैरो की अगुलियाँ लोढी जैसी आकृतिवाली और पैरो के नख सीप के समान थे ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र म पिशाच के भयकर रूप का वर्णन है । उसके प्रत्येक अङ्ग की जो उपमाएँ दी गई है वे बडी विचित्र हैं । साहित्य शास्त्र मे प्राय ऐसी नही मिलती । रामायण तथा अन्य काव्यो मे राक्षसो के भयकर रूप का वर्णन है । ताडका, शूपनखा आदि राक्षसियो ने भी अनेक विकराल रूप धारण किए थे किन्तु वह वर्णन दूसरे प्रकार का है । प्रस्तुत वर्णन मे जो चित्रण है वह मानव वश विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । पिशाच का रूप धारण करने वाले इस देवता को मिथ्यात्वी कहा गया है, जो जैन साधक कामदेव को उसकी साधना से विचलित

करने आया है। जैन परम्परा के साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष किस परम्परा मे था, यह भी विचारणीय है। प्रतीत होता है पिशाच का सम्बन्ध किसी तापस परम्परा से है जिसका विरोध भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। उनके जीवन मे भी कमठ नाम के तापस का वर्णन मिलता है।

पिशाच का विकराल रूप और कामदेव को तर्जना—

मूलम—लडह-मडह-जाणुए विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए अवदालिय वयण-विवर-निल्लालियग्गजीहे, सरड-कय-मालियाए, उदुर माला-परिणद्ध-सुकय चिंधे, नउल कय कण्ण पूरे, सप्प-कय वेगच्छे, अप्फोडते, अभिगज्जते, भीम-मुक्कट्टहासे, नाणा-विह पच-वण्णेहि लोमेहि उवचिए एग मह नीलुप्पल-गवल गुलिय अयसि-कुसुम प्पगास असि खुर-धार गहाय, जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता आसु-रत्ते रुट्ठे-कुविए चडिक्किए मिसिमिसियमाणे कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो कामदेवा ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! दुरत-पत लक्खणा ! हीण - पुण्ण - चाउद्दसिया ! हिरि-सिरी-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया ! धम्मकामया ! पुण्णकामया ! सग्गकामया ! मोक्ख-कामया ! धम्मकखिया ! पुण्णकखिया ! सग्गकखिया ! मोक्खकखिया ! धम्म पिवासिया ! पुण्ण पिवासिया ! सग्गपिवासिया ! मोक्ख-पिवासिया ! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया ! ज सीलाइ वयाइ वेरमणाइ पच्चक्खाणाइ पोसहोववासाइ चालित्तए वा, खोभित्तए वा, खडित्तए वा, भजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा, त जइ ण तुम अज्ज सीलाइ जाव पोसहोववासाइ न छड्डेसि न भजेसि, तो त अह अज्ज इमेण नीलुप्पल जाव असिणा खडा-खडि करेमि, जहा ण तुम देवाणु-प्पिया, अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ९२ ॥"

छाया—लडह-मडह-जानुक, विकृतभग्न भुग्न भ्रू, अवदारित वदन विवर-निर्लालिताग्र जिह्व, सरटकृतमालिक, उन्दुरमाला परिणद्धसुकृतचिह्न, नकुलकृत-

कर्णपूर, सर्पकृतवैकक्ष, आस्फोटयन्, अभिगजन्, भीममुक्ताट्टाट्टहास, नानाविधिपञ्चवर्णं रोमैरुपचित, एक महान्त नीलोत्पलगवल गुलिकाऽतसी कुसुमप्रकाशमसि क्षुर-धार गृहीत्वा येनैव पौषधशाला येनैव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति। उपागत्य आशुरक्त, रुष्ट, कुपित, चण्डित, मिसमिसायमान कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"ह भो कामदेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! दुरन्तप्रान्त-लक्षण ! हीनपुण्यचातुर्दशिक ! ह्री-श्री-धृति-कीर्ति परिवर्जित ! धर्मकाम ! पुण्यकाम ! स्वर्गकाम ! मोक्षकाम ! धर्मकांक्षिन् ! पुण्यकांक्षिन् ! स्वर्गकांक्षिन् ! मोक्षकांक्षिन् ! धर्मपिपासित ! पुण्यपिपासित ! स्वर्गपिपासित ! मोक्षपिपासित ! नो खलु कल्पते तव देवानुप्रिय ! यत् शीलानि, व्रतानि, विरमणानि, प्रत्याख्यानानि, पौषधोपवासानि, चालयितु वा, क्षोभयितु वा, खण्डितु भङ्क्तु वा, उज्झितु वा, परित्यक्तु वा, तद् यदि खलु त्वमद्य शीलानि यावत्पौषधोपवासानि न त्यक्षसि न भक्ष्यसि तर्हि तेऽहमद्यानेन नीलोत्पल यावदसिना खण्डाखण्ड करोमि यथा खलु त्व देवानुप्रिय ! आर्त्तदु खार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—लडह मडह जाणुए—उसके घुटने लम्बे और लडखडा रहे थे। विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए—भ्रू भौंहे—विकृत, खण्डित तथा कुटिल थी, अवदारिय वयण विवर निल्लालियग्गजीहे—मुख फाड रखा था, जीभ बाहर निकाल रखी थी। सरडकय मालियाए—सरटो की माला सिर पर लपेट रखी थी उदुरमालापरिणद्ध सुकयचिंधे—बँधी हुई चूहो की माला उसकी पहचान थी। नउलकयकण्णपूरे—कर्ण फूल के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, सप्पकयवेगच्छे—सापो का वैक्ष अर्थात् दुपट्टा बना रखा था, अप्फोडते—करास्फोट हाथ फटकारता हुआ, अभिगज्जते—गर्जना करता हुआ, भीममुक्कट्टट्टहासे—भयङ्कर अट्टहास करता हुआ, नानाविह पचवण्णेहि लोमेहि उवचिय—नानाविध पाचवर्ण के रोमो से आवृत्त शरीर वह पिशाच एग मह—एक महान् नीलुप्पल—नील उत्पल, गवलगुलय—महिष के सीग के समान नीले अतसी कुसुम पगास—अलसी के फूल जैसी, असिखुरधार—तीक्ष्ण धार वाली तलवार को गहाय—लेकर जेणेव—जहाँ पोसहसाला—पौषधशाला थी, जेणेव—और जहाँ कामदेव समणोवासए—कामदेव श्रमणोपासक था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आया। उवा-

गच्छित्ता—आकर **आसुरत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे**—क्रूरता से रुष्ट, कुपित, क्रोधोन्मत्त तथा हाँपता हुआ **कामदेव समणोवासय**—कामदेव श्रमणोपासक को **एव वयासी**—इस प्रकार बोला—**हंभो ! कामदेवा समणोवासया !**—अरे कामदेव श्रमणोपासक ! **अपत्थियपत्थिया**—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु के प्रार्थी ! **दुरंतपंतलक्खणा !** दुष्टपर्यवसान तथा अशुभ लक्षणों वाले ! **हीनपुण्णचाउद्दसिया !** दुर्भाग्यपूर्ण चतुर्दशी को जन्मे **हिरिसिरिधिइ कित्ति परिवज्जिया**—लज्जा, लक्ष्मी धैर्य तथा कीर्ति से रहित **धम्मकामया !**—धर्म की कामना करने वाले ! **पुण्णकामया !** पुण्य की कामना करने वाले ! **सग्गकामया !** स्वर्ग की कामना करने वाले ! **मोक्खकामया !** मोक्ष की कामना करने वाले ! **धम्मकंखिया !** धर्माकांक्षी **पुण्णकंखिया !** पुण्य की इच्छा करने वाले ! **सग्गकंखिया !** स्वर्ग की कांक्षा करने वाले ! **मोक्खकंखिया !** मोक्ष को चाहने वाले ! **धम्मपिवासिया**—धर्म पिपासु ! **पुण्णपिवासिया !** पुण्य के पिपासो ! **सग्गपिवासिया**—स्वर्ग की पिपासा करने वाले ! **मोक्खपिवासिया**—मोक्ष के पिपासो ! **देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रिय ! **नो खलु कप्पइ तव**—तुझे नहीं कल्पता है **जं सीलाइ**—शीलों, **वयाइ**—व्रतों, **वेरमणाइ**—विरमणों, **पच्चक्खाणाइ**—प्रत्याख्यानों **पोसहोववासाइ**—तथा पौषधोपवासों से **चालित्तए वा**—विचलित होना, **खोभित्तए वा**—विक्षुब्ध होना, **खडित्तए वा**—इन्हें खण्डित करना **भंजित्तए वा**—तथा भंग करना, **उज्झित्तए वा**—त्यागना, **परिचइत्तए वा**—इनका परित्याग करना **त जइण**—तो यदि तुम **अज्ज**—तू आज **सीलाइ जाव पोसहोववासाइ**—शीलों यावत् पौषधोपवास को **न छड्डसि**—नहीं छोडेगा, **न भंजेसि**—नहीं भङ्ग करेगा, **तो**—तो **ते**—तुझे **अहं**—मैं **अज्ज**—आज **इमेण नीलुप्पल जाव असिणा**—इस नील कमल आदि के समान श्याम रंग की तीखी तलवार से **खंडा-खंडि करेमि**—टुकडे-टुकडे कर दूंगा, **जहा ण**—जिससे तुम **देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! तू **अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे**—आर्त्त ध्यान के दुख के वशीभूत होता हुआ—अति विकट दुःख भोगता हुआ **अकालेचेव**—अकाल में ही **जीवियाओ**—जीवन से **ववरोविज्जसि**—पृथक् कर दिया जाएगा।

भावार्थ—घुटने लम्बे और लड-खडा रहे थे। भौंहें विकृत, अस्त व्यस्त तथा कुटिल थीं। मुँह फाड रखा था और जीभ बाहिर निकाल रखी थी। सरटों (गिरगिटों) और चूहों की मालाएँ पहन रखी थीं। यही उस का मुख्य चिह्न था।

नेवले कर्ण भूषण बने हुए थे। साँप उत्तरीय की तरह गले मे डाल रखे थे। हाथ पैर फटकार कर भयकर गर्जना करते हुए उसने अट्टहास किया। उसका शरीर पाच वर्ण के बालो से आच्छादित था। नीले उत्पल (नील कमल) के समान नीलवर्ण, भैसे के सीग के समान टेढे तथा अलसी के फूल के समान चमकते हुए तीक्ष्ण धार वाले खड्ग को लेकर पौषधशाला मे कामदेव के पास पहुँचा और क्रूरता पूर्वक रुष्ट, कुपित तथा प्रचण्ड होकर हाँपता हुआ बोला—"अरे कामदेव ! तू मौत की इच्छा कर रहा है। तू दुष्टपर्यवसान (दुखान्त) और अशुभ लक्षणो वाला है। अशुभ चतुर्दशी को पैदा हुआ है। लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति रहित है। धर्म, स्वर्ग, तथा मोक्ष की कामना करता है। धर्म तथा स्वर्ग की आकाक्षा करता है, धर्म पिपासु है। हे देवानुप्रिय ! तुझे अपने शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से विचलित होना, क्षुब्ध होना, उनको खडित करना, भङ्ग करना, त्याग और परित्याग करना नही कल्पता। किन्तु यदि तू आज शील आदि यावत् पौषधोपवासो को नहीं छोडेगा, भङ्ग नही करेगा तो इस नील कमल आदि के समान श्याम रग की तीखी तलवार से तेरे टुकडे २ कर डालूँगा, जिससे तू दुख भोगता हुआ, अकाल मे ही जीवन से पृथक् हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे प्रारम्भ की कुछ पक्तिया पिशाच की वेश-भूषा का वर्णन करती हैं। तत्पश्चात् कामदेव के पास उसके पहुँचने और उसे भयभीत करने का वर्णन है। पिशाच ने गिरगिट तथा चूहो की मालाएँ पहन रखी थी। कर्णाभूषण के स्थान पर नेवले लटक रहे थे और उत्तरीय के स्थान पर साप। जहा तक सापो का प्रश्न है उन्हे गले मे पहनने का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। पौराणिक देवता साँपो को आभूषण के रूप मे धारण किए रहते थे तथा हाथी की खाल पहनते थे। उनके अनुचर अन्य भयकर जन्तुओ को भी धारण करते थे। जिनका वर्णन पिशाच के प्रस्तुत वर्णन से मिलता है।

लडहमडहजाणुए—इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—लडहमडह जाणुए त्ति इह प्रस्तावे लडह शब्देन गन्त्र्या पश्चाद्भागवर्ति तदुत्तराङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ठं तदुच्यते, तच्च गन्त्र्या श्लथबन्धन भवति, एव च श्लथसन्धि बन्धनत्वाल्लडहे इव लडहे मडहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाभ्या जानुनी यस्य तत्तथा" यहाँ लडह का अर्थ है—लकडी का

वह लट्ठा जो बैलगाडी का सन्तुलन रखने के लिए उसके पीछे लटकता रहता है। वह मोटा तथा शिथिल होता है। पिशाच की जघाएँ भी उसी प्रार मोटी और ढीली-ढाली लड-खडा रही थी।

'सप्प कय वेगच्छे'—इसकी वृत्ति निम्नलिखित है—सर्पाभ्या कृत वैकक्षम्-उत्तरासङ्गो येन तत्तथा, पाठान्तरेण 'मूसगकयभु भलए बिच्छुय कयवेगच्छे सप्पकय-जण्णोवइए' तत्र भु भलये त्ति–शेखर 'विच्छुय' त्ति–वृश्चिका, यज्ञोपवीत–ब्राह्मणकण्ठ–सूत्रम्, तथा 'अभिन्नमुहनयणनक्खवरवग्घचित्तकत्तिनियसणे' अभिन्ना–अविशीर्णा मुखनयननखा यस्या सा तथा सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा कबु रा कृत्तिश्च चर्मेति कर्मधारय, सा निवसन–परिधान यस्य तत्तथा, 'सरसरुहिरमसावलित्तगत्ते' सरसाभ्या रुधिरमासाभ्यामवलिप्त गात्र यस्य तत्तथा।" वैकक्ष्य का अर्थ है—वह दुपट्टा जो वगलों के नीचे से ले जा कर कन्धो पर डाला जाता है, पिशाच ने साँप को इस प्रकार पहन रखा था। यहा पाठान्तर मे कुछ और बाते भी बताई गई हैं। उस ने चूहों का मुकुट विच्छुओ की अक्षमाला तथा साप का यज्ञोपवीत बना रखा था। चीते की खाल को, जिस से नाखून, आख और मुह अलग नही हुए थे, वस्त्र के समान पहन रखा था। ताजे रुधिर और मास से शरीर को लीप रखा था।

अप्पत्थिय-पत्थिया—(अप्रार्थित प्रार्थक) 'अप्रार्थित' का अर्थ है—मृत्यु जिसे कोई नही चाहता। समस्त शब्द का अर्थ है, अरे! मौत को चाहने वाले! यह शब्द संस्कृत साहित्य मे बहुत अधिक मिलता है।

हीणपुण्णचाउद्दसिया—(हीनपुण्यचातुर्दशीक।) चतुर्दशी को पुण्य तिथि माना जाता है किन्तु यदि उसका क्षय हो और उस दिन किसी का जन्म हो तो वह अशुभ माना जाता है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—"हीणपुण्णाचाउद्दसिया, त्ति हीना–सम्पूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिज मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीक, तदा मन्त्रण, तथा नूतनवृत्ति—"हीनेति हीना अपूर्णा या पुण्या पावनी चतुर्दशी (तिथि) सा हीनपुण्यचतुर्दशी, तस्या जातो हीन पुण्य चातुर्दशीकस्तत्सम्बोधने, पुण्य चतुर्दश्याम-नुत्पन्नत्वेन भाग्यहीन' तथा "ज सीलाइ-वयाइ वेरमणाइ पच्चक्खाणाइ-पोसहोव-वासाइ" यह पद दिए हैं–इसका अर्थ वृत्तिकार ने ऐसे दिया है–शीलानि–अणुव्रतानि, व्रतानि—दिग्व्रतादीनि, विरमणानिरागादि विरतय, प्रत्याख्यानानि—नमस्कारसहि-तादीनि, पौषधोपवासान्—अहारादिभेदेन चतुर्विधान्।"

यहाँ चार प्रकार के अनुष्ठान बताए गए हैं—

१ शील—पाच अणुव्रत ।

२ विरमण—दिशाव्रत आदि तीन गुणव्रत ।

३ प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरिसी आदि ।

४ पौषधोपवास—धर्मस्थानादि एकान्त स्थान मे सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर उपवासरूप तप साधना का अनुष्ठान करना ।

कामदेव की दृढता—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए तेण देवेण पिसाय-रूवेण एव वुत्ते समाणे, अभीए, अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असभते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ९३ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन पिशाचरूपेणैवमुक्त सन् अभीतोऽत्रस्तोऽनुद्विग्नोऽक्षुब्धोऽचलितोऽसम्भ्रान्तस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तएण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेण देवेण पिसाय रूवेण—पिशाच रूप धारी उस देव के द्वारा एव वुत्ते-समाणे—इस तरह कहे जाने पर भी अभीए—भयरहित अतत्थे—त्रास रहित, अणुव्विग्गे—उद्वेग रहित, अक्खुभिए—क्षोभ रहित, अचलिए—अचलित, असभते—असम्भ्रान्त, तुसिणीए—और शान्त धम्मज्झाणोवगए विहरइ—रह कर धर्म ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी कामदेव श्रावक को न भय हुआ, न त्रास हुआ, न उद्वेग हुआ, न क्षोभ हुआ, न चचलता आई और न सभ्रम हुआ । वह चुप-चाप धर्मध्यान में स्थिर बना रहा ।

टीका—पिशाचरूप धारी देव की भयकर गर्जना सुन कर भी कामदेव विचलित नही हुआ । सूत्रकार ने उसकी दृढता का वर्णन अभीत, अत्रस्त, अक्षुब्ध, अचलित, असभ्रान्त तूष्णीक, धर्मध्यानोपगत शब्दों द्वारा किया है । इसका अर्थ है उनप

मन मे भी किसी प्रकार की घबराहट या दुर्भावना नही आई। इससे उसके सम्यग् दर्शन अर्थात् धर्म विश्वास की दृढता प्रकट होती है। जिस व्यक्ति के मन मे आत्मा की अमरता तथा शरीर एव बाह्य भोगो की नश्वरता रम गई है, वह किसी भी भय या प्रलोभन के सामने नही झुकेगा।

पिशाच की पुन तर्जना--

मूलम्—तए ण से देवे पिसाय-रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव धम्म-ज्झाणोवगय विहरमाण पासइ, पासित्ता दोच्चपि तच्चपि कामदेव एव वयासी—"ह भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! जइण तुम अज्ज जाव ववरोविज्जसि ॥ ९४ ॥

छाया—नत खलु स देव पिशाचरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्धर्म-ध्यानोपगत विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवमेवमवादीत—"ह भो ! कामदेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यदि खलु त्वमद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे पिसायरूवे—वह पिशाचरूप धारी देव कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासकको अभीय—भय रहित जाव—यावत धम्म-ज्झाणोवगय विहरमाण—धर्मध्यान मे लगे हुए पासइ—देखता है, पासित्ता—देख कर दोच्चपि तच्चपि—दूसरी बार और तीसरी बार भी कामदेव—कामदेव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—ह भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अप्पत्थियपत्थिया! अरे मृत्यु को चाहने वाले कामदेव श्रमणोपासक ! जइ ण तुम अज्ज—यदि तू आज शीलआदि का परित्याग नही करेगा जाव—यावत् ववरोविज्जसि—तो तू प्राणो से अलग कर दिया जायेगा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देव ने श्रावक कामदेव को निर्भय यावत् धर्मध्यान मे स्थिर देखा तो वह क्रमश तीन बार इस प्रकार बोला—"अरे मृत्यु के इच्छुक कामदेव ! यदि आज तू शीलादि का परित्याग नही करेगा तो यावत् मारा जाएगा।"

कामदेव का अविचलित रहना—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे, अभीए जाव धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ९५ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्त सन् अभीतो ऽयावद्धर्मध्यानोपगतो विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेण देवेण—उस देव द्वारा दोच्चपि तच्चपि—दूसरी बार तीसरी बार एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए—भय रहित जाव—यावत् धम्मज्झाणोवगए—धर्म ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—देव के द्वारा दूसरी और तीसरी बार कहे जाने पर भी कामदेव निर्भय होकर यावत् धर्म ध्यान मे स्थिर रहा।

पिशाच का हिंसक आक्रमण—

मूलम्—तए ण से देवे पिसाय-रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ५ ति-वलिय भिउडि निडाले साहट्टु, कामदेव समणोवासय नीलुप्पल जाव असिणा खडाखडि करेइ ॥ ९६ ॥

छाया—तत खलु स देव पिशाचरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा, आशुरक्त ५ त्रिवलिका भ्रूकुटि ललाटे संहृत्य कामदेव श्रमणोपासक नीलोत्पल यावदसिना खण्डखण्डि करोति।

शब्दार्थ—तए ण—इस पर भी से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण—भय रहित धर्म-ध्यान मे स्थित पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर आसुरत्ते ५—अत्यन्त क्रुद्ध होकर तिवलिय भिउडि निडाले साहट्टु—मस्तक पर तीन भ्रूकुटियाँ चढाकर कामदेव

समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को नीलुप्पल जाव असिणा—नील कमल के समान तलवार से खडाखडि करेइ—टुकडे टुकडे कर दिया।

भावार्थ—पिशाचरूपी देव ने फिर भी देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्भय यावत् धर्मध्यान मे स्थिर है। यह देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और ललाट पर तीन भ्रूकुटियाँ चढाकर नील कमल के समान खड्ग से कामदेव श्रावक पर प्रहार करने लगा।

टीका—खडाखडि करेइ—यहाँ एक प्रश्न होता है कि टुकडे २ करने पर भी कामदेव जीवित कैसे रहा। इसका समाधान यह है कि—यह देवता द्वारा की गई विकुर्वणा थी। कामदेव को यह लग रहा था कि मेरा शरीर काटा जा रहा है, और वह सारी पीडा धैर्यपूर्वक सहन कर रहा था। अगले अध्ययनो से यह स्पष्ट हो जाता है। चुलनीपिता को ऐसा लगता है जैसे उसके पुत्र मार डाले गए हैं और उन्हे गरम तेल के कडाहो मे पकाया गया। किन्तु जब वह पिशाच को पकडने के लिए उठा और कोलाहल सुन कर माता सामने आई तो उसने बताया कि तेरे सभी पुत्र सुख से सो रहे हैं। उन्हे किसी ने नही मारा। इसी प्रकार कामदेव को भी विचलित करने के लिए भयकर दृश्य उपस्थित किए गए। वे सच्ची घटना नही थे।

कामदेव का शात रहना—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए त उज्जल जाव दुरहियास वेयण सम्म सहइ जाव अहियासेइ ॥ ६७ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वला दुरध्यासा वेदना सम्यक् सहते यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक त—उस उज्जल जाव दुरहियास वेयण—तीव्र यावत् दु सह वेदना को सम्म सहइ जाव अहियासेइ—सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ यावत् धर्मध्यान—मे स्थित रहा।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने उस तीव्र और असह्य वेदना को शान्त चित्त होकर सहन किया और वह धर्म ध्यान में स्थिर रहा।

पिशाच द्वारा हाथी का रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते तंते परितंते सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं पिसाय-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं हत्थि-रूवं विउव्वइ, सत्तंग पइट्ठियं सम्मं संठियं सुजायं, पुरओ उदग्गं, पिट्ठओ वराहं, अया-कुच्छिं अलंब कुच्छिं पलंब-लंबोदराधर करं अब्भुग्गय मउल-मल्लिया विमल धवल दंतं कंचणकोसी पविट्ठ दंतं, आणामिय चाव ललिय संवल्लियग्ग-सोण्डं कुम्मपडिपुण्ण चलणं वीसइ नक्खं अल्लीण पमाण जुत्त-पुच्छं ॥ ९८ ॥

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितुं वा क्षोभयितुं वा विपरिणमयितुं वा तदा श्रान्तस्तान्तः परितान्तः शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कते प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं पिशाचरूपं विप्रजहाति विप्रहायैकं महद् दिव्यं हस्तिरूपं विकरुते। सप्ताङ्ग प्रतिष्ठितं सम्यक् संस्थितं सुजातं पुरत उदग्रं पृष्ठतो वराहम्, अजाकुक्षिं, अप्रलम्बकुक्षिं, प्रलम्बलम्बोदराधरकरम्, अभ्युद्गतमुकुलमल्लिका विमल धवलदन्तं, काञ्चनकोशी प्रविष्ट दन्तम्, आनामितचापललितसंवेल्लिताग्रशुण्डं, कूर्म प्रतिपूर्णचरणं, विंशति नखम्, आलीनप्रमाणयुक्तपुच्छम्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव विहरमाणं—भय रहित यावत् धर्म ध्यान में स्थित पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर कामदेव

समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को निग्गथाग्रो पावयणाग्रो—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने, खोभित्तए वा क्षुब्ध करने, विपरिणामित्तए वा—उसके मनोभावो को पलटने मे जाहे नो सचाएइ—जब समर्थ न हो सका ताहे—तब सते–श्रान्त हो गया ग्रर्थात् थक गया, तते–खेद ग्रनुभव करने लगा, परितते—ग्लानि ग्रनुभव करने लगा, सणिय सणिय पच्चोसक्कइ—धीरे-धीरे पीछे को लौटा, पच्चोसक्कित्ता—लौट कर पोसह सालाग्रो पडिणिक्खमइ—पौषधशाला से बाहिर निकला, पडिणिक्खमित्ता—बाहर निकल कर दिव्व पिसायरुव—दिव्य पिशाच रूप विप्पजहइ—त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्याग कर एग मह दिव्व हत्थिरुव—एक विकराल दिव्य हस्ती रूप की विउव्वइ—विकुवणा की, सत्तग पइट्ठिय—सात ग्रत्यन्त स्थूल ग्रङ्गो से युक्त सम्म सठिय—सम्यक प्रकार से सस्थित सुजाय—सुजात पुरग्रो उदग्ग—ग्रागे से ऊँचा पिट्ठग्रो वराह—ग्रौर पीछे से सुग्रर के ग्राकार का रूप बनाया, ग्रयाकुच्छि ग्रलबकुच्छि—उसकी कुक्ष बकरी की कुक्षि-पेट के समान लम्बी ग्रौर नीचे लटकी हुई थी। पलब लबोदराधर कर—पेट, ग्रधर–होठ ग्रौर सूण्ड नीचे लटक रहे थे। ग्रब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदत—दांत मुह से बाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाति निमल ग्रौर सफेद थे, कचण कोसीपविट्ठदत—ग्रौर दोनो दांत ऐसे थे मानो सोने की म्यान मे रखे हुए हो, ग्राणामियचावललियसवेल्लियग्गसोड—सूण्ड का ग्रग्र भाग झुके हुए धनुष की भाति मुडा हुग्रा था, कुम्मपडिपुण्ण चलण—पैर कछुए के समान स्थूल ग्रौर चपटे थे, वीसइनक्ख—वीस नाखून थे, ग्रल्लीणपमाणजुत्तपुच्छ—पून्छ उठी हुई तथा प्रमाणोपेत थी।

भावार्थ—पिशाचरूप देव ने तब भी श्रावक कामदेव को निडर एव ध्यान मग्न देखा। वह उसे निग्र न्थ प्रवचन से विचलित करने, विक्षुब्ध करने ग्रौर मनो-भावो मे परिवर्तन करने मे समथ न हो सका तो श्रान्त, खिन्न एव ग्लान होकर धीरे २ पीछे लौटा। पौषधशाला से बाहिर निकला ग्रौर पिशाच के रूप को त्याग दिया। तत्पश्चात् विकराल हाथी का रूप धारण किया। उसके सातो ग्रङ्ग, (चार पैर, सूण्ड, लिङ्ग ग्रौर पून्छ) सिडौल थे। शरीर की रचना दृढ तथा सुन्दर थी। ग्रागे से उभरा हुग्रा ग्रौर पीछे से वराह के समान झुका हुग्रा था। कुक्षि बकरी के समान लम्बी ग्रौर लटकी हुई थी। पेट, होठ ग्रौर सूण्ड नीचे लटक रहे थे दान्त मुह से

बाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भांति निर्मल और सफेद थे। उनके ऊपर सोने का वेष्ठन था मानो सोने की म्यान मे रखे हुए हो। सूण्ड का अग्रभाग झुके हुए धनुष के समान मुडा हुआ था, पैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे। पूञ्छ सटी हुई तथा यथा प्रमाण थी।

मूलम्—मत्त मेहमिव गुल-गुलेंत, मण-पवण-जइण-वेग, दिव्व हत्थिरूव विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव न भजेसि, तो ते अज्ज अह सोडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसहसालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्ढ वेहास उव्विहामि, उव्विहित्ता तिक्खेहि दत-मुसलेहि पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणितलसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ९९ ॥

छाया—मत्त मेघमिव गुडगुडायमान, मन पवनजयिवेग, दिव्य हस्तिरूप विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषधशाला येनैव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत—हभो! कामदेव! श्रमणोपासक! तथैव भणति यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्याह शुण्डया गृह्णामि, गृहीत्वा पौषधशालातो नयामि, नीत्वोर्ध्वं विहायसमुद्वहामि, उद्वुह्य तीक्ष्णाभ्या दन्तमुसलाभ्याम् प्रतिच्छामि प्रतीष्याधो धरणितले त्रि कृत्व पादयोर्लोलयामि, यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्तवशार्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—मत्त मेहमिव गुलगुलेंत—वह मदोन्मत्त और मेघ के समान गर्जना कर रहा था, मणपवणजइण वेग—उसका वेग मन और पवन से भी तीव्र था, दिव्व हत्थिरूव—दिव्य हाथी के रूप की विउव्वइ—विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया करके जेणेव पोसहसाला—जहाँ पौषधशाला थी, जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार

बोला—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अरे कामदेव श्रमणोपासक ! तहेव भणइ—उसी प्रकार कहा जाव—यावत् न भजेसि—यदि तू शील-व्रतादि का त्याग नही करेगा तो ते अज्ज अहं—तो तुझे मैं आज सोंडाए गिण्हामि—सूण्ड से पकड़ूंगा, गिण्हित्ता—पकडकर पोसहसालाओ नीणेमि—पोषधशाला से बाहिर ले जाऊँगा नीणित्ता—ले जाकर उड्ढ वेहास उव्विहामि—ऊपर आकाश मे उछालूँगा, उव्विहित्ता—उछाल कर तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं—तीक्ष्ण दंत मूसलो मे उठालूँगा, पडिच्छित्ता—उठाकर अहे धरणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर तिक्खुत्तो—तीनबार पाएसु लोलेमि—पैरो से कुचलूँगा, जहा ण तुमं—जिससे तू अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यंत दुःखी तथा चिंता मग्न होकर अकाले चेव—असमय मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा।

भावार्थ—वह हाथी मदोन्मत्त था। मेघ के समान गर्जना कर रहा था। उस का वेग मन और पवन से भी तीव्र था। देवता ने ऐसे दिव्य हाथी के रूप की विक्रिया की और पोषधशाला मे कामदेव श्रावक के पास पहुँचा और बोला—अरे कामदेव श्रावक ! यदि तू शील व्रत आदि का भङ्ग न करेगा तो मैं तुझे अपनी सूण्ड से पकड़कर पोषधशाला के बाहिर ले जाऊँगा। आकाश मे उछालूँगा फिर अपने तीक्ष्ण मूसल समान दांतो पर उठा लूँगा। तीन बार नीचे भूमि तल पर पटक कर पैरो से कुचलूंगा जिसके कारण तू अत्यन्त दुःख से आर्त्त होकर असमय मे ही जीवन से हाथ धो बैठेगा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव विहरइ ॥ १०० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन हस्तिरूपेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं हत्थिरूवेणं—उस हस्तीरूप धारी देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—भय-भीत न हुआ और यावत् ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी श्रावक कामदेव भय-भीत न हुआ और यावत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

मूलम्—तए ण से देवे हत्थि-रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, २ त्ता दोच्चपि तच्चपि कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह ं भो ! कामदेवा ! तहेव जाव सो वि विहरइ ॥ १०१ ॥

छाया—तत खलु स देवो हस्तिरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हभो ! कामदेव ! तथैव यावत्स विरहति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—उस हस्तीरूप धारी देव ने काम-देव समणोवासय–कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण पासइ—भयरहित यावत् ध्यान मग्न देखा पासित्ता—देखकर दोच्चपि तच्चपि—दूसरी और तीसरी बार कामदेव समणोवासय–कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा–ह भो ! कामदेवा ! अरे कामदेव ! तहेव जाव सोवि विहरइ–उसी प्रकार यावत् वह कामदेव भी विचरता रहा ।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता ने कामदेव श्रावक को निभय यावत् ध्यान से अविचलित देखा तो दूसरी और तीसरी बार उसने कामदेव श्रावक से फिर कहा परन्तु वह पूर्ववत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

मूलम्—तए ण से देवे ह[illegible] सम[illegible]
विहरमाण पासइ, २ त्ता [illegible]
गिण्हेइ, २ त्ता उड्ढ वेहास उव्विहइ
२ त्ता अहे धर[illegible] त्ता

छाया—तत [illegible]
पश्यति, दृष्ट्वा [illegible]

विहायसि समुद्वहति, उदुह्य तीक्ष्णदन्तमुसलं प्रतीच्छति, प्रतिष्याधो धरणितले त्रि-कृत्व पादयोर्लोलयति ।

शब्दार्थ--तए ण--तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे--हस्तीरूप धारी उस देव ने कामदेव समणोवासय--कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण--निर्भय यावत् (ध्यानस्थ) विचरते पासइ--देखा पासित्ता--देखकर आसुरत्ते ४--अत्यन्त रुष्ट लाल पीला होकर कामदेव समणोवासय-कामदेव श्रमणोपासक को सोडाए गिण्हेइ--सूण्ड से पकडा, गिण्हित्ता--पकड कर उड्ढ वेहास उव्विहइ--ऊपर आकाश मे उछाल दिया, उव्विहित्ता--उछाल कर तिक्खेहि दतमुसलेहि पडिच्छइ--तीक्ष्ण मूसल के समान दाँतो पर झेला (धारण) किया पडिच्छित्ता--झेलकर अहे धरणितलसि--नीचे पृथ्वी तल पर तिक्खुत्तो--तीन बार पाएसु लोलेइ--पैरो से रौंदा ।

भावार्थ--फिर भी हाथी रूप धारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान निष्ठ देखा । और लाल-पीला होकर उसे सूण्ड से पकडा और ऊपर आकाश मे उछाल कर तीखे दाँतो पर झेला फिर नीचे पृथ्वी पर पटक कर पैरो से रौंदा ।

मूलम्--तए ण से कामदेवे समणोवासए त उज्जल जाव अहिया-सेइ ॥ १०३ ॥

छाया--तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वला यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ--तए ण--तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए-वह कामदेव श्रमणोपासक त उज्जल जाव अहियासेइ--असह्य वेदना को सहन करता है ।

भावार्थ--कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा ।

पिशाच द्वारा सर्प रूप धारण--

मूलम्--तए ण से देवे हत्थि-रूवे कामदेव समणोवासय जाहे नो सचाएइ जाव सणिय-सणिय पच्चोसक्कइ, २ त्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्ख-

मइ, २ त्ता दिव्व हत्थि रूव विप्पजहइ, २ त्ता एग मह दिव्व सप्प-रूव विउव्वइ, उग्ग-विस चड-विस घोर-विस महाकाय मसी मूसा-कालग नयण-विस-रोस-पुण्ण, अजण-पु ज-निगरप्पगास, रत्तच्छ लोहिय-लोयण जमल-जुयल-चचल-जीह, धरणी-यल-वेणीभूय, उक्कड फुड-कुडिल जडिल-कक्कस-वियड-फुडाडोव-करण-दच्छ, लोहागर-धम्ममाण-धमधमेंत-घोस, अणागलिय-तिव्व-चड रोस सप्प-रूव विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! जाव न भंजेसि, तो ते अज्जेव अह सर-सरस्स काय दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छि-मेण भाएण तिक्खुत्तो गीव वेढेमि, वेढित्ता तिक्खाहि विस-परिगयाहि दाढाहि उरसि चेव निकुट्टेमि, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट-वसटे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १०२ ॥

छाया—तत खलु स देवो हस्तिरूप कामदेव श्रमणोपासक यदा नो शक्नोति यावत शनै २ प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्य हस्तिरूप विप्रजहाति, विप्रहायैक महद दिव्य सर्परूप विकुरुते, उग्रविष चण्डविष घोरविष महाकाय मषीमूषाकालक नयनविषरोषपूर्णम्, अञ्जनपुञ्ज-निकरप्रकाश रक्ताक्ष, लोहितलोचन यमल युगल चचल जिह्व धरणी तलवेणी भूतम्, उत्कट स्फुट कुटिल जटिल कर्कश विकटस्फुटाटोपकरण दक्ष, लोहाकर ध्मायमान धमधमद्-घोषम् अनाकलित-तीव्र चण्डरोष सर्परूप विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषध-शाला येनैव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेव श्रमणो पासकमेवमवादीत—"ह भो ! कामदेव ! श्रमणोपासक ! यावत न भनक्षि तर्हि तेऽद्यैवाह सरसरेति काय दूरोहामि, दूरुह्य पश्चिमेन भागेन त्रि कृत्वा ग्रीवां वेष्टयामि, वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दंष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टामि यथा खलु त्वमार्त-दु खार्त्त वशार्तोऽकाल एव जीवितात् व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—वह हस्तिरूपधारी देव कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को जाहे नो सचाएइ—जब विचलित करने मे

समर्थ न हुआ जाव—यावत सणिय सणिय पच्चोसक्कइ—धीरे २ लौट गया, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर पोसहसालाओ—पौषधशाला से पडिणिक्खमइ—निकला हत्थिरूव विप्पजहइ—हस्तिरूप को छोडा विप्पजहित्ता—छोडकर एगमह दिव्व—एक महान् विकराल सप्परूव—साप का रूप विउव्वइ—धारण किया, उग्गविस—वह सर्प उग्र विषवाला, चडविस—चड विषवाला, घोरविस—घोर विषवाला, महाकाय—महाकाय, मसीमूसाकालग—लोहे की ऐरन के समान काला था, नयणविसरोसपुण्ण—नेत्र विष और रोष से भरे थे, अजणपुञ्जनिगरप्पगास—वर्ण काजल के पुञ्ज के समान था, रत्तच्छ—आखें लाल थी, लोहिय लोयण—लोचन लाल थे, जमल जुयल चचल जीह—जुडी हुई दोनो जिह्वाएँ बाहिर लपक रही थी, धरणीयल वेणीभूय—वह अत्यत काला होने के कारण पृथ्वी की वेणी के समान प्रतीत हो रहा था, उक्कुड फुड कुडिलजडिल कक्कस वियड फुडाडोवकरण दच्छ—उत्कृष्ट-प्रकट-कुटिन-जटिल-कठोर तथा भयकर फण फैलाए हुए था, लोहागर धम्ममाण धमधमेंत घोस—लोहे की धमन भट्टी के समान फुफकार कर रहा था, अणागलिय तिव्व चडरोस—दुर्दात, तीव्र रोष से भरा था, सप्परूव विउव्वइ—(उस देव ने) ऐसे सर्प का रूप बनाया, विउव्वित्ता—बना कर जेणेव पोसहसाला—जहा पौषधशाला थी, जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहा आया, उवागच्छित्ता—आकर कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार बोला हभो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अरे कामदेव श्रमणोपासक ! जाव—यावत न भजेसि—यदि तू (शील आदि व्रतो को) नही छोडेगा तो ते अज्जेव अह सरसरस्स काय दुरुहामि—तो मैं अभी तेरे शरीर पर सर सर करता हुआ चढता हूँ, दुरुहित्ता—चढ कर पच्छिमेण भाएण—पिछले भाग से तिक्खुत्तो—तीन बार गीव वेढेमि—गले को लपेट लूँगा, वेढित्ता—लपेट कर तिक्खाहि विसपरिगयाहि दाढाहि—तीक्ष्ण विषैली दाढाओ से उरसि चेव निकुट्टेमि—वक्षस्थल मे डसूँगा, जहा ण तुम—जिस से तू अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यत दु ख से पीडित हो कर अकाले चेव—असमय मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—जब हस्तिरूप धारी पिशाच कामदेव श्रावक को धर्म मे विचलित न कर सका तो धीरे २ लौट गया । पौषधशाला से बाहिर निकला और हाथी का रूप

गया, उसकी ग्रीवा को लपेट लिया। विषैली तीक्ष्ण दाढों से उसके वक्षस्थल पर डंक मारा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥१०७॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने तं उज्जलं जाव अहियासेइ—उस तीव्र वेदना को सहन किया।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा।

देव का पराजित होकर निजी रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा ताहे संते ३ सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ ॥ १०८ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितुं वा क्षोभयितुं वा विपरिणामयितुं वा तदा शान्तः, तान्तः, परितान्तः शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं सर्परूपं विप्रजहाति, विप्रजहायैकं महद्दिव्यं देवरूपं विकुरुते।

शब्दार्थ—तए णं—इस पर भी से देवे सप्परूवे—उस सर्प रूपधारी देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् (ध्यान में स्थिर देखा) पासित्ता—देखकर जाहे नो संचाएइ—जब समर्थ न हो

सका, कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को निग्गथाश्रो—निग्र न्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने विपरिणामित्तए वा—परिवर्तित करने मे ताहे—तव सते तते परितन्ते—श्रान्त, ग्लान और अत्यन्त दु खी होकर सणिय सणिय पच्चोसक्कइ—धीरे धीरे लौटा, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर पोसहसालाश्रो पडिणिक्खमइ—पोषधशाला से निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर दिव्व सप्परूव विप्पजहइ—दिव्य सप का रूप त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्याग कर एग मह दिव्व—एक महान् दिव्य देवरूव विउव्वइ—देव रूप को धारण किया ।

भावार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निग्र न्थ प्रवचन से विचलित या क्षुब्ध नही हुआ और उसके विचार नही बदले तो वह धीरे-धीरे वापिस लौटा । पौषधशाला से निकल कर उसने साँप का रूप छोड दिया और देवता का रूप धारण कर लिया ।

देव द्वारा कामदेव की प्रशसा और क्षमा प्रार्थना—

मूलम्—हार-विराइय-वच्छ जाव दस दिसाश्रो उज्जोवेमाण पभासेमाण पासाईय दरिसणिज्ज श्रभिरूव पडिरूव दिव्व देवरूव विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसहसाल श्रणुप्पविसइ, श्रणुप्पविसित्ता श्रत-लिक्ख-पडिवन्ने सखिखिणियाइ पच-वण्णाइ वत्थाइ पवर-परिहिए कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो ! कामदेवा समणोवासया ! धन्नेसि ण तुम, देवाणुप्पिया ! सपुण्णे कयत्थे कय-लक्खणे सु लद्धे ण तव, देवाणु-प्पिया ! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स ण तव निग्गत्थे पावयणे इमेया-रूवा पडिवत्ति लद्धा पत्ता श्रभिसमणागया । एव खलु देवाणुप्पिया ! सक्के देविंदे देवराया जाव सक्कसि सीहासणसि चउरासीईए सामाणिए-सा-हस्सीण जाव श्रन्नेसि च बहूण देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४—"एव खलु देवा ! जबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बभयारी जाव दब्भसथारोवगए समणस्स भगवश्रो महावीरस्स श्रतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण

विहरइ । नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव गधव्वेण वा निग्गथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ।" तए ण अह सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो एयमट्ठ असद्दहमाणे ३ इह हव्वमागए । त अहोण, देवाणुप्पिया ! इड्ढी ६ लद्धा ३, त दिट्ठाण देवाणुप्पिया ! इड्ढी जाव अभिसमन्नागया । त खामेमि ण, देवाणुप्पिया ! खमतु मज्झ देवाणुप्पिया ! खतुमरहति ण देवाणुप्पिया ! नाइ भुज्जो करणयाए" त्ति कट्टु पाय-वडिए पजलिउडे एयमट्ठ भुज्जो-भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए ॥ १०६ ॥

छाया—हारविराजित वक्षो यावद् दशदिश उद्द्योतयत् प्रासादीय दर्शनीयमभिरूप प्रतिरूप दिव्य देवरूप विकुरुते, विकृत्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पौषधशालामनुप्रविशति, अनुप्रविश्यान्तरिक्षप्रतिपन्न सकिङ्किणीकानि पञ्चवर्णानि वस्त्राणि प्रवरपरिहित कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हभो कामदेव ! श्रमणोपासक ! धन्योऽसि खलु त्व देवानुप्रिय ! सम्पूर्ण, कृतार्थ, कृतलक्षण, सुलभ खलु तव देवानुप्रिय ! मानुष्यक जन्मजीवितफल, यस्य खलु तव नैग्रन्थ्ये प्रवचने इयमेतद्रूपा प्रतिपत्तिर्लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता । एव खलु देवानुप्रिय ! शक्रो देवेन्द्रो देवराजो यावत् शाक्रे सिंहासने चतुरशीते सामानिकसहास्रीणा यावदन्येषा च बहूना देवाना देवीना च मध्यगत एवमाख्याति ४—"एव खलु देवानुप्रिया ! जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे चम्पाया नगर्या कामदेव श्रमणोपासक पौषधशालाया पौषधिको ब्रह्मचारी यावत् दर्भसस्तारोपगत श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहरति । नो खलु स शक्य केनापि देवेन वा दानवेन वा गन्धर्वेण वा नैग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितु वा क्षोभयितु वा विपरिणामयितु वा । तत खलु अह शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्यैतमर्थमश्रद्दधान ३ इह हव्यमागत, तदहो खलु देवानुप्रिया ! ऋद्धि ६ लब्धा ३ तद् दृष्टा खलु देवानुप्रिया ! ऋद्धिर्यावत्समन्वागता, तत क्षामयामि देवानुप्रिया ! क्षम्यन्ता मम देवानुप्रिया ! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रिया ! न भूय करणतया" इति कृत्वा पादपतित प्राञ्जलिपुट एतदर्थं भूयो भूय क्षामयति क्षामयित्वा यामेवदिश प्रादुर्भूतस्तामेवदिश प्रतिगत ।

शब्दार्थ—(उस देव ने) हारविराइयवच्छ—हारो से विभूषित वक्षस्थल वाला जाव—यावत् दसदिसाओ उज्जोवेमाण—दश दिशाओ को प्रकाशित करने वाला पासाईय—मन को प्रसन्न करने वाला दरिसणिज्ज—दर्शनीय अभिरूव—अभिरूप पडिरूव–प्रतिरूप दिव्व देवरूव–दिव्य देव रूप विउव्वइ–धारण किया, विउव्वित्ता–धारण करके कामदेवस्स—कामदेव श्रमणोपासक की पोसहसाल अणुप्पविसइ–पौषधशाला मे प्रवेश किया अणुप्पविसित्ता—प्रवेश करके अतलिक्ख पडिवन्ने—आकाश मे अवस्थित होकर सखिखिणियाइ पचवण्णाइ वत्थाइ पवरपरिहिय—क्षुद्र घटिकाओ से मण्डित पञ्चवर्ण के वस्त्र धारण किए हुए कामदेव समणोवासय–कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—हभो कामदेवा समणोवासया ! हे कामदेव श्रमणोपासक ! धन्नेसि ण तुम देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, सपुण्णे–तुम पुण्यशील हो, कयत्थे—कृतार्थ हो, कयलक्खणे—कृत लक्षण अर्थात शुभ लक्षणो वाले हो, सुलद्धेण तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मजीवियफले—हे देवानुप्रिय ! तुम्हारे लिए मनुष्य जन्म और जीवन का फल सुलभ है जस्स ण–क्योकि तव णिग्गथे पावयणे—तुम्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे इमेयारूवा पडिवत्ती–यह इस प्रकार की प्रतिपत्ति विश्वास लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया—उपलब्ध हुई—प्राप्त हुई और जीवन मे उतर गई ! एव खलु देवाणुप्पिया ! इस प्रकार हे देवानुप्रिय ! सक्के देविंदे देवराया—शक्र देवेन्द्र देवराज ने जाव यावत् सक्कसि सीहासणसि—शक्रासन से चउरासीईए सामाणियसाहस्सीण–चौरासी हजार सामानिक जाव–यावत् अन्नेसि च बहूण—अन्य बहुत से देवाण य देवीण य मज्झगए—देवो और देवियो के मध्य मे एवमाइक्खइ—इस प्रकार कहा—एव खलु देवाणुप्पिया ! इस प्रकार हे देवो ! जबुद्दीवेदीवे—जम्बूद्वीप मे भारहेवासे–भारत वर्ष की चम्पाए नयरीए—चम्पा नगरी मे कामदेवे समणोवासए—कामदेव श्रमणोपासक पोसहसालाए पोसहिए—पौषधशाला मे पौषध अङ्गीकार करके दब्भसथारोवगए—डाभ के सथारे (शय्या) पर बैठा हुआ समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय—श्रमण भगवान् महावीर से प्राप्त हुई धम्मपण्णत्ति—धर्मप्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ताण विहरइ—स्वीकार कर विचर रहा है। नो खलु से सक्का—यह शक्य नही कि उसे केणइ देवेण वा—कोई देव जाव—यावत् गधव्वेण वा—गन्धर्व निग्गथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित खोभित्तए वा—अथवा क्षुब्ध कर सके विपरिणमित्तए वा—अथवा उसके भावो को

बदल सके, तएण ग्रह—तब मैं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो—देवेन्द्र देवराज शक्र की एयमट्ठं—इस बात पर असद्दहमाणे—विश्वास न करता हुआ इह हव्वमागए—तत्काल यहाँ आया, त ग्रहोण देवाणुप्पिया—ग्रहो देवानुप्रिया ! इड्ढी ६ लद्धा ३—तुमने ऐसी ऋद्धिप्राप्त की त दिट्ठाण देवाणुप्पिया ! इड्ढी जाव अभिसमन्नागया—हे देवानुप्रिय ! तुमने ऐसी ऋद्धि का साक्षात्कार किया यावत् वह तुम्हारे सन्मुख आई, त खामेमि ण देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिया ! मैं तुम से क्षमा की याचना करता हूँ, खमतु मज्झ देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय ! मुझे क्षमा करो, खतुमरिहति ण देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय ! आप क्षमा करने योग्य हैं, नाइ भुज्जो करणया—फिर कभी ऐसा नहीं किया जाएगा, त्ति कट्टु—ऐसा कहकर पायवडिए—पाओ पर गिर पडा पजलिउडे—हाथ जोड कर एयमट्ठ भुज्जो २ खामेइ—इस बात के लिए बार बार क्षमा याचना करने लगा, खामित्ता—क्षमा याचना करके जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा मे चला गया।

भावार्थ—उसने वक्षस्थल पर हार पहिने हुए दश दिशाओ को प्रकाशित करने वाले चित्ताह्लादक, दर्शनीय, अभिरूप, प्रतिरूप तथा दिव्य देवरूप को धारण किया, पौषधशाला मे प्रविष्ट हुआ, और आकाश मे खडा हो गया। उसने पाँच वर्णों वाले सुन्दर वस्त्र पहन रखे थे, जिनमे घुंगरू लगे हुए थे। तत्पश्चात् वह कामदेव श्रमणोपासक से इस प्रकार बोला—"देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, पुण्यशील हो, कृतार्थ हो, कृत लक्षण हो। तुम्हारा जीवन और मनुष्यत्व सफल हुआ। क्योंकि तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दृढ श्रद्धा है। हे देवानुप्रिय ! देवराज शक्र ने चौरासी हजार सामानिक तथा अन्य देवी देवताओं के बीच भरी सभा म यह घोषणा की थी—"हे देवानुप्रियो ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप, भारत क्षेत्र म चम्पा नगरी है वहाँ कामदेव श्रमणोपासक पौषधशाला मे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर रहा है, उसे कोई देव, असुर, या गन्धर्व धर्म मे विचलित करने म समर्थ नहीं है। कोई भी उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित नही कर सकता। उसके विचारों को नहीं बदल सकता।" देवेन्द्र देवराज शक्र की इस बात पर मुझे विश्वास न हुआ और मैं तत्काल यहाँ आया। अहो देवानुप्रिय ! तुमने ऐसी ऋद्धि प्राप्त की। देवानुप्रिय ! मैं क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। आप मुझे क्षमा करने में समर्थ हैं। फिर कभी ऐसा काम नहीं किया जाएगा।" इतना कहकर दोनो हाथ जोड कर

चरणो पर गिर पडा और बारम्बार क्षमा याचना करने लगा। तत्पश्चात् जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे चला गया।

टीका—देव ने धम साधना से विचलित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु सफल नही हो सका। अन्त मे अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप मे प्रकट हुआ और कामदेव से क्षमा याचना की। साथ ही उसने यह भी बताया—देवराज शक्रेन्द्र ने भरी सभा मे तुम्हारी दृढता की प्रशसा की थी। मुझे उस पर विश्वास नही हुआ और परीक्षा लेने के लिए यहाँ चला आया। अब मुझे विश्वास हो गया है कि शक्रेन्द्र ने जो कहा था वह अक्षरश ठीक है। तुम धन्य हो, पुण्य शाली हो, तुम्हारा जीवन सफल है क्योकि निर्ग्रन्थ प्रवचन मे तुम्हारी अटूट श्रद्धा है।

प्रस्तुत सूत्र मे देवता के स्वरूप का वणन करते हुए यावत् शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ है—थोडा सा वर्णन यहाँ देकर शेष अन्यत्र अनुसन्धान के लिए छोड दिया गया है। वह वर्णन इस प्रकार है–"कडगतुडियथम्भियभुय अङ्गदकुण्डलमट्ठगण्डतलकण्णपीढधार विचित्तहत्थाभरण विचित्तमालामउलि कल्लाणगपवरवत्थपरिहिय कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधर भासुरबोंदि पलम्बवणमालाधर दिव्वेण वण्णेण दिव्वेण गन्धेण दिव्वेण फासेण दिव्वेण सघयणेण दिव्वेण सठाणेण दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेण तेएण दिव्वाए लेसाए त्ति", कण्ठचम्। नवर कटकानि–कङ्कणविशेषा, तुटितानि-बाहुरक्षकास्ताभिरतिबहुत्वात्स्तम्भितौ–स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा, अङ्गदे च–केयूरे, कुण्डले च–प्रतीते मृष्टगण्डतले—घृष्टगण्डे ये कर्णपीठाभिधाने-कर्णाभरणे ते च धारयति यत्तत्तथा, तथा विचित्रमालाप्रधानो मौलिमुकुट मस्तक वा यस्य तत्तथा, कल्याणकम्–अनुपहत प्रवर वस्त्र परिहित येन तत्तथा, कल्याणकानि–प्रवराणि माल्यानि—कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यत्तत्तथा, भास्वर बोन्दीक–दीप्तशरीरम, प्रलबा या वनमाला–आभरणविशेपस्ता धारयति यत्तत्तथा, दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते, एव सर्वत्र, नवर ऋद्धचा—विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या—इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया प्रभावेन, छायया—प्रतिबिम्बेन, अर्चिषा—दीप्तिज्वालाया, तेजसा–कान्त्या, लेश्यया–आत्म परिणामेन, उद्योतयत्–प्रकाशयत्–प्रभासयत्–शोभयदिति, प्रासादीय–चित्ताह्लादक, दर्शनीय–यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूप–मनोज्ञ, प्रतिरूप–द्रष्टार २ प्रतिरूप यस्य

प्रतिष्ठ देवी-देवता विद्यमान होते हैं। उनका संग्रह यावत् शब्द से किया गया है। अन्यत्र उनका वर्णन नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"तायत्तीसाए तायत्तीसगाण चउण्ह लोगपालाण अट्ठण्ह अग्गमहिसीण तिण्ह परिसाण सत्तण्ह अणियाण सत्तण्ह अणियाहिवईण चउण्ह चउरासीण आयरक्खदेवसाहस्सीण, त्ति' तत्र त्रयस्त्रिंशा —पूज्या महत्तरकल्पा, चत्वारो लोकपाला पूर्वादिदिगधिपतय सोमयमवरुणवैश्रवणाख्या, अष्टौ अग्रमहिष्य —प्रधानाभार्या, तत्परिवार प्रत्येक पञ्चसहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्र परिषदोऽभ्यन्तरामध्यमाबाह्या च, सप्तानीकानि–पदातिगजाश्वरथवृषभभेदात्पञ्च साङ्ग्रामिकाणि, गन्धर्वानीक नाट्यानीक चेति सप्त, अनीकाधिपतयश्च सप्त यै—प्रधान पत्ति प्रधानो गज एवमन्येऽपि, आत्मरक्षा—अङ्गरक्षास्तेषा चतस्र सहस्राणा चतुरशीतय। आख्याति—समान्यतो, भाषते विशेषत, एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति।"

उपरोक्त पाठ मे इन्द्र के परिवार सम्बन्धी देवी-देवताओं का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

१ त्रायस्त्रिंश—इसका अर्थ है ३३ देवताओ का समूह जिन्हें इन्द्र सम्मान की दृष्टि से देखता है और पूज्य मानता है।

२ चार लोकपाल—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा के अधिपति–सोम, यम, वरुण, वैश्रवण। वैदिक परम्परा मे दिक्पालो की संख्या आठ है उसमे चार विदिशाओं के अधिपति भी गिने जाते हैं।

३ आठ अग्र महिषिया—अर्थात् पटरानियाँ। प्रत्येक का परिवार पाँच हजार माना जाता है। इस प्रकार इन्द्र के अन्त पुर मे चालीस हजार देवियाँ हैं। कहीं कहीं प्रत्येक अग्रमहिषी का परिवार सोलह हजार माना जाता है।

४ तीन परिषदें—आभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य।

५ सात प्रकार की अनीक अर्थात् सेनाएँ—पैदल, घोड़े, रथ, हाथी तथा वृषभ, इस प्रकार पाँच युद्ध सम्बन्धी सेनाएँ तथा गन्धर्वानीक अर्थात् गाने-बजाने वालों का दल और नाट्यानीक अर्थात् नाटक करने वालों का दल।

६ सात सेनापति—उपरोक्त सातों प्रकार की सेनाओं के सचालक।

७ अङ्गरक्षक—इन्द्र की चार प्रकार की अङ्गरक्षक सेनाएँ हैं। प्रत्येक मे ८४ हज़ार सैनिक होते हैं। यह इन्द्र की ऋद्धि का सामान्य वर्णन है।

उपरोक्त सूत्र मे देव शब्द के पहले भी 'जाव' शब्द आया है। वह नीचे लिखे पाठ की ओर निर्देश देता है—"जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा" अर्थात् कामदेव श्रमणोपासक को यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, महोरग तथा गन्धर्व कोई भी धर्म से विचलित करने मे समर्थ नही हैं।

सूत्र मे 'नाइ' पद 'नैव' अर्थ का द्योतक है। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—"नाइ भुज्जो करणयाए' न-नैव, आइ ति निपातो वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, भूय करणताया पुनराचरणे न प्रवर्तिष्य इति गम्यते" अर्थात् नाइं शब्द का अर्थ है 'नही'। यहाँ 'न' के साथ लगा हुआ 'आइ' केवल वाक्य का अलङ्कार है। किसी विशेष अर्थ को प्रकट नही करता अथवा इसका अर्थ है अवधारण या निश्चय और इसका प्रयोग 'नैव' के अर्थ मे हुआ है। देव यह निश्चय प्रकट करता है कि मैं इस कार्य को भविष्य मे नही करूँगा। क्षमायाचना करके देव पीछे लौट गया।

कामदेव द्वारा प्रतिमा की पूर्ति—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए "निरुवसग्ग" इइ कट्टु पडिम पारेइ ॥११०॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासक 'निरुपसर्गम्' इति कृत्वा प्रतिमा पारयति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने निरुवसग्ग इइ कट्टु—अब उपसर्ग नही रहा यह समझ कर पडिम पारेइ—प्रतिमा-अभिग्रह—का पारण किया।

भावार्थ—तदनन्तर उस कामदेव श्रमणोपासक ने निरुपसर्ग—'उपसर्ग नही रहा' यह जान कर प्रतिमा (अभिग्रह) का पारणा किया।

भगवान् महावीर का चम्पा में पदार्पण—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे जाव विहरइ ॥ १११ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव विहरइ—यावत् विचर रहे थे ।

भावार्थ—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर चम्पा नगरी के बाहिर उद्यान मे ठहरे हुए थे ।

कामदेव का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए" त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, सुद्ध-प्पावेसाइं वत्थाइं जाव अप्प-महग्घ जाव मणुस्स-वग्गुरा परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नगरिं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखो जाव पज्जुवासइ ॥ ११२ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकोऽस्याः कथायाः लब्धार्थः सन् "एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद् विहरति, तच्छ्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य ततः प्रतिनिवृत्तस्य पौषधं पारयितुम्" इति कृत्वा एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य शुद्धप्रवेश्यानि वस्त्राणि यावद्-अल्पमहार्घ—यावद्-मनुष्य वागुरा परिक्षिप्तः स्वस्मात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य चम्पां नगरीं मध्य-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव पूर्णभद्रश्चैत्यो यथा शङ्खो यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—यह बात सुनकर कि एवं खलु समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव विहरइ—यावद् विचर रहे हैं, (सोचने लगा कि) तं सेयं खलु मम—मेरे लिए यह उचित है कि समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार कर तओ पडिणियत्तस्स—वहां से

लौट कर पोसह पारित्तए—पौषध का पारणा करूँ। त्ति कट्टु एव सपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, सपेहित्ता—विचार कर सुद्धप्पावेसाइ वत्थाइ—शुद्ध प्रवेश योग्य वस्त्र (धारण कर) जाव—यावत् अप्पमहग्घ मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते—अल्प भार बहुमूल्य (आभूषण धारण कर) यावत् जन समुदाय से वेष्टित होकर सयाओ गिहाओ—अपने घर से पडिणिक्खमइ-निकला पडिणिक्खमित्ता य—निकल कर चम्प-नगरिं—चम्पा नगरी के मज्झ मज्झेण—मध्य मे होता हुआ निगच्छइ—निकला, निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणेव पुण्णभद्दे चेइए—जिधर पूर्णभद्र चैत्य था, जहा सखो —शख की तरह जाव—यावत् पज्जुवासइ—पर्युपासना की।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने जब सुना कि "श्रमण भगवान महावीर यावत् विचर रहे हैं" तो मन मे विचार किया कि "अच्छा होगा यदि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार कर के लौट कर पौषध का पारणा करूँ।" यह विचार कर परिषद आदि मे प्रवेश करने योग्य शुद्ध वस्त्र यावत् अल्प भार बहुमूल्य आभूषण धारण करके यावत जन समुदाय से परिवृत्त होकर घर से निकला। चम्पा नगरी के बीच होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य मे पहुँचा और शङ्ख के समान पर्युपासना की।

टीका—उपसर्ग समाप्त होने पर कामदेव को ज्ञात हुआ कि भगवान् महावीर नगरी के बाहिर उद्यान मे आए हुए हैं। उसने उन्हें वन्दना नमस्कार करने और तत्पश्चात् पौषध पारणे का निश्चय किया। व्रत समाप्त करने से पहले यथा सम्भव धर्म गुरु के दर्शन करने की परिपाटी उस समय से चली आ रही है। इससे यह भी प्रकट होता है कि पारणे के पहले कामदेव मे किसी प्रकार की आतुरता नही थी। उसने उत्साह तथा शान्ति के साथ प्रत्येक धर्म क्रिया का पालन किया।

सुद्धप्पावेसाइ—इसका अर्थ है शुद्ध अर्थात् पवित्र एव सभा मे प्रवेश करने योग्य वस्त्र। ज्ञात होता है कि धर्म क्रिया के लिए उस समय भी बाह्य शुद्धि का ध्यान रखा जाता था। शुद्ध तथा निर्मल वस्त्र मन पर भी प्रभाव डालते हैं। गृहस्थो के लिए व्यवहार शुद्धि आवश्यक है।

मणुस्सवग्गुरापरिखित्ते—कामदेव जब भगवान् के दर्शनार्थ निकला तो उसके साथ बहुत से मनुष्य और भी थे। प्रतीत होता है वह पैदल ही भगवान् के दर्शनार्थ गया।

अप्पमहग्घाभरणालंकिये सरीरे—उसने अपने शरीर को अल्प—किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से आलङ्कृत किया—इससे प्रकट होता है कि उसके मन में उत्साह एवं उमंग थी। भगवान् के आगमन को उसने एक उत्सव समझा और हर्षित होता हुआ वन्दनार्थ गया।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव धम्मकहा समत्ता ॥ ११३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेवस्स समणोवासयस्स—कामदेव श्रमणोपासक तीसे य—और परिषद् को धर्मोपदेश किया जाव धम्मकहा समत्ता—यावत् धर्म कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक और उस महती परिषद् को धर्मोपदेश किया यावत्—धर्मोपदेश समाप्त हुआ।

भगवान् महावीर द्वारा कामदेव की प्रशंसा—

मूलम्—"कामदेवा" इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"से नूणं, कामदेवा! तुब्भं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए। तएणं से देवे एगं महं दिव्वं पिसाय-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरुत्ते ४ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय तुमं एवं वयासी—'हंभो कामदेवा! जाव जीवियाओ ववरोविज्जसि', तं तुमं तेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि"। एवं वण्णग-रहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ। "से नूणं कामदेवा! अट्ठे समट्ठे?" "हंता, अत्थि" ॥ ११४ ॥

छाया—"कामदेव!" इति श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवं श्रमणोपासकम्—एवमवादीत्—"अथ नूनं कामदेव! तव पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिके

प्रादुर्भूत । तत खलु स देव एक महद्दिव्य पिशाचरूप विकुरते, विकृत्य आशुरुप्त ४ एक महान्त नीलोत्पल-यावदसि गृहीत्वा त्वामेवमवादीत"हभो कामदेव ! यावत् जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे" ततस्त्व तेन देवेनैवमुक्त सन अभीतो यावद विहरसि ।" एव वर्णक रहितास्त्रयोऽप्युपसर्गास्तथैवोच्चारितव्या यावद् देव प्रतिगत ।" "स नून कामदेव ! अर्थ समथ ?" "हन्त ! अस्ति ।"

शब्दाथ—कामदेवा इ—हे कामदेव ! समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव समणोवासय-कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—से नूण कामदेवा—हे कामदेव ! निश्चित ही तुम—तुम्हारे पास पुव्वरत्ताव-रत्तकालसमयसि—मध्य-रात्रि के समय एगे देवे—एक देव अतिए पाउब्भूए—प्रकट हुआ था, तएण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एग मह दिव्व पिसायरूव—एक विकराल पिशाचरूप की विउव्वइ-विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया कर आसुरुत्ते ४—आशुरुप्त अत्यन्त क्रुद्ध हो कर एग मह—एक महान् नीलुप्पल—नीलोत्पल के समान जाव—यावत् असि गहाय—तलवार लेकर तुम एव वयासी—तुम्हे इस प्रकार कहने लगा हभो कामदेवा !—अरे कामदेव ! जाव—यावत् जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा त तुम–तो तू तेण देवेण—उस देव द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए—निर्भय जाव—यावत् विहरसि—ध्यानावस्थित रहा, एव—इस प्रकार वण्णगरहिया—वणक रहित तिण्णि वि उवसग्गा—तीनो उपसग तहेव पडिउच्चारेयव्वा—तथव उच्चारण करने चाहिएँ जाव—यावत् देवो पडिगओ-देव लौट गया से नूण कामदेवा—हे कामदेव ! निश्चय से ही *क्या अट्ठे समट्ठे—यह बात ठीक है ? हता, अत्थि—हाँ, भगवन् ! यह* ऐसे ही है ।

भावाथ—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक से पूछा—"हे कामदेव ! मध्यरात्रि के समय एक देव तुम्हारे पास प्रकट हुआ था ! तदनन्तर उस देव ने एक विकराल पिशाचरूप की विक्रिया की और एक भयकर नीलोत्पल के समान चमकती हुई तलवार लेकर तुम्हे इस प्रकार कहा—"भो कामदेव ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा यावत् प्राण रहित कर दिया जाएगा ।" तू उस देव द्वारा इस प्रकार

कहे जाने पर भी निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर रहा। इसी प्रकार वर्णन रहित-बिना किसी विशेष के तीनों उपसर्ग उसी प्रकार कहने चाहिएँ। यावत् देव वापिस लौट गया। हे कामदेव! क्या यह बात ठीक है?" कामदेव ने कहा"—हाँ, भगवन्! जो आप कृपा करते हैं ठीक है।"

टीका—भगवान् ने कामदेव तथा समस्त परिषद् को धर्मोपदेश दिया। अन्त में पूछा—"कामदेव! मध्यरात्रि के समय जब तुम धर्म जागरण कर रहे थे, क्या तुम्हारे पास एक देव आया था?" भगवान् ने देवकृत तीनों उपसर्गों का वर्णन किया। उत्तर में कामदेव ने विनयपूर्वक स्वीकृति प्रदान की।

मूलम्—"अज्जो" इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—"जइ ताव, अज्जो! समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झावसंता दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइ, अज्जो! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंग गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए सम्मं सहित्तए जाव अहियासित्तए ॥ ११५ ॥"

छाया—हे आर्या! इति श्रमणो भगवान् महावीरो बहून् श्रमणान् निर्ग्रन्थांश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्र्यैवमवादीत्—"यदि तावदार्या! श्रमणोपासका गृहिणो गृहमधिवसन्तो दिव्यमानुष्यतिर्यग्योनिकानुपसर्गान् सम्यक् सहन्ते यावदध्यासते, शक्या पुनरार्या! श्रमणैर्निर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्ग गणिपिटकमधीयानैर्दिव्यमानुष्यतिर्यग्योनिकानुपसर्गाः सम्यक् सोढुं यावदध्यासितुम्।

शब्दार्थ—अज्जो इ—हे आर्यो! (इस प्रकार सम्बोधन कर) समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य—बहुत से श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आमंतेत्ता—आमन्त्रित करके एवं वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो—हे आर्यो! यदि समणोवासगा—श्रमणोपासक गिहिणो—गृहस्थ गिहमज्झावसंता—गृहस्थ में निवास करते हुए भी दिव्व माणुस तिरिक्ख जोणिए उवसग्गे—देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी

उपसर्गों को सम्म सहति—सम्यक प्रकार से सहन करते हैं जाव अहियासति—यावत् दृढता से सहन करते हैं, सक्का पुणाइ अज्जो—हे अर्या ! पुन शक्य ही है समणेहिं निग्गथेहिं—श्रमण निर्ग्रंथ दुवालसग गणिपिडग—द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक को अहिज्जमाणेहिं दिव्व माणुस्स तिरिक्खजोणिए उवसग्गा—अध्ययन करने वालो द्वारा देव, मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धि उपसर्गो का सम्म—सम्यक्तया सहित्तए जाव अहियासित्तए—सहन करना यावत् विचलित न होना ।

भावाय—श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आमन्त्रित कर के इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! यदि श्रमणोपासक गृहस्थ गह मे निवास करते हुए भी दिव्य देव सम्बधी, मनुष्य सम्बन्धी और तियञ्च सम्बन्धी उपसर्गो को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं यावत् दृढ रहते हैं, तो फिर श्रमण निग्रन्थ और गणिपिटकरूप द्वादशाङ्ग का अध्ययन करने वालो को उपसर्गों का भली प्रकार सहन करना यावत् दृढ रहना क्यो शक्य नही ?

मूलम्—तओ ते बहवे समणा निग्गथा य निग्गथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेंति ॥ ११६ ॥

छाया—ततस्ते बहव श्रमणा निग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति ।

शब्दाय—तओ—तदनन्तर ते बहवे समणा निग्गथा य निग्गथीओ य—उन बहुसख्यक श्रमणो अर्थात साधु-साध्वियो ने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के तहत्ति—तथेति हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ऐसे कहते हुए एयमट्ठ—इस वचन को विणएण पडिसुणेंति—विनय पूर्वक अङ्गीकार किया ।

भावाय—श्रमण भगवान् महावीर के इस वचन को साधु तथा साध्वियो ने 'तथेति' कह कर विनय पूर्वक स्वीकार किया ।

टीका—भगवान् ने साधु तथा साध्वियो को सम्बोधित करते हुए कहा—हे आर्यो ! यदि श्रावक गृहस्थ मे रह कर भी धम मे इस प्रकार की दृढता रख सकता है और

मारणान्तिक कष्ट एव असह्य वेदना होने पर भी अपनी साधना से विचलित नहीं होता तो आप सभी का क्या कर्त्तव्य है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उपसर्ग एवं कष्टों के सहन करने से हमारी आत्मा उत्तरोत्तर दृढ एव निर्मल होती है अत उनका स्वागत करना चाहिए।

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव समण भगव महावीर पसिणाइ पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, समण भगव महावीर तिक्खुत्तो वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए ॥ ११७ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासको हृष्टो—यावत् श्रमण भगवन्त महावीर प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वा अर्थमाददाति, अर्थमादाय श्रमण भगवन्त महावीर त्रिकृत्वो वदते नमस्यति, व० न० यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशां प्रतिगत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक हट्ठ—प्रसन्न हुआ जाव—यावत् (उसने) समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर से पसिणाइ पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछ कर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके समण भगव महावीर व० न०—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना, नमस्कार कर जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा में वापिस चला गया।

भावार्थ—कामदेव श्रमणोपासक ने प्रसन्न हो कर भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया पुन भगवान् को नमस्कार की और जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापिस चला गया।

भगवान् का चम्पा से विहार—

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहार विहरइ ॥ ११८ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिच्चम्पात प्रति-निष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिजन पदविहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एकदिन चम्पाओ पडिणिक्खमइ—चम्पा से प्रस्थान कर गये पडिणिक्खमित्ता—प्रस्थान करके बहिया जणवय विहार विहरइ—अन्य जनपदो मे विहार करने लगे ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अन्य किसी दिन चम्पा से प्रस्थान कर दिया और अन्य जनपदो म विचरने लगे ।

कामदेव द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए पढम उवासग-पडिम उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ ११६ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासक प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक पढम उवासगपडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण कर के विचरने लगा ।

भावार्थ—तत्पश्चात् कामदेव श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा ग्रहण की ।

जीवन का उपसहार—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए बहूहि जाव भावेत्ता वीस वासाइ समणोवासग-परियाग पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता, मासियाए सलेहणाए अप्पाण भूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय पडिक्कते, समाहिपत्ते, कालमासे काल किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्म वडिसयस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेण अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ ण अत्थेगइयाण देवाण चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता ॥ १२० ॥

मारणान्तिक कष्ट एव असह्य वेदना होने पर भी अपनी साधना से विचलित नही होता तो आप सभी का क्या कर्त्तव्य है, यह बताने की आवश्यकता नही है। उपसर्ग एव कष्टो के सहन करने से हमारी आत्मा उत्तरोत्तर दृढ एव निर्मल होती है अत उनका स्वागत करना चाहिए।

मूलम—तए ण से कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव समण भगव महावीर पसिणाइ पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, समण भगव महावीर तिक्खुत्तो वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए ॥ ११७ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासको हृष्टो—यावत् श्रमण भगवन्त महावीर प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वा अर्थमाददाति, अर्थमादाय श्रमण भगवन्त महावीर त्रि कृत्वो वन्दते नमस्यति, व० न० यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशा प्रतिगत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक हट्ठ—प्रसन्न हुआ जाव—यावत् (उसने) समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर से पसिणाइ पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछ कर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके समण भगव महावीर व० न०—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना, नमस्कार कर जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा मे वापिस चला गया।

भावार्थ—कामदेव श्रमणोपासक ने प्रसन्न हो कर भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया पुन भगवान् को नमस्कार की और जिस दिशा से आया था, उसी दिशा से वापिस चला गया।

भगवान् का चम्पा से विहार—

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहार विहरइ ॥ ११८ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान महावीरोऽयदा कदाचिच्चम्पात प्रति-निष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनं पदविहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एकदिन चम्पाओ पडिणिक्खमइ—चम्पा से प्रस्थान कर गये पडिणिक्खमित्ता—प्रस्थान करके बहिया जणवय विहार विहरइ—अन्य जनपदो मे विहार करने लगे ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अन्य किसी दिन चम्पा से प्रस्थान कर दिया और अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

कामदेव द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए पढम उवासग-पडिम उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ ११६ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासक प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक पढम उवासगपडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण कर के विचरने लगा ।

भावार्थ—तत्पश्चात् कामदेव श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा ग्रहण की ।

जीवन का उपसहार—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए बहूहि जाव भावेत्ता वीस वासाइ समणोवासग-परियाग पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता, मासियाए सलेहणाए अप्पाण झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय पडिक्कते, समाहिपत्ते, कालमासे काल किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्म-वडिसयस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेण अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ ण अत्थेगइयाण देवाण चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता ॥ १२० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेव श्रमणोपासको बहुभिर्यावद् भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासक पर्याय पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमा सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मान जोषयित्वा, षष्ठि भक्तानि अनशनेन छित्वा, आलोचितप्रतिक्रान्त, समाधिप्राप्त, कालमासे काल कृत्वा सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतमकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणाभे विमाने देवतयोपपन्न । तत्र खलु अस्त्येकेषा देवाना चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक बहूहि जाव भावेत्ता—बहुत सी प्रतिमाओ अभिग्रहो द्वारा आत्मा को भावित कर बीस वासाइ—बीस वष तक समणोवासग परियाग पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय को पाल कर एक्कारस्स उवासग पडिमाओ—ग्यारह उपासक प्रतिमाओ को सम्म काएण फासेत्ता—काय द्वारा सम्यक् प्रकार से स्पर्श कर मासियाए सलेहणाए अप्पाण झूसित्ता—मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता—अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के आलोइय पडिक्कते—आलोचना करके तथा पाप कर्म से निवृत्त होकर समाहिपत्ते—समाधि को प्राप्त करके काल मासे काल किच्चा—मृत्यु काल आने पर काल करके सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प म सोहम्मवडिसयस्स महाविमाणस्स—सौधर्मावतसक महाविमान के उत्तर पुरत्थिमेण—उत्तरपूर्व दिशा मे स्थित अरुणाभे विमाणे—अरुणाभ नामक विमान मे देवत्ताए उववन्ने—देवरूप से उत्पन्न हुआ । तत्थण—वहाँ पर अत्येगइयाण देवाण—बहुत से देवो की चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता—चार पल्योपम की स्थिति कही गई है, कामदेवस्स वि देवस्स—देव रूप मे उत्पन्न कामदेव की भी चत्तारि पलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है ।

भावार्थ—तदनन्तर वह कामदेव श्रमणोपासक बहुत से अभिग्रहो द्वारा यावत् आत्मा को भावित करता हुआ बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय पालन कर, ग्यारह उपासक प्रतिमाओ (अभिग्रहो) को सम्यक् प्रकार से काय द्वारा स्पर्श करके मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के अर्थात् एक मास तक सथारा करके आलोचना करके तथा पापो से निवृत्त होकर व यथावसर समाधि पूर्वक मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प के सौधर्मावतसक महाविमान

के उत्तरपूव मे अरुणाभ नामक विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहा पर बहुत से देवो की चार पल्योपम की स्थिति है, कामदेव की स्थिति भी चार पल्योपम बताई गई है।

कामदेव का भविष्य—

मूलम्—"से ण, भते ! कामदेवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएण भव क्खएण ठिइ-क्खएण अणतर चय चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?"

"गोयमा ! महाविदेहेवासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ १२१ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण बिइय कामदेवज्झयण समत्त ॥

छाया—"स खलु भदन्त ! कामदेवो देवस्तस्माद्देवलोकादायु क्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेणान तर चय च्युत्वा कुत्र गमिष्यति। कुत्रोत्पत्स्यते ? "गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति" ? निक्षेप।

शब्दार्थ—से ण भते ! कामदेवे —हे भगवन् वह कामदेव नामक देव ताओ देव-लोगाओ—उस देवलोक से आउक्खएण—आयुक्षय भवक्खएण—भवक्षय ठिइक्खएण—स्थिति क्षय के अणतर चय चइत्ता—अन तर च्यवकर कहिं गमिहिइ—कहाँ जाएगा ? कहिं उववज्जिहिइ—कहाँ उत्पन्न होगा ? गोयमा ! हे गौतम ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महा विदेह नामक वप मे सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावाय—(गौतम ने पूछा) "हे भगवन् ! वह कामदेव नामक देव उस देवलोक से आयु क्षय स्थिति क्षय और भव क्षय होने पर च्यवकर कहाँ जाएगा ? कहा उत्पन्न होगा ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! महाविदेह नामक वर्ष मे उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।" निक्षेप पूववत्।

टीका—उपसग की घटना के पश्चात् कामदेव ने प्रतिमाएँ अङ्गीकार की, आत्म-शुद्धि के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढता गया और बीस वप तक श्रावक के रूप मे धर्मानुष्ठान करके स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवन करके वह भी महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

सूत्र मे नीचे लिखे तीन पद ध्यान देने योग्य हैं—आलोइय, पडिक्कते और समाहिपत्ते—कामदेव ने सर्व प्रथम आलोचना की। इसका अर्थ है अच्छी तरह देखना। उसने अपने जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया और यह पता लगाया कि दुर्बलता, विचारो की मलिनता अथवा अन्य दोष कहाँ छिपे हुए हैं? आलोचना के बाद प्रतिक्रमण किया। इसका अर्थ है 'वापिस आया' आत्मा रागद्वेष तथा कषायो के कारण बाहिर की ओर भटकता रहता है। इन्द्रियो के विषयो एव अन्य सुखो की ओर भागता है। उसे वहाँ से हटा कर पुन अपनी स्वाभाविक स्थिति मे लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण आलोचना के पश्चात् होता है क्योकि आत्म दोषो का पता लगे बिना उनसे हटना सम्भव नही है। अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा क्लेशो से मुक्त हो जाता है और आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। इसी को समाधि कहते हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् कामदेव ने इस अवस्था को प्राप्त किया।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का द्वितीय कामदेव अध्ययन समाप्त ॥

तइयमज्झयणं

तृतीय अध्ययन

मूलम्—उवक्खेवो तइयस्स अज्झयणस्स—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी । कोट्ठए चेइए । जियसत्तूराया ॥ १२५ ॥

छाया—उपक्षेपस्तृतीयस्याध्ययनस्य—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी कोष्ठकश्चैत्यम्, जितशत्रू राजा ।

शब्दार्थ—तृतयाध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत्—एवं खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय वाणारसी नामं नयरी—वाराणसी नाम की नगरी थी कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तूराया—जितशत्रु राजा था ।

भावार्थ—हे जम्बू ! उस काल उस समय वाराणसी नामक नगरी थी, वहां कोष्ठक नामक चैत्य था और जित शत्रु राजा राज्य करता था ।

टीका—तृतीय अध्ययन में चुलनीपिता नामक श्रमणोपासक का वर्णन है । अध्ययन के प्रारम्भ में उपक्षेप का निर्देश किया गया है । इसका अर्थ है जैसे द्वितीय अध्ययन में श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तर के साथ प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रश्न आदि की योजना कर लेनी चाहिए । जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से पूछा—भगवन् ! यदि द्वितीय अध्ययन का भगवान् महावीर ने उपरोक्त अर्थ बताया है तो तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ है ? सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू ! मैंने तृतीय अध्ययन को नीचे लिखे अनुसार सुना है । यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

'उक्खेवो' त्ति उपक्षेप—उपोद्घात तृतीयाध्ययनस्य वाच्य, स चायम—जइणं भंते ! समणेणं भगवया जाव सम्पत्तेणं उवासगदसाणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? इति कण्ठ्यश्चायम् ।'

वाराणसी नगरी मे जितशत्रु नाम का राजा था। प्राकृत मे वाराणसी का वाणारसी हो जाता है इसी आधार पर हिन्दी मे बनारस कहा जाता रहा है। भारत के स्वतन्त्र होने पर पुन संस्कृत नाम को महत्व दिया गया और उसे फिर वाराणसी कहा जाने लगा है।

कोट्ठए—वहाँ कोष्ठक नाम का चैत्य था। कहीं-कहीं इसके स्थान पर महाकाम वन का निर्देश मिलता है।

चुलणीपिता का परिचय और पौषधग्रहण—

मूलम्—तत्थ ण वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जाव अपरिभूए। सामा भारिया। अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएण। जहा आणदो राईसर जाव सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। चुलणीपियावि, जहा आणदो तहा, निग्गओ। तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ। गोयम पुच्छा। तहेव सेस जहा कामदेवस्स जाव पोसह-सालाए पोसहिए बभचारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ १२३ ॥

छाया—तत्र खलु वाराणस्या नगर्या चुलनीपिता नाम गाथापति परिवसति, आढ्यो, यावदपरिभूत। श्यामा भार्या। अष्ट हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ता, अष्ट वृद्धिप्रयुक्ता, अष्ट प्रविस्तरप्रयुक्ता अष्टव्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। यथा आनन्दो राजेश्वर यावत्सर्वकार्यवर्द्धापकश्चासीत्। स्वामी समवसृत। परिषन्निर्गता, चुलनीपिताऽपि यथानन्दस्तथा निर्गत। तथैव गृहधर्म प्रतिपद्यते। गौतम पृच्छा तथैव। शेष यथा कामदेवस्य यावत् पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ ण वाणारसीए नयरीए—उस वाराणसी नगरी मे चुलणीपिया नाम गाहावइ परिवसइ—चुलणीपिता नामक गाथापति रहता था, अड्ढे जाव अपरिभूए —वह आढ्य-धनाढ्य यावत् अपरिभूत था, सामा भारिया—उसकी श्यामा नामक

भार्या थी, अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण, निहाण पउत्ताओ—कोप मे रखे हुए थे अट्ठ वुड्ढि पउत्ताओ—आठ कोटि व्यापार मे लगे हुए थे। अट्ठ पवित्थर पउत्ताओ—आठ करोड भवन तथा अन्य उपकरणो मे लगे हुए थे, अट्ठ वया दसगो-साहस्सिएण वएण—दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार गौएँ थी। आनन्द की तरह जहा आणदो राईसर जाव सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था—वह भी राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सब कार्यो का वर्धक था सामी समोसढे-भगवान् महावीर स्वामी पधारे परिसा निग्गया-परिषद् निकली, चुलणीपियावि—चुलनीपिता भी जहा आणदो तहा निग्गओ—आनन्द के समान घर से निकला, तहेव गिह धम्म पडिवज्जइ—उसी प्रकार गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, गोयम पुच्छा तहेव—उसी प्रकार भगवान् गौतम ने प्रश्न किया, सेस जहा कामदेवस्स—शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। जाव—यावत् वह पोसहसालाए—पौपधशाला मे पोसहिए बभचारी—पौपध तथा ब्रह्मचर्य स्वीकार कर के समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अतिय—पास प्राप्त धम्मपण्णत्ति—धम प्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ता ण विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—उस वाराणसी नगरी मे चुलनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह सब प्रकार सम्पन्न यावत् अपरिभूत (अजेय) था। उसकी श्यामा नामक भार्या थी। आठ करोड सुवर्ण कोप मे जमा थे, आठ करोड व्यापार मे लगे हुए थे। और आठ करोड घर तथा समान मे लगे हुए थे। दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार पशुधन था। वह भी आनन्द की तरह राजा ईश्वर आदि का आधार यावत् सब कार्यो मे प्रोत्साहन देने वाला था। महावीर स्वामी पधारे, उपदेश श्रवण के लिए परिषद् निकली। चुलनीपिता भी आनन्द श्रावक की भाति घर से निकला और उसी तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया। उसी प्रकार गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे। शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। यावत् वह भी पौपधशाला मे पौपध तथा ब्रह्मचर्य को स्वीकार करके भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा अर्थात् तदनुसार मध्य-रात्रि के समय धर्मसाधना करने लगा।

उपसर्ग के लिए देव का आगमन

मूलम्—तए ण तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयसि एगे देवे अतिय पाउब्भूए ॥ १२४ ॥

छाया—तत खलु तस्य चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिक प्रादुर्भूत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—उस चुलनी-पिता श्रमणोपासक के अतिय—समीप पुव्वरत्तावरत्त कालसमयसि—मध्यरात्रि के सयम एगे देवे पाउब्भूए—एक देव प्रकट हुआ ।

चुलनीपिता को धमकी—

मूलम्—तए ण से देवे एग मह नीलुप्पल जाव असि गहाय चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"ह भो चुलणीपिया ! समणोवासया ! जहा कामदेवो जाव न भजेसि, तो ते अह अज्ज जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता तओ मससोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण-भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गाय मसेण य सोणिएण य आयचामि, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १२४ ॥

छाया—तत खलु स देव एक महन्नीलोत्पल यावदसि गृहीत्वा चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! यथा कामदेवो यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य ज्येष्ठ पुत्र स्वकात गृहात नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा, त्रिणि मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वा आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मासेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त-दु खार्त्त-वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—वह देव एग—एक मह नीलुप्पल—एक महान् नीलोत्पल के समान जाव—यावत् असि—तलवार को गहाय—ग्रहण करके चुलणीपिय—चुलनीपिता समणोवासय—श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हभो—हे चुलणीपिया ! चुलनीपिता ! समणोवासया—श्रमणोपासक ! जहा—जैसे कामदेवो—कामदेव श्रमणोपासक से कहा था जाव—यावत् तू न भजेसि—नियमादि को नही छोडता तो ते—तो तेरे अह—मैं अज्ज—आज जेट्ठ पुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—लाता हूँ, नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ—तेरे सामने घाएमि—मारता हूँ घाइत्ता—मार कर के तओ मससोल्ले करेमि—तीन माँस खड करता हूँ, करित्ता—करके आदाण भरियसि कडाहयसि—आदान (तेल) से भरी हुई कडाही मे अद्दहेमि—तलू गा अद्दहित्ता—तलकर तव गाय—तेरे शरीर को मसेण य—मास और सोणिएण य और रुधिर से आयचामि—छीटें देता हूँ जहाण—जिससे तुम—तू अट्ट-दुहट्ट वसट्टे—अति चिन्ता मग्न दु खार्त होता हुआ अकाले चेव—अकाल मे ही जीवियाओ—जीवन से ववरोविज्जसि—पृथक् हो जाएगा ।

भावार्थ—वह देव नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर चुलनीपिता श्रावक को बोला—"हे चुलनीपिता श्रावक ! यावत् कामदेव की तरह कहा" यावत् शील आदि को भग नही करेगा तो तेरे बडे लडके को घर से लाकर तुम्हारे सामने मार डालू गा। उसके तीन टुकडे करूँगा और शूल मे पिरोकर तेल से भरी हुई कढाई मे पकाऊँगा । तुम्हे उसके मास और खून से छीटू गा । परिणामस्वरूप तुम चिन्ता-मग्न, दु खी तथा विवश होकर अकाल मे जीवन से हाथ धो बैठोगे ।

चुलनीपिता का शान्त रहना—

मूलम्—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए तेण देवेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १२६ ॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्त सन्नभीतो यावत् विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से चुलणीपिया—वह चुलनीपिता समणोवासए—श्रमणोपासक तेण देवेण—उस देव के एव—ऐसा वुत्ते समाणे—कहने पर भी अभीए जाव—यावत् निर्भय विहरइ—बना रहा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रमणोपासक देवता के ऐसा कहने पर भी निर्भय यावत शान्त रहा।

मूलम्—तए ण से देवे चुलणीपियं समणोवासय अभीय जाव पासइ, पासित्ता दोच्चपि तच्चपि चुलणीपियं समणोवासय एव वयासी—"हभो चुलणीपिया! समणोवासया!" तं चेव भणइ, सो जाव विहरइ ॥ १२७ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीत यावत पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! तदेव भणति स यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीय जाव पासइ—निर्भय यावत् शान्त देखा, पासित्ता—देखकर दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा तृतीय बार चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा— हभो चुलणीपिया—हे चुलनीपिता ! समणोवासया ! श्रमणोपासक ! त चेव भणइ—पुन वही वचन कहे सो जाव विहरइ—वह भी यावत् निर्भय विचरता रहा।

भावार्थ—जब देव ने चुलनीपिता श्रमणोपासक को निर्भय यावत् शान्त देखा तो दूसरी बार तथा तीसरी बार वही बात कही। चुलनीपिता भी निर्भय यावत् शान्त बना रहा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे देव कृत उपसर्ग का वर्णन है जो कामदेव से भिन्न प्रकार का है आदाण भरियंसि–आदाण का अर्थ है तैल या पानी आदि आर्द्र वस्तुएँ। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"आद्रहण यदुदक-तैलादिरम्यन्तर द्रव्य पाकायाग्नावुत्ताप्यते तद्भृते, 'कडाहयंमि' त्ति कटाहे—लोहमयभाजनविशेष आद्रहयामि उत्क्वाथयामि।"

हिन्दी मे इसके लिए अदहन शब्द का प्रयोग होता है यह आर्द्र दहन से बना है। इसका अर्थ है—घी, तेल, पानी आदि वे वस्तुएँ जो गीली होने पर भी जलाती हैं।

पुत्रो का वध और चुलनीपिता का अविचलित रहना—

मूलम्—**तए ण से देवे चुलणीपिय समणोवासय अभीय जाव पासित्ता आसुरुत्ते ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठ पुत्त गिहाओ नीणेइ, नीणित्ता अग्गओ घाएइ, घाइत्ता तओ मससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेइ, अद्दहित्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गाय मसेण य सोणिएण य आयचइ ॥ १२८ ॥**

छाया—तत खलु से देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीत यावद दृष्ट्वा आशुरुप्त ४ श्चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य ज्येष्ठ पुत्र गृहान्नयति, नीत्वाऽग्रतो घातयति, घातयित्वा त्रीणि मासशूल्यकानि करोति, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहति, आदह्य चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य गात्र मासेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीय जाव पासित्ता—अभय यावत् देख कर आसुरुत्ते ४—क्रोधित होकर चुलणीपियस्स समणोवासय—चुलनीपिता के जेट्ठ पुत्त—बडे पुत्र को गिहाओ—घर से नीणेइ—निकाला नीणित्ता—निकाल कर के अग्गओ घाएइ—उसके सामने मार डाला, घाइत्ता—मार कर के तओ—तीन मससोल्लए करेइ—मास के तीन टुकडे किए करेइत्ता—करके आदाण भरियसि कडाहयसि—अदहन से भरे हुए कडाहे मे अद्दहेइ—तला, अद्दहित्ता—तलकर के चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनीपिता श्रमणोपासक के गाय—शरीर पर मसेण य—मास और सोणिएण य—शोणित से आयचइ—छींटे दिए।

भावार्थ—तब तो वह देव क्रोधित होकर चुलनीपिता श्रावक के बडे लडके को घर से निकाल लाया। उसके सामने लाकर मार डाला, और तीन टुकडे किए। उन्हे तेल से भरे कढाह मे तला और उसके मास और रुधिर से चुलनीपिता के शरीर पर छीटें मारे।

पामक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यदि खलु त्वं यावन्न भनक्षि ततोऽहमद्य येय तव माता भद्रा सार्थवाही देवतगुरु-जननी दुष्करदुष्करकारिका ता ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा त्रिणि मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदान भृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त वशार्त्तोऽकाल एव जीवितादृव्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण से देवे—तदन तर उस देव ने चुलणीपिय समणोवासय—चुलणी पिता श्रमणोपासक को अभीय जाव पासइ—निभय यावत् देखा, पासित्ता—देख कर चउत्थ पि—चौथी बार चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—हभो चुलणीपिया ! समणोवासया !—हे चुलणीपिता श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थीया—मृत्यु की प्रार्थना करने वाले जइण—यदि तुम—तू जाव—यावत् न भजेसि—शीलादि गुणो का भग न करेगा ततओ अह—तो मैं अज्ज—आज जा इमा—जो यह तव माया—तेरी माता भद्दा सत्थवाही—भद्रा सार्थवाही देवय गुरु-जणणी—देवता तथा गुरु के समान जननी है दुक्कर-दुक्कर-कारिया—जिसने तेरा (लालन पालनादि) अति दुष्कर कार्य किया है त ते—उसको साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—लाता हूँ नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मारता हूँ घाइत्ता—मार करके तओ—तीन मससोल्लए—मांस खड करेमि—करता हूँ करित्ता—करके आदाण भरियसि कडाहयसि—अदहा भरे कड़ाहे में अद्दहेमि—तलता हूँ अद्दहित्ता—तलकर तव गाय—तेरे शरीर को मसेण य—मास और सोणिएण य—शोणित से आयचामि—सिञ्चन करता हूँ, जहा ण तुम—जिससे तू अट्ट दुहट्ट वसट्टे—आर्त, दु खी तथा विवश हो कर अकाले चेव—अकाल में ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—उस ने चौथी बार चुलनीपिता से कहा—"अरे चुलनीपिता ! अनिष्ट के कामी यदि तू व्रतों को भग नही करता तो मैं तेरी भद्रा नाम की माता को जो तेरे लिए देवता तथा गुरु के समान पूज्य है तथा जिसने तेरे लिए अनेक कष्ट उठाए हैं, घर से निकाल लाऊगा, और तेरे सामने मार डालू गा। उसके तीन टुकड़े करके तेल से भरे कड़ाहे मे तलू गा। उसके मास और रुधिर से तेरे शरीर को छीटू गा।

जिससे तू चिन्ता-मग्न तथा विवश हो कर अकाल मे ही जीवन से हाथ धो बैठेगा।

मूलम्—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए तेण देवेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १३२ ॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवनैवमुक्त सन्नभीतो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए ण से—तदनन्तर वह चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक तेण देवेण—उस देव के एव वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी अभीए जाव—यावत् निभय होकर विहरइ—धर्माराधन मे लगा रहा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक देव के ऐसा कहने पर भी निर्भय बना रहा।

मूलम्—तए ण से देवे चुलणीपिय समणोवासय जाव विहरमाण पासइ, पासित्ता चुलणीपिय समणोवासय दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३३ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीत यावद् विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा चुलनीपितर श्रमणोपासक द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हभो चुलनीपित! श्रमणोपासक! यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण से देवे—तदनन्तर वह देव चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीय जाव—निभय यावत् विहरमाण—धर्म साधना मे स्थिर पासइ—देखता है, पासित्ता—देखकर चुलणीपिय समणोवासय—चुलणीपिता श्रमणोपासक को दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय बार और तृतीय बार एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हभो—हे चुलणीपिया सणोवासय!—चुलनीपिता श्रमणोपासक! तहेव—उसी प्रकार पहले की भाति कहा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मृत्यु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—देवता ने उसे निभय एव स्थिर देखा तो दूसरी और तीसरी बार वही बात कही—"चुलनीपिता श्रावक! उसी प्रकार यावत् मारा जाएगा।"

चुलनीपिता का क्षुब्ध होना और पिशाच को पकड़ने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५—"अहो णं इमे पुरिसे अणारिए अणारिय-बुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाइत्ता जहा कयं तहा चिंतेइ, जाव गायं आयंचइ जेणं मम मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ जाव सोणिएण य आयंचइ जेणं मम कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव आयंचइ जा वि य णं इमा मम माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं पि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेणं च खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ॥ १३४ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुलणीपितुः श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५—"अहो ! खलु अयं पुरुषोऽनार्यः, अनार्यबुद्धिरनार्याणि पापानि कर्माणि समाचरति, येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा ममाग्रतो घातयति, घातयित्वा यथा कृतं तथा चिन्तयति, यावद्गात्रमासिञ्चति, येन मम मध्यमं पुत्रं स्वस्माद् गृहाद् यावच्छोणितेनाऽऽसिञ्चति, येन मम कनीयांसं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावद् आसिञ्चति, याऽपि च खलु इयं मम माता भद्रा सार्थवाही दैवत-गुरु-जननी दुष्कर-दुष्करकारिका तामपि च खलु इच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्। तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुषं ग्रहीतुम्" इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाकाशे उत्पतितः, तेन च स्तम्भ आसादितः महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स—उस चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनीपिता श्रमणोपासक के तेणं देवेणं उस देव के द्वारा दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय बार एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—ये इस

प्रकार के अज्झत्थिए ५—विचार यावत् उत्पन्न हुए, अहो ण—अहो ! इमे पुरिसे—यह पुरुप अणारिए अणारियबुद्धी—अनार्य तथा अनार्यबुद्धि है अणारियाइ पावाइ कम्माइ—अनार्योचित पाप कर्मो का समायरइ—आचरण करता है, जेण—जिसने मम मेरे जेट्ठ पुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को साम्रो गिहाम्रो—अपने घर से नीणेइ—निकाला नीणेत्ता—निकाल कर मम अग्गम्रो—मेरे सामने घाएइ—मार दिया घाइत्ता—मार कर के जहा कय—जैसे उस देव ने किया तहा चिंतेइ—उसी प्रकार सोचने लगा, जाव गाय आयचइ—यावत् उस देव ने मेरे शरीर को मास और रुधिर से सीचा, जेण मम—उसने मेरे मज्झिम पुत्त—मझले पुत्र को साम्रो गिहाम्रो—घर से जाव—यावत् सोणिएण य आयचइ—शोणित से सिंचन किया जेण मम—जिसने मेरे कणीयस पुत्त—कनिष्ठ पुत्र को साम्रो गिहाम्रो—घर से निकाल कर तहेव जाव आयचइ—उस प्रकार यावत् सिंचन किया। जा वि य ण—और जो इमा—यह मम माया—मेरी माता भद्दा सत्यवाही—भद्रा सार्थवाही देवय गुरु जणणी—जो कि देवता, गुरु तथा जननी है, दुक्कर-दुक्करकारिया—दुष्कर से भी दुष्कर क्रियाओ के करने वाली है, त पि य ण—उसको भी यह इच्छइ—चाहता है साम्रो गिहाम्रो—घर से नीणेत्ता—लाकर मम अग्गम्रो घाएत्तए—मेरे सामने मारना चाहता है, त सेय खलु—तो यह ठीक होगा कि मम—म एय पुरिस गिण्हित्तए—इस पुरुप को पकड लूँ, त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके उद्धाइए—उठा से वि य आगासे उप्पइए—और वह देव आकाश मे उड गया तेण च खम्भे आसाइए—चुलनीपिता के हाथ मे खम्भा आ गया और महया २—वह सद्देण कोलाहले कए उच्च स्वर में पुकारने लगा।

भावार्थ—देव के द्वितीय तथा तृतीय बार ऐसा कहने पर चुलनीपिता श्रावक विचारने लगा—"यह पुरुप अनार्य है, इसकी बुद्धि अनार्य है। अनार्योचित पाप कर्मों का आचरण करता है, इसने मेरे बडे पुत्र को घर से उठा लिया और मेरे सामने लाकर मार डाला। इसी प्रकार मध्यम और कनिष्ठ पुत्र को भी मार डाला। चुलनी-पिता के मन मे देव द्वारा किए गए क्रूर कार्य आने लगे। उसने फिर सोचा अब यह मेरी माता को जो देवता और गुरु के समान पूज्यनीय है तथा जिसने मेरे लिए भयकर कष्ट उठाए हैं, मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है। अत यही उचित है कि मै इसको पकड लूँ।" यह सोच कर वह पकडने के लिए उठा तो देव

आकाश में उड़ गया। चुलनीपिता के हाथ में खम्भा लगा। वह उसे पकड़ कर ज़ोर २ से चिल्लाने लगा।

टीका—देवय-गुरु-जणणी—यहां माता के लिए तीन शब्द आये हैं—

१ देवय—देवता का अर्थ है पूज्य। माता देवता के समान पूजा और सत्कार के योग्य होती है। सन्तान के मन में उसके प्रति सदा भक्ति भाव रहना चाहिए।

२ गुरु—का काम है—अच्छी शिक्षा देकर बालक को योग्य बनाना। माता भी बालक में अच्छे संस्कार डालती है उसे अच्छी बातें सिखाती है और उसके शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक सभी गुणों का विकास करती है अत माता गुरु भी है।

३ जननी—वह जन्म देती है और सन्तान के लिए अनेक कष्ट उठाती है। अत उसके प्रति कृतज्ञ होना सन्तान का कर्तव्य है। माता के प्रति यह भावना एक आदर्श श्रावक ने प्रकट की है। उसके प्रति श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर हेय बताना अनुचित और कुमति है।

माता का आगमन और चुलनीपिता को शिक्षण—

मूलम्—तए ण सा भद्दा सत्थवाही त कोलाहल-सद्द सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"किण्ण पुत्ता तुम महया महया सद्देण कोलाहले कए?" ॥ १३५ ॥

छाया—तत खलु सा भद्रा सार्थवाही त कोलाहलशब्द श्रुत्वा निशम्य यत्रैव चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"कि खलु पुत्र! त्वया महता २ शब्देन कोलाहल कृत?"

शब्दार्थ—तए ण सा भद्दा सत्थवाही—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही त—उस कोलाहल-सद्द सोच्चा—कोलाहल शब्द को सुन कर निसम्म—तथा विचार कर जेणेव—जहां चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक था तेणेव—

वहा उवागच्छइ—आई, उवागच्छित्ता—आकर चुलणीपियं समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहने लगी—किण्ण पुत्ता ! क्यों पुत्र ! तुम—तुमने महया २ सद्देण—जोर २ से कोलाहले कए ?—कोलाहल किया ?

भावार्थ—भद्रा सार्थवाही चिल्लाहट सुन कर चुलनीपिता श्रावक के पास आई और पूछा—"बेटा तुम जोर २ से क्यों चिल्लाए।"

मूलम्—**तए ण से चुलणीपिया समणोवासए अम्मय भद्द सत्थवाहिं एव वयासी—"एव खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते ५ एग मह नीलुप्पल जाव असिं गहाय मम एव वयासी—"हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! ४ वज्जिया, जइण तुम जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३६ ॥**

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिका भद्रा सार्थवाहीमेवमवादीत्—"एव खलु अम्ब ! न जानामि कोऽपि पुरुष आशुरुप्त ५ एक महान्त नीलोत्पल असिं गृहीत्वा मामेवमवादीत्—हंभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! ४ वर्जित ! यदि खलु त्व यावद्व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण से—तदनन्तर वह चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक अम्मय भद्द—माता भद्रा सत्थवाहिं—सार्थवाही को एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—एव खलु अम्मो—इस प्रकार हे माता ! न जाणामि—मैं नहीं जानता केवि पुरिसे—कोई पुरुष आसुरुत्ते ५—क्रोधित होकर एग मह—एक महान् नीलुप्पल असिं—नीलोत्पल के समान वर्ण वाली तलवार को गहाय—ग्रहण कर के मम—मुझ से एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! हे चुलनीपिता श्रमणोपासक ! अपत्थिय पत्थया ! —अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले वज्जिया—पुण्यवर्जित अर्थात् अभागे जइ ण—यदि तुम—तू शीलादि व्रतों को न तोडेगा जाव ववरोविज्जसि—यावत् मार दिया जाएगा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक माता भद्रा सार्थवाही से कहने लगा "हे माँ ! न जाने क्रोध मे भरा हुआ कोई पुरुष हाथ मे नीली तलवार लेकर मुझ से कहने

लगा—"हे चुलनीपिता श्रावक ! अनिष्ट के कामी यदि तू शीलादि का त्याग न करेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को मार डालूँगा ।"

मूलम्—तए णं अहं तेण पुरिसेण एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १३७ ॥

छाया—ततः खल्वहं तेन पुरुषेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरामि ।

शब्दार्थ—तए णं अहं—तदानन्तर मैं तेण पुरिसेण—उस पुरुष द्वारा एवं वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत् शान्त रहा ।

भावार्थ—उसके ऐसा कहने पर मैं भय-भीत नहीं हुआ और धर्मसाधना में स्थिर रहा ।

मूलम्—तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता ममं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! तहेव जाव गायं आयंचइ" ॥ १३८ ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो मामभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति दृष्ट्वा माम् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हंभो चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! तथैव यावद् गात्रमासिञ्चति ।"

शब्दार्थ—तए णं से पुरिसे—तदानन्तर उस पुरुष ने ममं अभीयं—मुझे अभीत जाव विहरमाणं—यावत् विचरते हुए पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर ममं—मुझे दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय और तृतीय बार एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा हंभो चुलनीपिया ! हे चुलनीपिता ! समणोवासया ! श्रमणोपासक ! तहेव—सब उसी प्रकार जाव—यावत् (उसने) गायं आयंचइ—मेरे शरीर पर छींटे मारे ।

भावार्थ—तब भी उसने मुझे निर्भय तथा शान्त देखा । और दूसरी तथा तीसरी बार वैसा ही कहा—हे चुलनीपिता श्रावक ! पहले की तरह यावत् मांस और रुधिर से मेरे शरीर को सींचा ।

मूलम्—तए ण अह उज्जल जाव अहियासेमि, एव तहेव उच्चारेयव्व जाव कणीयस जाव आयचइ, अह त उज्जल जाव अहियासेमि ॥ १३९ ॥

छाया—तत खल्वह तामुज्ज्वला यावद अध्यासे। एव तथैवोच्चारयितव्य, सर्व यावत्कनीयास यावद् आसिञ्चति। अह तामुज्ज्वला यावद् अध्यासे।

शब्दार्थ—तए ण अह—तदनन्तर मैंने त उज्जल जाव अहियासेमि—उस उज्ज्वल यावत् वेदना को शान्त रह कर सहन किया। एव—इसी प्रकार तहेव उच्चारेयव्व सव्व—वैसे ही सब उच्चारण करना चाहिए, जाव कणीयस—यावत् लघु पुत्र को जाव आयचइ—मारा यावत् मेरे शरीर (चुलनीपिता को) सींचा।

भावार्थ—मैंने उस असह्य वेदना को सह लिया। इसी प्रकार पूर्वोक्त मारा वृत्तान्त कहा। यावत् छोटे लडके को मार कर मेरे शरीर को उसके मास और रुधिर के छीटे मारे। मैंने इस असह्य वेदना को भी सहन किया।"

मूलम्—तए ण से पुरिसे मम अभीय जाव पासइ, पासित्ता मम चउत्थपि एव वयासी—"हभो चुलणीपिया समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया गुरु जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४० ॥

छाया—तत खलु स पुरुषो मामभीत यावत्पश्यति, दृष्ट्वा माम् चतुथमप्येवमवादीत्—"हभो चुलनीपित! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इय माता दैवत गुरु यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण से पुरिसे—तदनन्तर उस पुरुष ने मम अभीय जाव—मुझे निर्भय यावत् शान्त पासइ—देखा पासित्ता—देखकर मम चउत्थपि—मुझे चतुथ बार एव वयासी—इस प्रकार कहा—हभो चुलणीपिया! हे चुलनीपिता! समणोवासया! श्रमणोपासक! अपत्थिय पत्थया! अनिष्ट के कामी! जाव न भजेसि—यावत् नहीं भङ्ग करेगा तो ते—तो तेरी अज्ज—आज जा—जो इमा—यह माया—माता देवय गुरु जाव ववरोविज्जसि—देव, गुरु है यावत् काल धर्म को प्राप्त होगा।

भावार्थ—जब उसने मुझे निर्भय देखा तो चौथी बार बोला—'हे चुलनीपिता श्रावक ! अनिष्ट के कामी ! यावत् तू भग्न नहीं करता तो जो यह तेरी माता देव, गुरु स्वरूप है उसे भी मार डालूँगा । यावत् तू मर जायगा ।"

मूलम्—तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १४१॥

छाया—ततः खल्वहं तेन पुरुषेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद् विहरामि ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर अहं—मैं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे—उस पुरुष के ऐसा कहने पर भी अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत् विचरता रहा ।

भावार्थ—तब उसके ऐसा कहने पर भी मैं निर्भय विचरता रहा ।

मूलम्—तए णं से पुरिसे दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! अज्ज जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४२ ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो द्वितीयमपि तृतीयमपि मामेवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! अद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से पुरिसे—वह पुरुष दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी बार ममं—मुझे एवं वयासी—ऐसा कहने लगा हंभो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! हे चुलनीपिता ! श्रमणोपासक ! अज्ज जाव ववरोविज्जसि—आज यावत् मारा जाएगा ।

भावार्थ—उस देव ने दूसरी बार और तीसरी बार उसी प्रकार कहा कि चुलनीपिता ! आज यावत् मारा जाएगा ।

मूलम्—तए णं तेणं पुरिसेणं दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५, "अहो णं ! इमे पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयसं जाव आयंचइ,"

तुब्भे वि य ण इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, त सेय खलु मम एय पुरिस गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। सेवि य आगासे उप्पइए, मए वि य खम्भे आसाइए, महया महया सद्देण कोलाहले कए" ॥ १४३ ॥

छाया—तत खलु तेन पुरुषेण द्वितीयमपि तृतीयमपि ममैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ५—अहो खल्वय पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठ पुत्र स्वस्माद् गृहात्तथैव यावत्कनीयास यावदासिञ्चति, युष्मानपि च खल्विच्छति स्वस्माद गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम, तच्छ्रेय खलु ममैन पुरुष ग्रहीतुमिति कृत्वोत्थित, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतित, मयाऽपि च स्तम्भ आसादित, महता २ शब्देन कोलाहल कृत ।

शब्दार्थ—तए ण तेण पुरिसेण—तदनन्तर उस पुरुष द्वारा दोच्चपि तच्चपि—दूसरी बार और तीसरी बार मम—मुझे एव वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार आया अहोण इमे पुरिसे—अहो ! यह पुरुष अणारिए—अनार्य है जाव—यावत् समायरइ—पाप कर्मों का समाचरण करता है जेण मम जेट्ठ पुत्त—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से तहेव—उसी प्रकार कहा जाव—यावत् कणीयस जाव अयचइ—लघु पुत्र को मार कर मुझे सिञ्चन किया तुब्भे वि य ण इच्छइ—तुम्ह भी यह चाहता है साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेत्ता—निकालकर मम अग्गओ—मेरे आगे घाएत्तए—मार डालना त सेय खलु मम—तो मुझे उचित होगा कि एय पुरिस गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकडलूँ त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके मैं उद्धाइए—उठा से वि य आगासे उप्पइए—और वह भी आकाश मे उड गया। मए वि य खम्भे आसाइए—और मैंने भी यह खभा पकड लिया महया २ सद्देण कोलाहले कए—और ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगा।

भावार्थ—उसके दूसरी और तीसरी बार ऐसा कहने पर मुझे विचार आया—यह पुरुष अनार्य है, इसकी बुद्धि भी अनार्य है, और आचरण भी अनार्य है। इसने मेरे बडे, मझले और छोटे पुत्र को मार डाला है और मेरा शरीर उनके खून से सीचा। अब यह तुम्हें भी मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है अत इसे

पकड लेना ही उचित है। ऐसा विचार कर ज्यों ही मैं उठा वह आकाश में उड़ गया, मेरे हाथ में खम्भा आगया और मैं जोर २ से चिल्लाने लगा।

मूलम्—तए णं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे विदरिसणे दिट्ठे। तं णं तुमं इयाणिं भग्ग-व्वए भग्ग नियमे भग्ग-पोसहे विहरसि। तं णं तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ १४४ ॥

छाया—ततः खलु सा भद्रा सार्थवाही चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"नो खलु कोऽपि पुरुषस्तव यावत् कनीयांसं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा तवाग्रतो घातयति, एष खलु कोऽपि पुरुषस्तवोपसर्गं करोति, एतत् खलु त्वया विदर्शनं दृष्टम्, तत् खलु त्वमिदानीं भग्न-व्रतो, भग्न नियमो, भग्न पौषधो विहरसि, त्वं पुत्र! एतस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए णं सा भद्दा सत्थवाही—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही चुलणी-पियं समणोवासयं एवं वयासी—चुलनीपिता! श्रमणोपासक को इस प्रकार कहने लगी—नो खलु केइ पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष नहीं था जिसने तव—तेरे जाव—यावत् कणीयसं पुत्तं—कनिष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ नीणेइ—अपने घर से निकाला हो, नीणेत्ता—निकाल कर तव अग्गओ घाएइ—तुम्हारे सामने मारा हो, एस णं केइ पुरिसे—यह किसी पुरुष ने तव उवसग्गं करेइ—तुझे उपसर्ग किया है, एस णं तुमे—यह तुमने विदरिसणे दिट्ठे—मिथ्या घटना देखी है। तं णं तुमं इयाणिं—इस लिए हे पुत्र! तुम्हारा भग्गव्वए—व्रत टूट गया है, भग्गनियमे—नियम टूट गया है, भग्गपोसहे—पौषध भग्न हो गया है, तं णं तुमं पुत्ता—इस लिए, तुम हे पुत्र! एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस भूल की आलोचना करो, जाव पडिवज्जाहि—यावत् आत्म विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—तब भद्रा सार्थवाही चुलनीपिता श्रावक से बोली—'हे पुत्र! कोई भी पुरुष यावत् तुम्हारे कनिष्ठ पुत्र को घर से नहीं लाया, न तेरे सामने मारा है। यह

किसी ने तुझे उपसर्ग किया है। तू ने मिथ्या घटना देखी है। कषाय के उदय से चलित चित्त होकर, तुम उस पुरुष को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोपवास टूट गया है। इस भूल के लिए आलोचना करो और प्रायश्चित्त लेकर आत्म शुद्धि करो।"

टीका—चुलनीपिता का चिल्लाना सुनकर माता आई तो उसने सारी घटना कह सुनाई। माता ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—बेटा! तेरे तीनो पुत्र आराम से सोए हुए हैं। तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना नही हुई, तुझे भ्रम हुआ है। किसी मिथ्या-दृष्टि देव ने तेरे सामने यह भयकर दृश्य उपस्थित किया है। टीकाकार ने विदर्शन शब्द का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया है—

'एस ण तुमे विदरिसणे' एतच्च त्वया विदर्शन—विरूपाकार विभीषिकादि दृष्ट—अवलोकितमिति।

'भग्गव्वए त्ति' भग्नव्रत—स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात्, तद्वि-नाशार्थं कोपेनोद्धावनात्, सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्, भग्ननियम—कोपो-दयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्, भग्नपौषधो–ऽव्यापारपौषधभङ्गत्वात्।

भग्गव्वए-भग्गपोसहे—माता ने पुन कहा—तुम क्रोध मे आकर उस मायावी को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोवास टूट गया। यहाँ व्रत का अर्थ है—स्थूल प्राणातिपातविरमण रूप प्रथम व्रत। नियम का अर्थ है—उत्तर गुण। क्रोध आने के कारण उत्तर गुणो का भङ्ग हुआ और हिंसात्मक चेष्टा के कारण पौषधोपवास का भङ्ग हुआ। टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं।

एयस्स त्ति—माता ने फिर कहा—हे चुलनीपिता! तुम इस भूल के लिए आलो-चना तथा प्रायश्चित्त करो। यहा मूल पाठ मे यावत् शब्द दिया गया है जिससे टीकाकार ने नीचे लिखी बातो का अनुसन्धान किया है।

'अलोएहि—आलोचय, गुरुभ्योनिवेदय'—अर्थात् गुरु के सामने अपनी भूल को निवेदन करो।

'पडिक्कमाहि-निवर्त्तस्व'—अर्थात् वापिस लौटो, भूल के समय तुम बहिर्मुख हो गए, इसलिए पुन आत्मा-चिन्तन मे लीन हो जाओ।

'निन्दाहि—आत्मसाक्षिका कुत्सा कुरु'—आत्मा को साक्षी बना कर इस भूल की निन्दा करो मन में यह विचार करो कि मैंने बुरा कार्य किया है।

'गरिहाहि—गुरु साक्षिका कुत्सां विधेहि'—गुरु को साक्षी बना कर उस भूल की प्रकट रूप में निन्दा करो।

'विउट्टाहि—वित्रोटय तद्भावानुबन्धच्छेदं विधेहि'—तुम्हारे मन में उस कार्य के सम्बन्ध में जो विचारधारा चल रही है उसे समाप्त कर दो, तोड़ डालो।

'विसोहेहि—अतिचारमलक्षालनेन'—अतिचार अर्थात् दोषरूपी मैल को धोकर अपनी आत्मा को शुद्ध करलो।

'अकरणयाए अब्भुट्ठेहि-तदकरणाभ्युपगमं कुरु'—पुनः ऐसा न करने का सङ्कल्प करो।

'अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहि—यथार्हं तपः कर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यस्व'—शुद्धि के लिए यथा-योग्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

कुछ लोगों का मत है कि श्रावक के लिए निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, अतः उसे इसकी आवश्यकता नहीं है। यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त पाठ में चुलनीपिता श्रावक को भी प्रायश्चित्त लेने का आदेश किया गया है। यहाँ वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—"एतेन च निशीथादिषु गृहिणं प्रति प्रायश्चित्तस्याप्रतिपादनान्न तेषां प्रायश्चित्तमस्तीति ये प्रतिपद्यन्ते, तन्मतमपास्तं। साधूद्देशेन गृहिणोऽपि प्रायश्चित्तस्य जीतव्यवहारानुपातित्वात्।"

कुछ लोगों का मत है कि चुलनीपिता माता की रक्षा करने के लिए उठा, इसी कारण उसका व्रत भङ्ग हो गया, क्योंकि साधु को छोड़ कर किसी अन्य प्राणी को बचाना पाप है। यह धारणा ठीक नहीं है। आगम के व्रतों में यह स्पष्ट है कि उस केवल निरपराध को मारने का त्याग होता है। अपराधी को दण्ड देने का त्याग नहीं होता। उपरोक्त मिथ्यात्वी देव अपराधी था। उसे पकड़ने और दण्ड देने के लिए उठने में श्रावक का अहिंसा व्रत नहीं टूटता, किन्तु चुलनीपिता पौषध में था। उसने दो करण तीन योग से समस्त हिंसा का त्याग कर रखा था। माता या पुत्र ही नहीं उसके शरीर पर भी यदि कोई प्रहार करे, मारे तो भी पौषधधारी को

शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय उसकी अवस्था एक साधु के समान होती है। इस से यह नही सिद्ध होता है कि खुली अवस्था मे भी माता-पिता आदि की रक्षा करना पाप है। प्रायश्चित्त तो व्रत के भग्न होने के कारण से है, माता की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त नही है।

चुलनीपिता द्वारा भूल स्वीकार और प्रायश्चित्त ग्रहण--

मूलम—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीए "तह" त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ॥ १४५॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिकाया तथेति एनमर्थं विनयेन प्रतिश्रृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्य आलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ--तए ण से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने अम्मगाए एयमट्ठ—माता भद्रा सार्थवाही की इस बात को विणएण पडिसुणेइ—विनयपूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके तस्स ठाणस्स—उस भूल को आलोएइ—आलोचना की जाव पडिवज्जइ—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—तब चुलनीपिता श्रावक ने माता की बात विनयपूर्वक स्वीकार की, और उस भूल की आलोचना की यावत् प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि की।

चुलनीपिता द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्--तए ण से चुलणीपिया समणोवासए पढम उवासगपडिम उवसपज्जित्ताण विहरइ, पढम उवासग-पडिम अहासुत्त जहा आणदो जाव एक्कारसम पि॥ १४६॥

छाया--तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासक प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसम्पद्य विहरति। प्रथमामुपासक प्रतिमा यथा सूत्र यथाऽऽनन्दो यावदेकादशीमपि।

शब्दार्थ—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने पढम उवासग पडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को उवसंपज्जित्ताण विहरइ—अङ्गीकार किया, पढम उवासग पडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा का अहासुत्त—तथा सूत्र जहा आणंदो—आनन्द के समान पालन किया, जाव एक्कारसमवि—यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन किया।

भावार्थ—तदनन्तर चुलनीपिता ने श्रावक की पहली प्रतिमा स्वीकार की और आनन्द के समान यथा सूत्र पालन किया। इसी प्रकार क्रमशः ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार की।

जीवन का उपसंहार और भविष्य—

मूलम्—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए तेण उरालेण जहा कामदेवो जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेण अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ५। निक्खेवो ॥ १४७ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण तइय चुलणीपियाज्झयण समत्त ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यथा कामदेवो यावत्सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसकस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणप्रभे विमाने देवतयोपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः ॥

शब्दार्थ—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर वह चुलनीपिता श्रमणोपासक तेण उरालेण—उग्र तपश्चरण द्वारा जहा कामदेवो—कामदेव के समान जाव—यावत् कल्प में सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतंसक के उत्तरपुरत्थिमेण—उत्तर पूर्व—ईशानकोण में अरुणप्पभे विमाणे—अरुणप्रभ विमान में देवत्ताए उववन्ने—देव रूप में उत्पन्न हुआ चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता—वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति प्रतिपादन की गई है। महाविदेहे वासे—वह चुलनीपिता देव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा।

भावार्थ—कामदेव की भांति चुलनीपिता भी कठोर तपश्चरण द्वारा सौधर्म कल्प, सौधर्मावतंसक के उत्तरपूर्व ईशान कोण मे स्थित अरुणप्रभ विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम आयु है। वह भी महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

टीका—उपरोक्त तीन सूत्रो मे चुलनीपिता अध्ययन का उपसंहार है। माता के कथनानुसार उसने आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा आत्मशुद्धि की। तत्पश्चात् ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। संलेखना द्वारा शरीर का परित्याग करके सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वह देव महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। निक्षेप—उपसंहार पूर्व की भांति ही जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशासूत्र का तृतीय चुलनीपिता अध्ययन समाप्त ॥

चउत्थमज्झयणं

चतुर्थ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई अड्ढे। छ हिरण्ण कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया। सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं। जहा कामदेवो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १४८ ॥

छाया—उपक्षेपकश्चतुर्थस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी, कोष्ठकश्चैत्यं। जितशत्रू राजा, सुरादेवो गाथापतिः आढ्यः। षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दसगोसाहस्रिकेण व्रजेन, धन्या भार्या, स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथैव प्रतिपद्यते गृहिधर्मम्। यथा कामदेवो यावत्—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स—तृतीय अध्ययन की भांति ही अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है—इस अध्ययन के प्रारम्भ में भी जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मास्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय वाणारसी नामं नयरी वाराणसी नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, सुरादेवे गाहावई—वहाँ सुरादेव नामक गाथापति रहता था, अड्ढे—वह समृद्ध था, छ हिरण्ण कोडिओ—उसके पास छ करोड मोहरें कोष में थी, छ करोड व्यापार में लगी हुई थी और छ करोड घर तथा सामान में थी, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज में दस हजार के हिसाब से छ व्रज

चउत्थमज्झयणं

चतुर्थ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई अड्ढे। छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया। सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं। जहा कामदेवो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १४८ ॥

छाया—उपक्षेपकश्चतुर्थस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी, कोष्ठकश्चैत्यं। जितशत्रू राजा, सुरादेवो गाथापतिः आढ्यः। षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दसगोसाहस्रिकेण व्रजेन, धन्या भार्या, स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथैव प्रतिपद्यते गृहिधर्मम्। यथा कामदेवो यावत्—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स—तृतीय अध्ययन की भान्ति ही अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है—इस अध्ययन के प्रारम्भ में भी जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मास्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय वाणारसी नामं नयरी वाराणसी नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, सुरादेवे गाहावई—वहाँ सुरादेव नामक गाथापति रहता था, अड्ढे—वह समृद्ध था, छ हिरण्ण कोडिओ—उसके पास छः करोड मोहरें कोष में थी, छः करोड व्यापार में लगी हुई थी और छः करोड घर तथा सामान में थी, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज में दस हज़ार के हिसाब से ६ व्रज

अर्थात् ६० हजार गाएँ थी, धन्ना भारिया—धन्या नाम की भार्या थी, सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए, जहा आणदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्म—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया जहा कामदेवो—कामदेव के समान जाव—यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप स्वीकृत धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—अब चतुर्थ अध्ययन का प्रारम्भ होता है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी के उत्तर मे इस प्रकार कहते हैं कि हे जम्बू! उस काल और उस ही समय वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु राजा था। सुरादेव गाथापति था जो अतीव समृद्ध था। उसकी धन्या नाम की पत्नी थी उसके पास छ करोड सुवर्ण कोष मे जमा थे, छ करोड व्यापार में लगे हुए थे और छ करोड सामान मे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गायो के हिसाब से ऐसे छ व्रज थे अर्थात् ६० हजार पशु धन था। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वाराणसी आए और कोष्ठक उद्यान मे ठहर गए। सुरादेव भी आनन्द के समान दर्शनार्थ आया और गृहस्थधर्म स्वीकार करके उसका पालन करने लगा। समय बीतने पर उसने भी कामदेव के समान पौषधोपवास किया और भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति के अनुसार जीवन बिताने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए ण तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयसि एगे देवे अतिय पाउब्भवित्था, से देवे एग मह नीलुप्पल जाव असि गहाय सुरादेव समणोवासय एव वयासी—"हभो सुरादेवा समणोवासया! अपत्थियपत्थया! ४, जइ ण तुम सीलाइ जाव न भजेसि, तो ते जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पच सोल्लए करेमि, करित्ता आदाण-भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गाय

मसेण य सोणिएण य आयचामि, जहाण तुम अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।" एव मज्झिमय, कणीयस, एक्के-क्के पच सोल्लया। तहेव करेइ, जहा चुलणीपियस्स, नवर एक्के-क्के पच सोल्लया ॥ १४६ ॥

छाया—तत खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्र कालसमये एको देवोऽतिक प्रादुरभूत, स देव एक महान्त नीलोत्पल यावदसि गृहीत्वा सुरादेव श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हभो ! सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यदि खलु त्व शीलानि यावन्न भनक्षि तर्हि ते ज्येष्ठ पुत्र स्वस्माद गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा पञ्च शूल्यकानि करोमि, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मासेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे। एव मध्यमक, कनीयासम्, एकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि तथैव करोति यथा चुलनीपितु। नवरमेकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—उस सुरादेव श्रमणोपासक के अतिय—पास पुव्वरत्तावरत्त कालसमयसि—अधरात्रि के समय एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ, से देवे—वह देव एग मह—एक बडी नीलुप्पल जाव असि गहाय—नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर सुरादेव—समणोवासय—सुरादेव श्रमणोपासक से एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हभो सुरादेवा समणोवासया !—अरे सुरादेव श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया !—अनिष्ट को चाहने वाले ! जइण—यदि तुम—तू सीलाइ जाव न भजेसि—शीलादि व्रतो को यावत नही छोडेगा तो ते जेट्ठ पुत्त—तो तेरे बडे पुत्र को साओ गिहाओ नीणेमि—अपने घर से लाता हूँ नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तुम्हारे सामने मारता हूँ, घाएत्ता—मारकर पच सोल्लए करेमि—पाँच टुकडे करूँगा करित्ता—करके आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि—तेल से भरे हुए कडाह मे तलता हूँ अद्दहित्ता—तलकर तव गाय—तेरे शरीर को मसेण य—मास और सोणीएण य—रुधिर से आयचामि—छीटूँगा जहाण तुम—जिससे तू अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि—अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त होगा। एव मज्झिमय कणीयस—इस प्रकार मझले तथा कनिष्ठ पुत्र के एक्के-क्के पच सोल्लया—एक एक के पाँच पाँच मास खण्ड

तहेव करेइ—उसी प्रकार किए, जहा—जैसे चुलनीपिता के। नवर एक्केक्के पच सोल्लया—इतना ही भेद है यहाँ एक एक के पाँच पाच मास खण्ड किए।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक के पास अपररात्रि के समय एक देव हाथ में नीली तलवार लेकर बोला—"अरे सुरादेव! श्रमणोपासक! अनिष्ट के कामी! यदि तू शीलादि व्रतों का त्याग नहीं करता तो मैं तेरे बड़े पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। उसके शरीर के पाँच टुकडे करके तेल से भरे हुए कड़ाहे में तलता हूँ, तथा तेरे शरीर को उस के मास और रुधिर से छींटूगा जिससे तू अकाल में ही जीवन से रहित हो जाएगा।" यावत् पिशाच ने वैसा ही किया। इसी प्रकार मँझले तथा कनिष्ठ पुत्र के साथ किया। चुलनीपिता के समान उनके शरीर के टुकडे किए। विशेष बात यही है कि यहाँ पर एक एक के पाँच पाँच टुकडे किए हैं।

सुरादेव के शरीर में १६ रोग उत्पन्न करने की धमकी—

मूलम्—तए ण से देवे सुरादेव समणोवासय चउत्थ पि एव वयासी—"हभो! सुरादेवा समणोवासया! अपत्थियपत्थया ४! जाव न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरसि जमग समगमेव सोलस रोगायके पक्खिवामि, त जहा—सासे, कासे जाव कोढे, जहा णं तुम अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ १५० ॥

छाया—तत खलु स देव सुरादेव श्रमणोपासक चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हभो! सुरादेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यावन्नपरित्यजसि तर्हि तेऽद्य शरीरे यमक-समकमेव षोडश रोगातङ्कान् प्रक्षिपामि, तद्यथा-श्वास, कासो यावत्कुष्ठम्, यथा खलु त्वमार्त दु खार्त यावद्व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—वह देव सुरादेव समणोवासय—सुरादेव श्रमणोपासक को चउत्थपि एव वयासी—चौथी बार भी इस प्रकार कहने लगा—हभो सुरादेवा! समणोवासया!—अरे सुरादेव! श्रमणोपासक! अपत्थियपत्थया—अनिष्ट की कामना करने वाले जाव—यावत् न परिच्चयसि—यदि शीलादि व्रतों को

नही छोडता तो ते—तो तेरे अज्ज सरीरंसि—शरीर मे आज जमगसमगमेव सोलस—एक साथ ही सोलह रोगायके पक्खिवामि—रोग और आतक को डालता हूँ, त जहा—जैसे कि सासे कासे—श्वास, खाँसी जाव—यावत् कोढे—कोढ । जहा ण तुम—जिससे तू अट्ट दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—आर्त्त, दु खी तथा विवश होता हुआ यावत् अकाल मे मारा जाएगा ।

भावार्थ—तदनन्तर वह देव सुरादेव श्रमणोपासक को चौथी बार इस प्रकार कहने लगा—"अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अनिष्ट के कामी ! यावत यदि तू शीलादि व्रतो को भग नही करेगा तो आज तेरे शरीर मे एक साथ सोलह रोगो को डालता हूँ जैसे श्वास, खाँसी यावत् कोढ जिससे तू आर्त्त, दु खी, विवश होकर अकाल मे ही मर जाएगा ।"

मूलम्—तए ण से सुरादेवे समणोवासए जाव विहरइ । एव देवो दोच्चपि तच्चपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १५१ ॥

छाया—तत खलु स सुरादेव श्रमणोपासको यावद्विहरति । एव देवो द्वितीयमपि तृतीयमपि भणति, यावद् व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण से सुरादेवे समणोवासए—तदनन्तर वह सुरादेव श्रमणोपासक जाव विहरइ—यावत् धर्म ध्यान मे स्थिर रहा एव देवो दोच्चपि तच्चपि—देव ने दूसरी और तीसरी बार उसी प्रकार भणइ—कहा ववरोविज्जसि—यावत मारा जाएगा ।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक फिर भी धर्म ध्यान मे स्थिर रहा । देव ने दूसरी और तीसरी बार भी उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा ।

सुरादेव का विचलित होना और पिशाच को पकडने का प्रयत्न—

मूलम—तए ण तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्तस्स समाणस्स, इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो ण इमे

पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेण मम जेट्ठं पुत्तं जाव कणीयसं जाव आयचइ, जे वि य इमे सोलस रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्तिकट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए। तेण य खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देण कोलाहले कए ॥१५२॥

छाया—ततः खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—"अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो याव-त्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति येऽपि इमे षोडश रोगातङ्कास्तानपि चेच्छति मम शरीरे प्रक्षेप्तुं, तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुषं ग्रहीतुम्" इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः तेन च स्तम्भ आसादितः, महता महता शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—उस सुरादेव श्रमणोपासक को तेण देवेण दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—उस देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार कहने पर इमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार उत्पन्न हुआ। अहो णं—अहो! इमे पुरिसे—यह पुरुष अणारिए—अनार्य जाव—यावत् समायरइ—(अनार्य कर्मों का) आचरण करता है जेण मम जेट्ठं पुत्तं—जिसने मेरे बड़े पुत्र जाव—यावत् कणीयसं—कनिष्ठ पुत्र के जाव आयचइ—रुधिरादि से सींचा, जे वि य इमे सोलस रोगायंका—तथा जो ये सोलह रोगातङ्क हैं ते वि य इच्छइ—उनको भी यह चाहता है मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए—मेरे शरीर में डालना। तं सेयं खलु—तो उचित होगा ममं—मुझे एयं पुरिसं—इस पुरुष को पकड़ लेना त्ति कट्टु उद्धाइए—ऐसा विचार करके (उस देव को पकड़ने के लिए) उठा से वि य आगासे उप्पइए—वह पुरुष आकाश में उड़ गया। तेण य खम्भे आसाइए—सुरादेव ने खम्भे को पकड़ लिया, महया महया सद्देण कोलाहले कए—और ज़ोर ज़ोर से कोलाहल करने लगा।

भावार्थ—सुरादेव उस देव के द्वारा दूसरी तीसरी बार ऐसा कहने पर, सोचने लगा— अहो! यह पुरुष अनार्य है अनार्य कर्मों का आचरण करता है। इसने मेरे

बडे तथा छोटे पुत्र को मार कर मेरे शरीर को उनके रुधिर से छीटे दिए हैं। अब यह श्वास, खासी तथा कोढादि सोलह रोगो को मेरे शरीर मे डालना चाहता है। अत इसको पकड लेना ही उचित है।" यह विचार कर देव को पकडने के लिए उठा। परन्तु देव आकाश मे उड गया, उसने एक स्तम्भ पकड और जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

टीका—जब देव पुत्रो की हत्या करके भी सुरादेव को विचलित नही कर सका तो उसने पुन प्रयत्न किया और सुरादेव के शरीर मे सोलह भयकर रोग डालने की धमकी दी। इस पर वह विचलित हो गया और देव को पकडने के लिए उठा।

सूत्र मे 'यमग समग' शब्द आया है। यह सस्कृत के 'यम' और 'सम' शब्दो के साथ 'क' प्रत्यय लगाने पर बना है। इसका अर्थ है 'एक साथ'।

प्राचीन समय मे सोलह भयकर रोग प्रचलित थे इनका वर्णन आगमो एव प्रकरण ग्रन्थो मे यत्र तत्र मिलता है वह इस प्रकार है—

१ श्वास—दमा।
२ कास—खाँसी।
३ ज्वर—बुखार।
४ दाह—पित्त ज्वर अर्थात् शरीर मे जलन।
५ कुक्षी—कमर मे पीडा।
६ शूल—पेट मे रह-रह कर दर्द उठना।
७ भगन्दर—गुदा पर फोडा।
८ अर्श—बवासीर।
९ अजीर्ण—बदहज़मी—खाना न पचना।
१० दृष्टि रोग—नजर का फटना आदि आख की बीमारी।
११ मस्तक-शूल—सिर दर्द।
१२ अरुचि—भूख न लगना।
१३ अक्षि वेदना—आख का दुखना।
१४ कर्ण वेदना—कानो के रोग, दुखना आदि।

१४ कण्डू—खुजली ।
१५ उदर-रोग—पेट की बिमारी ।
१६ और कुष्ट—कोढ़ ।

पत्नी द्वारा धर्म में पुनः संस्थापन—

मूलम्—तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता एवं वयासी—"किण्णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ?" ॥ १५३ ॥

छाया—ततः खलु सा धन्या भार्या कोलाहलं श्रुत्वा निशम्य, येनैव सुरादेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्यैवमवादीत्—"किं खलु देवानुप्रिया ! युष्माभिर्महता महता शब्देन कोलाहलः कृतः ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर सा धन्ना भारिया—वह धन्या भार्या कोलाहलं—कोलाहल सोच्चा—सुन करके, निसम्म—विचार कर के जेणेव सुरादेवे—जहां सुरादेव समणोवासए—श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहां आई उवागच्छित्ता—आकर एवं वयासी—इस प्रकार बोली किण्णं—क्या देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय ! तुब्भेहिं महया महया सद्देणं कोलाहले—तुमने जोर-जोर से कोलाहल कए ? किया ?

भावार्थ—सुरादेव की धन्या नाम की पत्नी कोलाहल सुनकर, वह आई और बोली—हे देवानुप्रिय—क्या तुम चिल्लाए थे ?

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिए ! के वि पुरिसे तहेव जहा चुलणीपिया । धन्ना वि पडिभणइ, जाव कणीयसं । नो खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमग-समगं सोलस रोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ ।" सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ, एवं

सेस जहा चुलणीपियस्स निरवसेस जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकते कप्पे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ निक्खेवो ॥ १५४ ॥

॥ सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाणा चउत्थ सुरादेवज्झयण समत्त ॥

छाया—तत खलु स सुरादेव श्रमणोपासको धन्या भार्यामेवमवादीत्-"एव खलु देवानुप्रिये ! कोऽपि पुरुपस्तथैव कथयति यथा चुलनीपिता।" धन्यापि प्रतिभणति, यावत्कनीयास, "नो खलु देवानुप्रिया ! युष्माक कोऽपि पुरुष शरीरे यमक-समक पोड्श रोगातङ्कान् प्रक्षिपति, एव खलु कोऽपि पुरषो युष्माकपुपसर्गं करोति", शेष यथा चुलनीपितरि भद्रा भणति। एव निरविशेष यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकान्ते विमाने उपपन्न। चत्वारि पल्योपमानि स्थिति महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेप।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सुरादेवे—वह सुरादेव समणोवासए—श्रमणोपासक धन्न भारिय—(अपनी) धन्या पत्नी से एव वयासी—इस प्रकार बोला। एव खलु देवाणुप्पिए !—हे देवाप्रिये ! इस प्रकार के वि पुरिसे—कोई पुरुष तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया—सब वृतान्त उसी प्रकार कहा जैसे चुलनीपिता ने कहा था, धन्ना वि पडिभणइ—धन्या ने भी उसी प्रकार उत्तर दिया, (भद्रा के समान) जाव—यावत् कणीयस—कनिष्ठ पुत्रादि (सब घर पर कुशल हैं) नो खलु देवाणुप्पिया—निश्चय ही हे देवानुप्रिय ! केवि पुरिसे—कोई पुरुष तुब्भ—तुम्हारे सरीरसि—शरीर मे जमग समग—एक साथ ही सोलस रोगायके पक्खिवइ—सोलह रोगातङ्क डालता। (ऐसा कोई पुरुष नही है) एस ण के वि पुरिसे तुब्भ—य किसी पुरुष ने तुम्हारे साथ उवसग्ग करेइ—उपसर्ग किया है। सेस जहा चुलणीपियस्स भद्दा भणइ—शेप जैसे चुलनीपिता को भद्रा माता ने कहा था वैसे कहा, एव निरवसेस—इस प्रकार निरविशेप जाव—यावत् सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प मे अरुणपकते कप्पे—अरुणकात कल्प विमाणे उववन्ने—विमान मे वह उत्पन्न हुआ, चत्तारि पलिओवमाइ ठिई—वहा पर सुरादेव की चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्खेवो—निक्षेप।

भावार्थ—सुरादेव ने अपनी भार्या धन्या को कहा—हे देवानुप्रिये ! निश्चय ही यहाँ कोई पुरुष आया। और सब वृत्तान्त उसी प्रकार कहा, जैसे चुलनीपिता ने अपनी भद्रा माता को कहा था। धन्ना भार्या ने भी सुरादेव को कहा—कि तेरे कनिष्ठ पुत्रादि सब सकुशल हैं। तुम्हारे शरीर में एक साथ सोलह रोग डालने का किसी पुरुष ने उपसर्ग किया है। शेष चुलनीपिता को माता भद्रा के समान कहा ! इस प्रकार यावत् सुरादेव भी सौधर्म-कल्प मे अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर इस की चार पल्योपम स्थिति है और वह भी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप—पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का चतुर्थ सुरादेव अध्ययन समाप्त ॥

पंचमज्झयणं

पंचम अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो पञ्चमस्स अज्झयणस्स एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी । संखवणे उज्जाणे । जियसत्तू राया । चुल्लसए गाहावई अड्ढे जाव छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं । बहुला भारिया । सामी समोसढे । जहा आणन्दो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ । सेसं जहा कामदेवो जाव धम्मपण्णत्तिं उवसपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १५५ ॥

छाया—उपक्षेपः पञ्चमस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये आलभिका नाम नगरी, शङ्खवनमुद्यानम् जितशत्रू राजा, चुल्लशतको गाथापतिराढ्यो षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन । बहुला भार्या । स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते । शेषं यथा कामदेवो यावद् धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—उक्खेवो पचमस्स अज्झयणस्स—पाँचवें चुल्लशतक अध्ययन का उपक्षेप, जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मा स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और समय आलभिया नाम नयरी—आलभिका नाम की नगरी, संखवणे उज्जाणे—शंखवन उद्यान, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा चुल्लसए गाहावई—और चुल्लशतक गाथापति था, अड्ढे जाव—वह समृद्ध यावत् अपरिभूत था, छ हिरण्ण कोडीओ—छः करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी, छः करोड व्यापार में लगी हुई थी, और छः करोड घर तथा सामान मे लगी हुई थीं। जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—यावत् प्रत्येक व्रज मे दस हज़ार गायो के हिसाब से छः व्रज अर्थात् ६० हज़ार गाएँ थी। बहुला

भारिया—बहुला भार्या थी, सामी समोसढे—भगवान् महावीर समवसृत हुए, जहा आणदो तहा गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया, सेस जहा कामदेवो—शेष कामदेव के समान है, जाव धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ—यावत् धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार कहा—हे जम्बू ! उस काल उस समय आलभिका नाम की नगरी थी। वहां शंखवन उद्यान था, जितशत्रु राजा राज्य करता था और चुल्लशतक नामा गाथापति था वह अति समृद्ध यावत् अपरिभूत था। उसकी छः करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष में थी, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं, और छः करोड़ घर तथा सामान में। दस हजार गायों के प्रत्येक व्रज के हिसाब से छः व्रज अर्थात् ६० हजार पशु धन था। बहुला भार्या थी। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीर वहाँ आलभिका नगरी में पधारे। आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। यावत् कामदेव के समान धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए ण तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयसि एगे देवे अतिय जाव असि गहाय एव वयासी—"हभो ! चुल्ल-सयगा समणोवासया ! जाव न भजसि तो ते अज्ज जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि। एव जहा चुलणीपिय, नवर एक्केक्के सत्त मससोल्लया जाव कणीयस जाव आयचामि" ॥ १५६ ॥

तए ण से चुल्लसयए समणोवासए जाव विहरइ ॥ १५७ ॥

छाया—तत खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरात्र काल-समये एको देवोऽन्तिक यावदसि गृहीत्वैवमवादीत्—"हभो चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य ज्येष्ठं पुत्र स्वस्माद् गृहान्निर्णयामि, एव यथा चुलनीपितर, नवरमेकैकस्मिन् सप्त मांसशूल्यकानि यावत्कनीयास यावदासिञ्चामि।

तत खलु स चुल्लशतक श्रमणोपासको यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स—उस चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अतिय पुव्वरत्तावरत्त कालसमयसि—अर्धरात्रि मे एगे देवे—एक देवता जाव असि गहाय—यावत् तलवार (हाथ मे) एव वयासी—इस प्रकार बोला—हभो चुल्लसयगा समणोवासया!—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! जाव न भजसि—यावत् तू यदि शीलादि व्रतो को नही छोडेगा तो ते—तो तेरे अज्ज जेट्ठ पुत्त—आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—निकाल लाता हूँ एव जहा चुलणीपिय—इस प्रकार चुलनीपिता के समान (करता है) नवर एक्के-क्के सत्त मस सोल्लया—विशेप यही है कि यहाँ एक २ के सात २ मास खड किए, जाव कणीयस जाव आयचामि—यावत् कनिष्ठ पुत्र के रुधिर और मास से छीटू गा।

तए ण से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर चुल्लशतक श्रमणोपासक जाव—यावत् विहरइ—शान्त एव ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अधरात्रि के समय एक देव हाथ मे तलवार लेकर आया। और कहने लगा—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! यदि तू शीलादि व्रतो को नही छोडेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारूँगा। इस प्रकार चुलनीपिता के समान कहा। विशेप यही है कि यहा पर एक-एक के सात सात टुकडे—माँस खड करने को कहा यावत् कनिष्ठ के रुधिर और मास से छीटे दू गा।

चुल्लशतक फिर भी शान्त एव ध्यानावस्थित रहा।

मूलम्—तए ण से देवे चुल्लसयग समणोवासय चउत्थ पि एव वयासी—"ह भो! चुल्लसयगा समणोवासया! जाव न भजसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु सव्वओ समता विप्पइरामि, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि" ॥ १५८ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकं चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हंभो चुल्लशतक! श्रमणोपासक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इमाः षट् हिरण्य-कोटयो निधान-प्रयुक्ताः, षट् वृद्धि प्रयुक्ताः षट् प्रविस्तर-प्रयुक्तास्ताः स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वाऽऽलभिकायां नगर्यां शृङ्गाटक यावत्पथेषु सर्वतः समन्ताद् विप्रकिरामि यथा खलु त्वमार्तो वशार्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे।

भावार्थ—तए णं से देव—तदनन्तर वह देव चुल्लसयगं समणोवासयं—चुल्लशतक श्रमणोपासक को चउत्थं पि—चतुर्थ बार एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो चुल्लसयगा! समणोवासया!—अरे! चुल्लशतक! श्रमणोपासक! जाव न भंजसि—यावत् यदि तू शीलादि व्रतों का त्याग नहीं करता तो ते अज्ज—तो तुम्हारी जाओ इमाओ—जो यह छ हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ—छः करोड़ मुद्राएँ कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं और छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हुई हैं ताओ साओ गिहाओ नीणेमि—उन को घर से लाता हूँ नीणेत्ता—लाकर आलभियाए नयरीए—आलभिका नगरी में सिंघाडग जाव पहेसु—शृङ्गाटक तथा यावत् मार्गों में सव्वओ समंता विप्पइरामि—चारों ओर बिखेर दूंगा। जहा णं तुमं—जिस से तू अट्ट दुहट्ट वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ—जिससे तू अत्यन्त चिन्तामग्न तथा विवश हो कर अकाल में ही जीवन से ववरोविज्जसि—पृथक् हो जाएगा।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक श्रमणोपासक को चौथी बार कहा—हे चुल्लशतक! यदि तू शीलादि व्रतों को भंग नहीं करता तो मैं जो तेरे छः करोड़ सुवर्ण-मुद्राएँ कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं तथा छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हैं, उन सबको चौराहों पर बिखेर दूंगा जिससे तू चिन्तामग्न तथा दुःखी होकर अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त करेगा।

मूलम्—तए णं से चुल्लसयए समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १५६ ॥

छाया—तत खलु स चुल्लशतक श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्त सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर वह चुल्लशतक श्रमणोपासक तेण देवेण एव वुत्ते समाणे उस देव के इस प्रकार कहने पर भी अभीए जाव विहरइ—निभय यावत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी ध्यान मे स्थिर रहा ।

मूलम्—तए ण से देवे चुल्लसयग समणोवासय अभीय जाव पासित्ता दोच्चपि तच्चपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १६० ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुल्लशतक श्रमणोपासकमभीत यावद् दृष्टवा द्वितीयमपि तृतीयमपि तथैव भणति यावद्वचपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण से देवे चुल्लसयग समणोवासय—तदनन्तर वह देव चुल्लशतक श्रमणोपासक को अभीय जाव पासित्ता—निभय यावत् देख कर दोच्च पि तच्च पि तहेव भणइ—द्वितीय तथा तृतीय बार उसी तरह कहा जाव ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाए गा ।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक को निर्भय यावत् ध्यान स्थिर देख कर दूसरी तथा तीसरी बार उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा ।

चुल्लशतक का विचलित होना और पत्नी द्वारा समाश्वासन—

मूलम्—तए ण चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो ण इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ, जाव कणीयस जाव आयचइ, जाओ वि य ण इमाओ मम छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ

छ वुड्ढि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ वि य णं इच्छइ मम साओ गिहाओ नीणेत्ता, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए, तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो। तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ ॥ १६१ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—"अहो ! खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यथा चुलनीपिता तथा चिन्तयति, यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति, या अपि च खलु इमा मम षड् हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ताः षड् वृद्धिप्रयुक्ताः, षड् प्रविस्तरप्रयुक्तास्ता अपि च खलु इच्छति मम स्वस्माद् गृहान्नीत्वाऽऽलभिकाया नगर्याः शृङ्गाटक यावद् विप्रकिरितुं तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुषं ग्रहीतुमिति" इत्युत्थितो यथा सुरादेवः। तथैव भार्या पृच्छति तथैव कथयति।

शब्दार्थ—तए णं तस्स चुल्लसयस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस चुल्लशतक श्रमणोपासक को तेण देवेण दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार इस प्रकार कहा जाने पर अयमेयारूवे अज्झत्थिए—इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए—अहो ! यह पुरुष अनार्य है, जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ—चुलनीपिता के समान यह भी विचार करने लगा जाव कणीयसं जाव आयंचइ—यावत् कनिष्ठ पुत्र के खून से भी मुझे सींचा जाओ वि य णं—और जो यह मम—मेरी छहिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ छ पवित्थर पउत्ताओ—छः करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष में हैं छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं और छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हुई हैं ताओ वि य णं इच्छइ मम साओ गिहाओ नीणेत्ता—उन सबको भी यह मेरे घर से निकाल कर आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए—आलभिका नगरी में चौराहे पर यावत् बिखेरना चाहता है तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए—तो मेरे लिए यही उचित है कि इस पुरुष को पकड़ लूँ त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके उद्धाइए—उठा जहा सुरादेवो—सुरादेव के समान (उसके साथ भी हुआ) तहेव भारिया पुच्छइ—उसी प्रकार से पत्नी ने पूछा तहेव कहेइ—उसने भी उसी प्रकार उत्तर दिया।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार कहे जाने पर सोचने लगा—"यावत यह पुरुष अनार्य है। यावत् इसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार कर मेरे शरीर को रुधिर और मास म सीचा है। और अब मेरी जो छ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे हैं, छ करोड व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड घर तथा सामान मे लगी हुई हैं, आज यह उन्हे भी चौराहो पर बिखेरना चाहता है। अत इसको पकड लेना ही उचित है।" यह सोच कर उसने भी सुरादेव की भाति किया, उसकी भार्या ने उसी प्रकार उससे कोलाहल का कारण पूछा। उसने भी सब वृतान्त उसी प्रकार अपनी पत्नी को कहा।

उपसहार—

मूलम्—सेस जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई। सेस तहेव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो॥ १६२॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण पञ्चमचुल्लसकयज्झयण समत्त॥

छाया—शेष यथा चुलनीपितुर्यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणश्रेष्ठे विमाने उत्पन्न। चत्वारि पल्योपमानि स्थिति, शेष तथैव यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेप।

भावार्थ—सेस जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे—शेष सब चुलनीपिता के समान है यावत् सौधम कल्प मे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने—अरुणश्रेष्ठ नामक विमान मे उत्पन्न हुआ चत्तारि पलिओवमाइ ठिई—(वहाँ उसकी भी) चार पल्योपम स्थिति है सेस तहेव—शेष पूर्ववत् है जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत् महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

शब्दार्थ—शेष सब चुलनीपिता के समान यावत् सौधर्म कल्प के अरणश्रेष्ठ विमान मे वह उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी भी चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेह मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप पूर्ववत् समर्भे।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा सूत्र का पञ्चम चुल्लशतक अध्ययन समाप्त॥

छट्ठमज्झयणं

षष्ठ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ छट्ठस्स कुण्डकोलियस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे, सहस्सम्बवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। कुण्डकोलिए गाहावई। पूसा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ छ वुड्ढि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दसगोसाहस्सि-एणं वएणं। सामी समोसढे, जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ। सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ १६३ ॥

छाया—उपक्षेपकः षष्ठस्य कुण्डकौलिकस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये काम्पिल्यपुरं नगरं सहस्राम्रवनमुद्यानम्, जितशत्रू राजा। कुण्डकौलिको गाथापतिः। पूषा भार्या। षड् हिरण्यकोटयो निधान-प्रयुक्ता, षड् वृद्धि-प्रयुक्ता, षट् प्रविस्तर-प्रयुक्ता, षड् व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। स्वामी समवसृतः। यथा कामदेवस्तथा श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते। सा चैव वक्तव्यता यावत् प्रतिलाभयन् विहरति।

शब्दार्थ—छट्ठस्स कुण्डकोलियज्झयणस्स—छठे कुण्डकौलिक अध्ययन का उक्खेवओ—उपक्षेप अर्थात् आरम्भ इस प्रकार है—एवं खलु जम्बू ! इस प्रकार हे शिष्य जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय में कम्पिल्लपुरे नयरे—काम्पिल्यपुर नगर, सहस्सम्बवणे उज्जाणे—सहस्राम्रवन उद्यान था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, कुण्डकोलिए गाहावई—और कुण्डकौलिक गाथापति था, पूसा भारिया—(उसकी) पूषा नामक पत्नी थी, छ हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष में थी, छ वुड्ढिपउत्ताओ—छह करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं और छ पवित्थरपउत्ताओ—छह गृह तथा उपकरण में लगी हुई थीं। छ वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज में दस हजार गायों के हिसाब से छह व्रज पशु-धन

था। सामी समोसढे—भगवान् पधारे। जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ—कामदेव के समान उसने भी श्रावकधर्म अङ्गीकार किया। सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ—सारी वक्तव्यता उसी प्रकार है यावत् श्रमण निर्ग्रन्थों को खानपान प्रतिलाभ अर्थात् आहार पानी आदि बहराता हुआ विचरने लगा।

भावार्थ—उपक्षेप पूर्ववत् है। हे जम्बू! उस काल और उस समय काम्पिल्यपुर नगर था। उस नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक रमणीय उद्यान था। वहाँ पर जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर में कुण्डकौलिक नामक प्रसिद्ध गाथापति था। उस गाथापति की पूषा नामक धर्म पत्नी थी। कुण्डकौलिक के पास छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष में सुरक्षित थी, छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थीं और छह करोड़ घर तथा गृहोपकरण में प्रयुक्त थी। उस गाथापति के पास छह व्रज पशु धन था। उसी काल और समय में श्रमण भगवान् ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए काम्पिल्यपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे। आनन्द गाथापति के सदृश कुण्डकौलिक भी भगवान् का धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए गया। फलस्वरूप उसने भी द्वादश व्रतरूप गृहस्थधर्म अङ्गीकार किया। यावत् श्रमण निर्ग्रन्थों को आहार-पानी बहराते हुए सेवा भक्ति से अपना जीवन यापन करने लगा।

कुण्डकौलिक द्वारा अशोकवनिका में धर्मानुष्ठान—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि-सिला-पट्टए तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढवि सिला पट्टए ठवेइ, ठवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसं-पज्जित्ताणं विहरइ ॥ १६४ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकोऽन्यदा कदाचित्पूर्वापराह्णकाल-समये येनैवाशोकवनिका येनैव पृथिवी शिला-पट्टकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य नाम-मुद्रिकामुत्तरीयकं च पृथिवी शिला-पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए ण से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ—तदनन्तर वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक अन्य किसी दिन पुव्वावरण्हकालसमयसि—मध्याह्नकाल के समय जेणेव असोगवणिया—जहाँ अशोक वनिका थी जेणेव पुढविसिलापट्टए—जहाँ पथ्वी शिला-पट्ट था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पर आया उवागच्छित्ता—आकर नाम मुद्दग च—नामाङ्कित मुद्रिका (अगूठी) तथा उत्तरिज्जग च—उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे को पुढविसिलापट्टए ठवइ—पथ्वी शिला पट्ट पर रखा, ठवित्ता रख करके समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय—श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकार की हुई धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ—धमप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—तत्पश्चात् किसी दिन कुण्डकौलिक श्रमणोपासक मध्याह्न के समय अशोकवनिका (वाटिका) मे गया, वहाँ पृथ्वी-शिला पट्ट पर अपने नाम से अङ्कित हाथ की अगूठी और ऊपर ओढने वाले उत्तरीय वस्त्र को रख दिया। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् से प्राप्त की हुई धम-प्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा।

देव का आगमन—

मूलम्—तए ण तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अतिय पाउब्भवित्था ॥ १६५ ॥

छाया—तत खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत्।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्ड-कौलिक श्रमणोपासक के पास एगे देवे अतिय पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—जिस समय कुण्डकौलिक श्रमणोपासक भगवान् महावीर के धम की आराधना कर रहा था उस समय वहा पर एक देव प्रकट हुआ।

देव द्वारा नियति वाद की प्रशसा—

मूलम्—तए ण से देवे नाममुद्द च उत्तरिज्ज च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गिण्हित्ता सखिखिणि अतलिक्ख पडिवन्ने कुण्डकोलिय समणोवासय

भावार्थ—उस देव ने नामाङ्कित मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को शिलापट पर से उठा लिया और घुंगरु बजाते हुए आकाश मे उड कर कुण्डकौलिक से कहने लगा— "हे कुण्डकौलिक श्रावक ! देवानुप्रिय ! मखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। उसमे उत्थान (कर्म के लिए उद्यत होना) कर्म (गमनादि क्रियाएँ) बल (शारीरिक बल) वीर्य (आत्म तेज) पुरुषकार (पौरुष) तथा पराक्रम को स्वीकार नही किया गया। विश्व के समस्त परिवर्तन नियत हैं अर्थात् जो कुछ होना है होकर रहेगा। उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर अथवा मिथ्या है। उसमे उत्थान पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है तथा जगत के परिवर्तन अनियत हैं अर्थात् पुरुषार्थ आदि के द्वारा उनमे परिवर्तन किया जा सकता है।"

टीका—पिछले पाच अध्ययनो की अपेक्षा प्रस्तुत कुण्डकौलिक अध्ययन भिन्न प्रकार का है। इसमे देवता उपसर्ग उपस्थित नही करता किन्तु कुण्डकौलिक के सामने भिन्न धार्मिक परम्परा का प्रतिपादन करता है, जो महावीर के समय अत्यन्त प्रचलित थी और उसके अनुयायियो की सख्या महावीर से भी अधिक थी। प्रस्तुत सूत्र मे दोनो का परस्पर भेद दिखाया गया है। गोशालक नियतिवादी था। उसके मत मे विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं। उन्हे कोई बदल नही सकता। प्रत्येक जीव को ८४ लाख योनियो मे घूमना पडेगा और उसके पश्चात् अपने-आप मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इन योनियो म जो सुख-दुःख हैं वे भोगने ही पडेंगे। कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ पराक्रम द्वारा उसमे परिवर्तन नही कर सकता। अत समस्त साधनाएँ, तपस्याएँ तथा भाग दौड व्यर्थ हैं। इस मत का दूसरा नाम आजीविक भी है और उसका उल्लेख अशोक की धर्मलिपियो मे मिलता है, तत्पश्चात् सम्प्रदाय के रूप मे उल्लेख न मिलने पर भी भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव अब भी अक्षुण्ण है। अब भी इस देश मे पुरुषार्थ छोडकर भाग्य के भरोसे बैठे रहने वालो की सख्या कम नही है। मलूकदास का नीचे लिखा दोहा साधु सन्यासी तथा फकीरो मे ही नही, गृहस्थो मे भी घर किए हुए है—

"अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सब के दाता राम॥"

संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार के अनेक श्लोक मिलते हैं। जो पुरुषार्थ को व्यर्थ बताते हैं—

"प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥"

पुरुषों को नियति अर्थात् होनहार के अधीन जो शुभ अथवा अशुभ प्राप्त करना होता है वह अवश्यमेव प्राप्त होता है अर्थात् जैसा भाग्य में लिखा है वह होकर ही रहता है। प्राणी कितना ही प्रयत्न करे, जो बात नियति में नहीं है, नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो होती है वह टल नहीं सकती।

"नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति॥"

होनहार नहीं है वह कभी नहीं हो सकता और जो होनहार है वह बिना ही प्रयत्न के हो जाता है। जिसकी होनहार अथवा भाग्य समाप्त हो गया है उसकी हाथ में आई हुई सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत महावीर की परम्परा में पुरुषार्थ के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ यह माना है कि व्यक्ति पुरुषार्थ द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसका बनाना या बिगाड़ना स्वयं उसके हाथ में है। पूर्व जन्म के संचित कर्मों को भी इस जन्म में पुरुषार्थ द्वारा बदला जा सकता है। इसी आशय का एक श्लोक योगवासिष्ठ में भी आया है—

"द्वौ हुडाविव युध्येते, पुरुषार्थौ परस्परम्।
प्राक्तनोऽद्यतनश्चैव, जयत्यधिकवीर्यवान्॥"

पुराना और नया पुरुषार्थ मेंढों की तरह आपस में टकराते रहते हैं जिनमें अधिक शक्ति होती है वही जीत जाता है।

इस विषय की विशेष चर्चा के लिए उक्त कर्म सिद्धान्त का मनन करना चाहिए।

सूत्र में पुरुषार्थ का प्रतिपादन करने के लिए कई शब्द दिए हैं उनका सूक्ष्म भाव नीचे लिखे अनुसार है—

१ उत्थान—किसी काम को करने के लिए उठना अर्थात् खड़े होना। मानसिक दृष्टि से इस का अर्थ है उत्साह।

२ कर्म—क्रिया, जाना-आना, हाथ पैर हिलाना आदि शारीरिक व्यापार।

३ बल—शारीरिक शक्ति।

४ वीर्य—आत्म बल अर्थात् हिम्मत न हारना, उत्साह को स्थिर रखना।

५ पुरुषकार—पुरुषत्व का अभिमान, सङ्कटों के सामने पराजित न होना, कठिनाइयाँ आने पर भी हार न मानना।

६ पराक्रम—सफलता प्राप्त करने की शक्ति।

कुण्डकौलिक का उत्तर और देव का पराजित होना—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव अणियया सव्वभावा। तुमे णं देवा! इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमन्नागए? किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं? उदाहु अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं?" ॥ १६७ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीद्—"यदि खलु देव! सुन्दरी गोशालस्य मंखलिपुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावाः, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—अस्त्युत्थानमिति वा यावदनियताः सर्वभावाः। त्वया खलु देवानुप्रिय! इयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः, दिव्यो देवानुभावः केन लब्धः? केन प्राप्तः, येनाभिसमन्वागतः? किमुत्थानेन यावत्पुरुषकारपराक्रमेण? उताहो! अनुत्थानेनाऽकर्मणा यावदपुरुषकार पराक्रमेण?"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने कुण्डकोलिय समणोवासय—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—एव खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! मए—मुझे इमेयारूवा—इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव-ऋद्धि अणुट्ठाणेण—बिना उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण—यावत् बिना पुरुषकार और पराक्रम के लद्धा—मिली है, पत्ता—प्राप्त हुई है, अभिसमन्नागया—पास आई है।

भावार्थ—तदनन्तर देव ने उत्तर दिया हे देवानुप्रिय ! "मुझे यह अलौकिक देव-ऋद्धि बिना उत्थान, पुरुषकार-पराक्रम के मिली है।"

मूलम्—तए ण से कुण्डकोलिए समणोवासए त देव एव वयासी—"जइ ण देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया ? जेसि ण जीवाण नत्थि उट्ठाणेइ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा ? अह ण, देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेण जाव परक्कमेण लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तो ज वदसि—सुन्दरी ण गोसालस्स मखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव नियया सव्वभावा, मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव अणियया सव्वभावा, त ते मिच्छा" ॥ १६६ ॥

छाया—तत खलु स कुण्डकौलिक श्रमणोपासकस्त देवमेवमवादीत्—"यदि खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता ? येषा खलु जीवाना नास्त्युत्थानमिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, ते किं न देवा ? अथ खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरुत्थानेन यावत्पराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता, ततो यद्वदसि-सुन्दरी खलु गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य धर्म-प्रज्ञप्ति, नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावा, मगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्म-प्रज्ञप्ति अस्त्युत्थानमिति वा, यावदनियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।"

बलवान। कोई सम्पन्न कोई दरिद्र ! इस विषमता का एक मात्र कारण है—पुरुषार्थ, जिसने जैसा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम किया है उसने तदनुसार फल प्राप्त किया है। कुण्डकौलिक ने पुरुषार्थ के आधार पर कर्मवाद की ओर संकेत किया है। कुण्डकौलिक ने देव के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किए और उससे पूछा—तुमने यह समृद्धि पुरुषार्थ आदि के द्वारा प्राप्त की है या उनके बिना ? यदि उनके बिना, तो विश्व के समस्त जीव तुम्हारे सरीखे क्यों नहीं हैं ? इसके विपरीत यदि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की है, तो महावीर का सिद्धान्त असमीचीन कैसे हो सकता है ?" यहां टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

"ततोऽसौ कुण्डकौलिक त देवमेवमवादीत्—यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीत्यतो नियता सर्वभावा इत्येवरूपो, मंगुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीत्यनियता सर्वभावा इत्येव स्वरूप, तन्मतमनूद्य कुण्डकौलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वय कुर्वन्नाह—'तुमे णमित्यादि, पूर्ववाक्ये यदीति पदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पद द्रष्टव्य इति, त्वयाय दिव्यो-देवर्ध्यादिगुण केन हेतुना लब्ध ? किमुत्थानादिना 'उदाहु'त्ति' अहोश्वित् अनुत्थानादिना ?, तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भाव, यद्युत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वाद भवत तदा येषा जीवाना नास्त्युत्थानादि—तपश्चरणकरणमित्यर्थ, 'ते' इति जीवा किं न देवा ? पृच्छतोऽयमभिप्राय —यथा त्व पुरुषकार बिना देव सवृत्त स्वकीयाभ्युपगमत एव सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते देवा प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम। अथ त्वयेय ऋद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि—सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिरसुन्दरा महावीरप्रज्ञप्ति इति, तत्ते—तव मिथ्यावचन भवति, तस्य व्यभिचारादिति।"

देव का निरुत्तर होकर वापिस लौटना—

मूलम्—तए ण से देवे कुण्डकोलिएण समणोवासएण एव वुत्ते समाणे संकिए जाव कलुससमावन्ने नो संचाएइ कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए, नाम-मुद्दय च उत्तरिज्जय च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए॥ १७०॥

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकोलिक श्रमणोपासक त देव—उस देव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जइ ण देवा !—हे देव ! यदि तुमे इमा एयारूवा–तुम्हे यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव ऋद्धि अणुट्ठाणेण –उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण—यावत् अपुरुषकार पराक्रम के बिना ही लद्धा–मिली है पत्ता–प्राप्त हुई है, अभिसमन्नागया–आई है, तो जेसि ण जीवाण–जिन जीवो के नत्थि–नही है उट्ठाणे इ वा—उत्थान परक्कमेइ वा अथवा पराक्रम ते कि न देवा–वे देव क्यो नही बने ? अह ण देवा !–हे देव चू कि तुमे—तुमने इमा एयारूवा—यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देवर्द्धि उट्ठाणेण जाव परक्कमेण–उत्थान यावत् पराक्रम से लद्धा, पत्ता–लब्ध की है, प्राप्त की है, अभिसमन्नागया—तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई है, तो ज वदसि—जो तू कहता है कि सुदरी ण गोसालस्स मखलि पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—गोशाल मखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सु दर है, क्योकि उसमे नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं है जाव—यावत् नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं, मगुली ण समणस्स भगवओ महा-वीरस्स धम्मपण्णत्ती–श्रमण भगवान महावीर की धमप्रज्ञप्ति असु दर है क्योकि उस मे अत्थि उट्ठाणे इ वा–उत्थान है जाव अणियया सव्वभावा–यावत् सब भाव अनियत हैं, त ते मिच्छा—तो तेरा यह कथन मिथ्या है।

भावार्थ—कुण्डकोलिक श्रमणोपासक ने उस देव से पुन पूछा–"हे देव ! यदि तुम्हे इस प्रकार की अलौकिक देव ऋद्धि उत्थान यावत पुरुषकार पराक्रम के बिना ही मिली है, तो जिन जीवो के उत्थान यावत पराक्रम नहीं है तो वे देव क्या न बने ? हे देव ! यदि तू ने यह ऋद्धि उत्थान यावत् पराक्रम से प्राप्त की है, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि मखलिपुत्र गोशालक की धम-प्रज्ञप्ति समीचीन है। और श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन नहीं है।

टीका—देव द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा तथा गोशालक के सिद्धान्त की प्रशसा सुनकर कुण्डकोलिक ने देव से पूछा—आपको जो यह दैवी शक्ति तथा सम्पत्ति प्राप्त हुई है, क्या इसके लिए किसी प्रकार की तपस्या या धर्मानुष्ठान नहीं करना पडा ? यदि ऐसा है तो समस्त प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्यो नहीं बन गए ? उनमे परस्पर भेद क्यों है ? कोई सुखी है, कोई दु खी, कोई दुर्जन, कोई

बलवान। कोई सम्पन्न कोई दरिद्र। इस विषमता का एक मात्र कारण है—पुरुषार्थ, जिसने जैसा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम किया है उसने तदनुसार फल प्राप्त किया है। कुण्डकौलिक ने पुरुषार्थ के आधार पर कर्मवाद की ओर संकेत किया है। कुण्डकौलिक ने देव के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किए और उससे पूछा—तुमने यह समृद्धि पुरुषार्थ आदि के द्वारा प्राप्त की है या उनके बिना? यदि उनके बिना, तो विश्व के समस्त जीव तुम्हारे सरीखे क्यों नहीं हैं? इसके विपरीत यदि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की है, तो महावीर का सिद्धान्त असमीचीन कैसे हो सकता है?" यहां टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

"ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तं देवमेवमवादीत्—यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीत्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपो, मंगुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीत्यनियताः सर्वभावा इत्येवं स्वरूपः, तन्मतमाश्रित्य कुण्डकोलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह—'तुमे णं'मित्यादि, पूर्ववाक्ये यदीति पदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यम् इति, त्वयायं दिव्यो-देवर्ध्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः? किमुत्थानादिना 'उदाहु'त्ति' अहोस्वित् अनुत्थानादिना?, तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः, यद्युत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वाद् भवतः तदा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि—तपश्चरणकरणमित्यर्थः, 'ते' इति जीवाः किं न देवाः? पृच्छतोऽयमभिप्रायः—यथा त्वं पुरुषकारं बिना देवः संवृत्तः स्वकीयाभ्युपगमतः एवं सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते देवाः प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम्। अथ त्वयेयं ऋद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि—सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिरसुन्दरा महावीरप्रज्ञप्तिः इति, तत्ते—तव मिथ्यावचनं भवति, तस्य व्यभिचारादिति।"

देव का निरुत्तर होकर वापिस लौटना—

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए जाव कलुससमावन्ने नो संचाएइ कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए, नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिलापट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए॥ १७०॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिकश्रमणोपासकेनैवमुक्त सन् शङ्कितो यावत कलुषसमापन्नो नो शक्नोति कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य किञ्चित् प्रातिमुख्य-माख्यातुम् । नाम-मुद्रिका चोत्तरीयक च पृथ्वी शिला पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा यामेव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिश प्रतिगत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—वह देव कुण्डकोलिएण समणोवासएण—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर सकिए-शङ्कित हो गया, जाव-यावत कलुससमावन्ने-कलुष (हतप्रभ) हो गया, कुण्डकोलि-यस्स समणोवासयस्स—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को किंचि—कुछ भी पामोक्खमाइ-क्खित्तए—उत्तर में नहीं कह सका नाम-मुद्दय च उत्तरिज्जय च—उसने नाम मुद्रा और उत्तरीय वस्त्र को पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ—पृथ्वी शीला पट्ट पर रख दिया ठवित्ता—रखकर जामेव दिसि पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था तामेव दिसि पडिगए—उसी दिशा को चला गया ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक के इस प्रकार कहने पर देव के मन में शङ्का उत्पन्न हो गई यावत वह हतप्रभ हो गया और कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को कुछ भी उत्तर न दे सका । तब नाम मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को पृथ्वी शिला पट्ट पर रख कर जिधर से आया था उधर चला गया ।

भगवान् महावीर का आगमन—

मूलम—तेण कालेण तेण समएण सामी समोसढे ॥ १७१ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृत ।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल और उस समय सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए ।

भावार्थ—उस समय भगवान् महावीर स्वामी पधारे ।

कुण्डकौलिक का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्——तए ण से कुण्डकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ जहा कामदेवो तहा, निग्गच्छइ, जाव पज्जुवासइ, धम्मकहा ॥ १७२ ॥

छाया—तत खलु स कुण्डकौलिक श्रमणोपासकोऽस्या कथाया लब्धार्थ सन् हृष्टो यथा कामदेवस्तथा निर्गच्छति, यावत् पयु पास्ते । धर्मकथा ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक इमीसे कहाए लद्धट्ठे—इस समाचार को सुनकर हट्ठ—प्रसन्न हुआ, जहा कामदेवो तहा निग्गच्छइ—कामदेव की तरह दर्शनार्थ निकला जाव पज्जुवासइ—यावत् पयु पासना की धम्मकहा—भगवान् का धर्म उपदेश हुआ ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक भी भगवान् के आने की बात सुनकर प्रसन्न हुआ और कामदेव के समान दर्शनार्थ गया, भगवान् की पर्युपासना की । भगवान् का धर्मोपदेश हुआ ।

भगवान द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशसा और साधु-साध्वियो को उदबोधन—

मूलम्——"कुण्डकोलिया" ! इ समणे भगव महावीरे कुण्डकोलिय समणोवासय एव वयासी——"से नूण कुण्डकोलिया ! कल्ल तुब्भ पुव्वावरण्ह-काल समयसि असोग-वणियाए एगे देवे अतिय पाउब्भवित्था । तए ण से देवे नाममुद्द च तहेव जाव पडिगए । से नूण कुण्डकोलिया ! अट्ठे समट्ठे ?" "हन्ता ! अत्थि ।" "त धन्नेसि ण तुम कुण्डकोलिया !" (जहा कामदेवो) "अज्जो" ! इ समणे भगव महावीरे समणे निग्गथे य निग्गथीओ य आमतित्ता एव वयासी——"जइ ताव, अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झा-वसता ण अन्न उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निप्पट्ठ-पसिणवागरणे करेंति, सक्का पुणाइ, अज्जो ! समणेहि निग्गथेहि दुवालसङ्ग गणि-पिडग अहिज्जमाणेहि अन्न-उत्थिया अट्ठेहि य जाव निपट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए" ॥ १७३ ॥

छाया—"कुण्डकौलिक" ! इति श्रमणो भगवान् महावीर कुण्डकौलिक श्रमणोपासकमेवमवादीत्—'अथ नून कुण्डकौलिक !' कल्ये तव पूर्वापराह्णकालसमये अशोकवनिकायामेको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत् । तत खलु स देवो नाम-मुद्रां च तथैव यावन्निर्गत । स नून कुण्डकौलिक ! 'अर्थ समर्थ ?' 'हन्तास्ति !' 'तद्धन्योऽसि खलु त्व कुण्डकौलिक !' यथा कामदेव । 'आर्या' ! इति श्रमणो भगवान महावीर श्रमणानिर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्र्यैवमवादीत्—'यदि तावदार्या ! गृहिणो गृहमध्यावसन्त खलु अन्ययूथिकान अर्थैश्च हेतुभिश्च प्रश्नैश्च कारणैश्च व्याकरणैश्च निस्पष्ट-(निष्पिष्ट) प्रश्नव्याकरणान् कुर्वन्ति, शक्या पुनरार्या ! श्रमणैर्निग्रन्थैर्द्वादशाङ्ग गणिपिटकमधीयानैरन्ययूथिका अर्थैश्च यावन्निस्पष्टप्रश्नव्याकरणा कर्तुम् ।'

शब्दार्थ—कुण्डकोलिया !—हे कुण्डकौलिक ! इ समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने कुण्डकोलिय समणोवासय—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—से नूण कुण्डकोलिया !—हे कुण्डकौलिक ! कल्ल पुव्वावरण्ह कालसमयसि—कल दोपहर के समय असोगवणियाए—अशोक वणिका म एगे देवे—एक देव अतिय—तुम्हारे पास पाउब्भवित्था—प्रकट हुआ था, तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने नाम मुद्द च—नाम मुद्रिका उठाई तहेव जाव पडिगए—उसी प्रकार सारा वृत्तान्त यहा यावत चला गया, से नूण कुण्डकोलिया !—हे कुण्डकौलिक ! अट्ठे समट्ठे ?—क्या यह बात ठीक है ? हता अत्थि—हाँ भगवन् ठीक है, त धन्नेसि ण तुम कुण्डकोलिया !—महावीर स्वामी ने कहा—हे कुण्डकौलिक ! तुम धन्य हो, जहा कामदेवो—इत्यादि कथन कामदेव की तरह समझना । अज्जो !—हे आर्यो ! इ समणे भगव महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने समण निग्गथे य—श्रमण निर्ग्रन्थ निग्गथीओ य—और निर्ग्रन्थियों को आमतित्ता—बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो !—हे आर्यो ! यदि गिहिणो गिहिमज्झावसता ण—घर में रहने वाले गृहस्थ भी अन्नउत्थिए—अन्ययूथिया को अट्ठेहि य—अर्थों से, हेऊहि य—हेतुओ से, पसिणेहि य—प्रश्नों से, कारणेहि य—युक्तियों से, वागरणेहि य—और व्याख्याओं से निप्पट्ठपसिणवागरणे करेंति—निरुत्तर कर सकते हैं तो सक्का पुणाइ अज्जो !—हे आर्यो ! तुम भी समर्थ हो, अत समणेहि निग्गथेहि—तुम श्रमण निर्ग्रन्थो को दुवालसग गणिपिड

अहिज्जमाणेहिं—जो द्वादशाङ्ग गणिपिटक का अध्ययन करते हैं अन्नउत्थिया—अन्ययूथिको को अट्ठेहि य जाव निप्पट्ठपसिणवागरणा करित्तए—अर्थ से, हेतु से, यावत् युक्ति के द्वारा निरुत्तर करना।

भावार्थ—भगवान् महावीर ने कुण्डकौलिक को सम्बोधित करते हुए कहा—हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! कल अशोकवनिका (वाटिका) मे एक देव तुम्हारे पास आया था। उसने तुम्हारी नाम मुद्रा और उत्तरीय को उठाकर कहा यावत् भगवान् ने देव प्रकट होने से लेकर तिरोधान तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उससे पूछा—कुण्डकौलिक! क्या यह ठीक है? हाँ भगवन्! यह ठीक है (कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया) भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को सम्बोधित करके कहा—आर्यो! यदि घर मे रहने वाला एक गृहस्थ भी विविध अर्थो, हेतुओ, युक्तियो एव व्याख्याओ द्वारा अन्य यूथिको को निरुत्तर कर सकता है तो हे आर्यो! आप लोग तो समर्थ हैं। द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं। आपको भी चाहिए कि इसी प्रकार अन्य यूथिको को अर्थ, हेतु तथा युक्ति आदि के द्वारा निरुत्तर करे।

मूलम्—तए ण समणा निग्गथा य निग्गथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेंति ॥ १७४ ॥

छाया—तत खलु श्रमणा निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणा निग्गथा य—श्रमण निर्ग्रन्थ य निग्गथीओ य—और निर्ग्रन्थियो ने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के एयमट्ठ—इस कथन को तहत्ति—तथेति कह कर विणएण पडिसुणेंति—विनयपूर्वक स्वीकार किया।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया।

टीका—पिछले चार सूत्रों में भगवान् महावीर के आगमन और उनके द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा का वर्णन है। इनमें कई बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१ कुण्डकौलिक श्रावक था फिर भी भगवान ने उसकी प्रशंसा की और निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थियों के सामने उसे उदाहरण के रूप में उपस्थित किया। इस से यह सिद्ध होता है कि साधु के लिए गृहस्थ की प्रशंसा करना वर्जित नहीं है। सद्गुण कहीं भी हो उसकी प्रशंसा करना महानता का लक्षण है। इससे चित्त-शुद्धि होती है।

सूत्र में अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण पाँच शब्द आए हैं। इनका उन दिनों शास्त्रार्थ में उपयोग होता था। इनका अर्थ नीचे लिखे अनुसार है—

२ अर्थ—पदार्थ अर्थात् अपने सिद्धान्त में प्रतिपादित जीव, अजीव आदि वस्तुएँ अथवा प्रमाण रूप में उद्धृत आगम पाठ का अर्थ। न्यायदर्शन में प्रतिवादी दो प्रकार के बताए गए हैं—(क) समान तन्त्र अर्थात् आगम के रूप में उन्हीं ग्रन्थों को मानने वाले जिन्हें वादी मानता है अथवा एक ही परम्परा के अनुयायी। (ख) प्रतितन्त्र अर्थात् वादी से भिन्न परम्परा वाले, भिन्न आगमों को प्रमाण मानने वाले। समान तन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय प्रायः मूल पाठ का अर्थ किया जाता है और प्रतितन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय अपने सिद्धान्तों में प्रतिपादित वस्तुओं का निरूपण किया जाता है।

३ हेतु—वह वस्तु जिसके आधार पर लक्ष्य या साध्य को सिद्ध किया जाए। जैसे धुंए के आधार पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना, क्योंकि धुंआ अग्नि के बिना नहीं होता।

४ प्रश्न—इसका अर्थ है—प्रतिवादी से विविध प्रकार के प्रश्न पूछना जिस से वह अपनी मिथ्या धारणा को छोड़दे, इसे शास्त्रार्थ में विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytic approach) कहते हैं।

५ कारण—युक्तियों द्वारा पक्ष का उपपादन।

६ व्याकरण—प्रतिवादी द्वारा पूछे गए प्रश्न की व्याख्या या स्पष्टता।

कुण्डकोलिक का प्रत्यागमन—

मूलम्——तए ण से कुण्डकोलिए समणोवासए समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता पसिणाइ पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, अट्ठमादित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। सामी बहिया जणवय विहार विहरइ ॥ १७५ ॥

छाया—ततः खलु कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकः श्रमण भगवत महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वाऽर्थमाददाति, अर्थमादाय यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिश प्रतिगतः । स्वामी बहिर्जनपद विहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को वदइ नमसइ—वन्दना नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके पसिणाइ पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके जामेव दिसिं पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिसिं पडिगए—उसी दिशा मे वापिस चला गया। सामी बहिया जणवय विहार विहरइ—भगवान महावीर स्वामी भी अन्य जनपदो मे प्रस्थान कर गए।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया और वापिस लौट गया। भगवान महावीर स्वामी भी देश देशान्तरो में विहार करने लगे।

उपसहार—

मूलम्——तए ण तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस सवच्छराइ वइक्कताइ। पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ (जहा कामदेवो तहा) जेट्ठपुत्त ठवेत्ता तहा पोसह-सालाए जाव धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ। एव

एक्कारस उवासग-पडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंत काहिइ । निक्खेवो ।। १७६ ।।

।। सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण छट्ठं कुण्डकोलियज्झयणं समत्तं ।।

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावद् भावयतश्चतुर्दश सवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चदश सवत्सरमन्तरावर्तमानस्यान्यदा कदाचिद् यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठपुत्रं स्थापयित्वा तथा पौषधशालायां यावद्धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहरति । एवमेकादशोपासकप्रतिमास्तथैव यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुण-ध्वजे विमाने यावदन्तं करिष्यति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्ड-कौलिक श्रमणोपासक को बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—बहुत से शील व्रत आदि के पालन द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चोद्दस सवच्छराइं वइक्कताइं—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अतरावट्टमाणस्स—पन्द्रहवें वर्ष के बीच में अन्नया कयाइ—एक दिन जहा कामदेवो तहा—कामदेव की तरह जेट्ठपुत्त ठवेत्ता—ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार देकर तहा पोसह-सालाए—उसी प्रकार पौषध-शाला में जाव धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताणं विहरइ—धर्म प्रज्ञप्ति स्वीकार करके विचरने लगा, एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ—उसी तरह ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ अङ्गीकार की तहेव जाव सोहम्मे कप्पे—यावत् सौधर्मकल्प में अरुणज्झए विमाणे—अरुण-ध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ जाव अंत काहिइ—यावत् समस्त कर्मों का अन्त करेगा अर्थात् सिद्ध होगा ।

भावार्थ—विविध प्रकार के शील एवं व्रतों के द्वारा आत्म विकास करते हुए कुण्डकौलिक को चौदह वर्ष बीत गए । पन्द्रहवें वर्ष में उसने कामदेव के समान घर का भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में रहकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा । क्रमशः ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की और मरकर सौधर्म कल्प के अरुणध्वज नामक विमान में उत्पन्न हुआ । वहाँ से च्यव कर वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और कर्मों का अन्त करेगा ।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा सूत्र का छठा कुण्डकौलिक अध्ययन समाप्त ।।

सत्तमज्झयणं

सप्तम अध्ययन

मूलम्—सत्तमस्स उक्खेवो, पोलासपुरे नाम नयरे। सहस्सववणे उज्जाणे। जियसत्तू राया ॥ १७७ ॥

छाया—सप्तमस्योपक्षेप, पोलासपुर नामक नगरम्। सहस्राम्रवन-मुद्यानम्। जित शत्रू राजा।

शब्दार्थ—सत्तमस्स उक्खेवो—सप्तम का उपक्षेप, पोसालपुरे नाम नयरे-पोसालपुर नामक नगर सहस्सववणे उज्जाणे-सहस्राम्रवन उद्यान और जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था।

भावार्थ—उस काल उस समय पोलासपुर नामक नगर था। उसके बाहिर सहस्राम्र नामक उद्यान था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था।

मूलम्—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नाम कुम्भकारे आजीवि-ओवासए परिवसइ। आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे, अट्ठि-मिंज-पेमाणुराग-रत्ते य "अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे" त्ति आजीविय समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ १७८ ॥

छाया—तत्र खलु पोलासपुरे नगरे सद्दालपुत्रो नाम कुम्भकार आजीविकोपासक प्रतिवसति। आजीविकसमये लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ, अभिगतार्थ, अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्तश्च—"अयमायुष्मन्! आजीविकसमयोऽर्थ, अयं परमार्थ, शेषोऽनर्थ" इत्याजीविकसमयेनात्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे—उस पोलासपुर नगर में सद्दालपुत्ते नाम कुम्भकारे—सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार आजीविओवासए परिवसइ—आजीविक

(गोशालक) के मत का अनुयायी रहता था, आजीवियसमयसि—आजीविक के सिद्धान्त मे लद्धट्ठे—लब्धार्थ था अर्थात् उस सिद्धान्त को उसने अच्छी तरह समझा था, गहियट्ठे—स्वीकार किया था, पुच्छियट्ठे—प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया हुआ था, विणिच्छियट्ठे—उनका निश्चय अर्थात् निर्णय किया हुआ था, अभिगयट्ठे—पूरी तरह जाना था, अट्ठिमिञ्जपेमाणुरागरत्ते य—(आजीविक सिद्धान्तो का) प्रेम तथा अनुराग उसकी अस्थि-हड्डियो और मज्जा मे समाया हुआ था, (वह कहता था) अयमाउसो—हे आयुष्मन्! आजीविय-समए अट्ठे—यह आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है, अयं परमट्ठे—यही परमार्थ है, सेसे अणट्ठे—शेष अर्थात् दूसरे सिद्धान्त अनर्थ हैं, त्ति—इस प्रकार आजीविय समएण—आजीविक सिद्धान्त के द्वारा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

भावार्थ—पोलासपुर नगर मे आजीविक मत का अनुयायी, सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था। उसने आजीविक सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा हुआ था, स्वीकार किया था, प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया था, निश्चय किया था और सम्यक् जाना था। आजीविक सिद्धान्तो का पूर्णतया अनुराग उसकी अस्थि तथा मज्जा मे प्रविष्ट हो चुका था। वह कहता था—हे आयुष्मन! आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है। अन्य सिद्धान्त अनर्थ हैं। इस प्रकार आजीविक सिद्धान्त के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थरपउत्ता, एक्के वए दस-गोसाहस्सिएणं वएणं ॥ १७६ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैका हिरण्यकोटिः निधान-प्रयुक्ता, एका वृद्धि प्रयुक्ता, एका प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक्का हिरण्ण कोडी—एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ निहाण-पउत्ता—कोष मे संचित थी एक्का वुड्ढि-पउत्ता—एक करोड़ व्यापार मे लगे हुए थे, एक्का

पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड गृह और उपकरणो मे लगे हुए थे एवके वए दस-गोसाहस्सिएण वएण—दस हजार गायो का एक व्रज था।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक करोड सुवर्ण कोष मे सञ्चित थे, एक करोड व्यापार से लगे हुए थे और एक करोड घर तथा सामान मे। दस हजार गौओ वाला एक व्रज था।

मूलम्—तस्स ण सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नाम भारिया होत्था ॥ १८० ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्य आजीविकोपासकस्याग्निमित्रा नाम भार्याऽऽसीत्।

शब्दार्थ—तस्स ण सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्गिमित्ता नाम भारिया होत्था—अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

भावार्थ—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

मूलम्—तस्स ण सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पच कुम्भकारावण सया होत्था। तत्थ ण बहवे पुरिसा दिण्ण भइ-भत्त वेयणा कल्लाकल्लि बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिजरए य जम्बूलए य उट्टियाओ य करेंति। अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त वेयणा कल्लाकल्लि तेहिं बहूहिं करएहि य जाव उट्टियाहि य राय-मग्गसि वित्ति कप्पेमाणा विहरति ॥ १८१ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पोलासपुरान्नगराद् बहि पचकुम्भकारापणशतान्यासन्। तत्र खलु बहव पुरुषा दत्त-भृति-भक्त वेतना, कल्याकल्यि बहून् करकांश्च, वरकांश्च, घटकांश्च, कलशांश्चालिञ्जरांश्च, जम्बूलकांश्चोष्ट्रिकाश्च कुर्वन्ति। अन्ये च तस्य बहव पुरुषा दत्त-भृति-भक्ता-वेतन कल्याकल्यि तैर्बहुभि करकैश्च यावदुष्ट्रिकाभिश्च राजमार्गे वृत्ति कल्पयन्तो विहरन्ति।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया—पोलासपुर नगर के बाहिर पंच कुम्भकारावणसया होत्या—पाँच सौ बर्तनों के आपण थे तत्थ णं—उनमें बहवे पुरिसा—बहुत से पुरुष दिण्ण-भइ-भत्त वेयणा—भृति—दैनिक मजदूरी, भक्त—भोजन और वेतन प्राप्त करके कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रभात होते ही बहवे—बहुत से करए य—करक, जलघटी वारए य—गुल्लक याम टर्वने पिहडए य—स्थालीयां या कुण्डे घडए य—घड़े अद्धघडए य—अर्धघटक—बड़े कूंडे, कलसए य—कलश—बड़े घड़े अलिंजरए य—अलिञ्जर—मट्ट जम्बूलए—जम्बूलक—सुराहियां उट्टियाओ य—उष्ट्रिका—छोटे मुँह लम्बी गर्दन और बड़े पेट वाले बर्तन (कुप्पी) जिनमें तेलादि डाला जाता है। करेंति—बनाते थे, अन्ने य से बहवे पुरिसा—और बहुत से अन्य पुरुष दिण्ण भइ-भत्त-वेयणा—भृति, भक्त और वेतन प्राप्त करके कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रातः तेहिं बहूहिं करएहिं य उन करक, जल घटिकाओं जाव—यावत् उट्टियाहिं य—उष्ट्रिकाओं को बेचकर रायमग्गंसि—राजमार्ग पर बैठकर वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति—आजीविका का उपार्जन करते थे।

भावार्थ—सद्दालपुत्र के पोलासपुर नगर के बाहिर ५०० आपण थे, जहाँ प्रतिदिन सैंकड़ों व्यक्ति प्रातः होते ही पहुँच जाते थे और दैनिक मजदूरी, भोजन तथा वेतन प्राप्त करके तरह तरह के बर्तन बनाते थे। इसी प्रकार बहुत से पुरुष दैनिक मजदूरी तथा वेतन पर उन बर्तनों को नगर के चौराहों पर, मार्गों पर बेचते थे। और इस प्रकार आजीविका कमाते थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में सद्दालपुत्र की सम्पत्ति का वर्णन है। उसके पास १ करोड़ सुवर्ण कोष में संचित थे, एक करोड़ व्यापार में तथा एक करोड़ घर तथा उपकरणों में लगे हुए थे। दस हजार गायों वाला एक व्रज था। इसके अतिरिक्त उसके पोलासपुर नगर से बाहिर ५०० आपण थे, जहाँ सैंकड़ों व्यक्ति बर्तन बनाते थे, और सैंकड़ों नगर के चौराहों पर बेचा करते थे। इन व्यक्तियों को तीन प्रकार से पारिश्रमिक मिलता था। किसी को दैनिक मजदूरी, किसी को भोजन और किसी को मासिक या साप्ताहिक वेतन मिलता था।

शास्त्रकार ने मिट्टी के वतनो का विस्तृत वणन किया है। उससे पता चलता है कि उन दिनो इस प्रकार के वतन वना करते थे। वर्णन मे नीचे लिखे प्रकार दिये गये हैं।

१ करए—(करक) पानी ठण्डा रखने के लिए काम म आने वाला घडा।

२ वारए—(वारक) गुल्लक।

३ पिहडए—(पिठर) चपटे पेंदे वाली मिट्टी की परात या कठौती जिसे दुकानदार दही जमाने के काम म लेते हैं।

४ घडए—(घट) कुआ, तालाव, नदी आदि से पानी भरने के काम म आने वाला मटका।

५ अद्धघडए—(अधघटक) छोटा मटका।

६ जम्वूलए—(जाम्बूनद) सुराही।

७ उट्टियाए—(उष्ट्रिका) लम्बी गर्दन और वडे पट वाले मटके जो तेल, घी आदि भरने के काम आते हैं।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-काल-समयसि जेणेव असोग-वणिया तणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मखलि-पुत्तस्स अतिय धम्म-पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ १८२ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचित् पूर्वापराह्ण-काल समये येनवाऽशोकवनिका तेनैवोपागच्छति, उपागत्य गोशालस्य मखलि-पुत्रस्याऽऽन्तिकीं धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीवियोवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयसि—एक दिन दोपहर के समय जेणेव असोग-वणिया—जहाँ अशोक वनिका थी तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आ कर गोसालस्स मखलि-पुत्तस्स अतिय—गोशालक मखलि-पुत्र के पास

म स्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धर्म प्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताण विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र एक दिन दोपहर के समय अशोक वनिका में आया और गोशालक मंखलिपुत्र की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ १८३ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस सद्दालपुत्र आजीविकोपासक के अंतियं—पास एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—तत्पश्चात् उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के समीप एक देव प्रकट हुआ।

मूलम्—तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"एहिइ णं देवाणुप्पिया ! कल्लं इहं महा-माहणे, उप्पन्नणाण-दंसणधरे, तीय-पडुप्पन्न मणागय जाणए, अरहा जिणे केवली, सव्वण्णू, सव्व दरिसी, तेलोक्क-वहिय महिय पूइए, स देव मणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे, तच्चकम्म-संपया संपउत्ते। तं णं तुमं वंदेज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जासंथारएणं उवनिमंतेज्जाहि।" दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ १८४ ॥

छाया—ततः खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्नः सकिङ्किणीकानि यावत्परिहितः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"एष्यति खलु देवानुप्रिय ! कल्यमिह

महामाहन, उत्पन्न ज्ञान दर्शनधरोऽतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञोऽर्हन् जिन केवलीसर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रैलोक्य वहित-महित पूजित, सदेवमनुजासुरस्य लोकस्यार्चनीयो वन्दनीय, सत्करणीय, सम्माननीय, कल्याण मगल दैवत चैत्यो यावत्पर्युपासनीय, तथ्यकर्म-सम्पदा सम्प्रयुक्त । तत खलु त्व वन्दस्व यावत् पर्युपासस्व, प्रातिहारिकेण पीठ फलक-शय्या-सस्तारकेणोपनिमन्त्रय ।" द्वितीयमपि तृतीयमप्येव वदति । उदित्वा यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिश प्रतिगत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—वह देव अतलिक्खपडिवन्ने—आकाश मे स्थित होकर सखिखिणियाइ जाव परिहिए—घु घरुओ वाले वस्त्र पहने हुए सद्दाल-पुत्त आजीविओवासग आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार बोला—एहिइ ण देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! आएँगे कल्ल इह—कल यहा महामाहणे—महामहनीय, उप्पन्न नाणदसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए—अतीत वर्तमान और अनागत के जानने वाले, अरहा—अरिहन्त जिणे—जिन केवली—केवली सव्वण्णू—सर्वज्ञ, सव्वदरिसी—सर्वदर्शी तेलोक्क वहिय-महिय पूइए—तीनो लोको के द्वारा ध्यात, महित तथा पूजित सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुरो के अर्चनीय, वदणिज्जे—वदनीय, सक्कारणिज्जे—सत्कार करने योग्य, सम्माणणिज्जे—सम्मान-नीय, कल्लाण—कल्याण स्वरूप, मगल—मगल स्वरूप, देवय—देव स्वरूप, चेइय—ज्ञान स्वरूप जाव—यावत् पज्जुवासणिज्जे—पर्युपासना करने योग्य, तच्चकम्म सपया सपउत्ते—तथ्य कर्मरूप सपत्ति से युक्त, त ण—उनकी तुम वदेज्जाहि—तुम वन्दना करना जाव पज्जुवासेज्जाहि—यावत पर्युपासना करना, पाडिहारिएण—प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुएँ जिन्हे साधु काम मे लेकर वापिस कर देते हैं, पीढ फलग सिज्जा-सथारएण उवनिमतेज्जाहि—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए निमन्त्रित करना, दोच्च पि तच्च पि एव वयइ—इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा वइत्ता—कह कर जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा मे प्रकट हुआ था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा मे चला गया ।

भावार्थ—वह देव जो घुघरू वाले वस्त्र पहने हुए था, आकाश मे स्थित होकर सद्दालपुत्र से कहने लगा—"हे देवानुप्रिय ! कल यहाँ महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान,

दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाले अरिहन्त, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनका तीनों लोक ध्यान, स्तुति तथा पूजन करते हैं। देव, मनुष्य तथा असुरों के अर्चनीय, वन्दनीय, सत्कारणीय तथा सम्माननीय, कल्याण स्वरूप, मंगल स्वरूप, देवता स्वरूप और ज्ञान स्वरूप यावत् पर्युपासनीय तथा कर्म सम्पत्ति के स्वामी कल यहाँ आएँगे। तुम उन्हें वन्दना यावत् पर्युपासना करना। उन्हें प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना।" दूसरी और तीसरी बार भी उसने इसी प्रकार कहा और जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया।

टीका—एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अशोक-वनिका में गोशालक के मतानुसार धर्मानुष्ठान कर रहा था। दोपहर के समय उसके पास एक देव प्रकट हुआ। उसने सूचना दी कि कल यहाँ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहन्त, जिन, केवली आएँगे। साथ ही सद्दालपुत्र से अनुरोध किया—तुम भगवान को वन्दना नमस्कार करने के लिए जाना। उनकी उपासना करना, उन्हें पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना। देव ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे श्रमण महावीर के लिए हैं। उसका लक्ष्य भगवान महावीर की ओर था।

ये विशेषण इस बात को प्रकट करते हैं कि उन दिनों धर्माचार्यों में किस प्रकार के गुणों की अपेक्षा की जाती थी। ये विशेषण इस प्रकार हैं—

१ 'महामाहणे' त्ति—जैन आगमों में भगवान महावीर के 'महामाहन', 'महामुनि' आदि विशेषण मिलते हैं। माहन का शब्दार्थ है 'मत मारो'। भगवान महावीर सर्वत्र अहिंसा या 'मत मारो' का उपदेश दिया करते थे। इसलिए उनका नाम 'माहन' या 'महामाहन' पड़ गया। कई स्थानों पर इसका अर्थ ब्राह्मण भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय है 'ज्ञानी'। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—जो व्यक्ति स्वयं किसी को न मारने का निश्चय करता है। साथ ही दूसरों को न मारने का उपदेश भी देता है। जो सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवों की हिंसा से सदा के लिए निवृत्त है, वही महामाहन है—"माहन्मि—न हन्मीत्यर्थं, आत्मना वा हनन-निवृत्तः परं प्रति 'मा हन' इत्येवमाचष्टे यः स माहनः, स एव मनः प्रभृतिकरणादि-भिरासमन्तात् सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहनननिवृत्तत्वात् महामाहनो महामाहनः।"

२ उप्पन्ननाण-दसण धरे—(उत्पन्न ज्ञान दशन-धर) अव्याहृत ज्ञान और दशन के धारक। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दशन से सम्पन्न है। किन्तु उसके यह गुण कर्मा के आवरण से दबे हुए हैं। कम-मल दूर होते ही वे अपने आप प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है—साकार या सविकल्पक बोध और दशन का अथ है—निराकार या निर्विकल्पक प्रतीति। भगवान महावीर को पूण ज्ञान तथा पूण दर्शन प्रकट हो चुका था।

३ तीय पडुपन्न मणागय-जाणए—(अतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञाता) भूत, वर्तमान तथा भविष्यत तीनो कालो को जानने वाले।

४ अरहा—(अर्हत्) सस्कृत मे 'अर्ह' पूजायाम् धातु है अत अर्हत् शब्द का अर्थ पूज्य है। इसका दूसरा अर्थ है 'योग्य'। इसका तीसरा अर्थ अरि अर्थात् 'आत्म शत्रुओ को मारने वाला' भी किया जाता है।

५ जिणे—(जिन) रागद्वेष को जीतने वाला। ई० पूर्व षष्ठ शताब्दी मे जिन शब्द अत्यन्त प्रतिष्ठा का सूचक था। महावीर, गोशालक, जामाली, बुद्ध आदि धम-प्रवर्तको के अनुयायी अपने २ शास्ता को जिन कहने मे गौरव का अनुभव करते थे। इस विषय मे उनका परस्पर विवाद भी चलता रहता था और प्रत्येक अनुयायी अपने उपास्य को जिन सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक मे लिखा है—"सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी, अजिणे जिण-सद्द पगासमाणे विहरइ" अर्थात् श्रावस्ती नगरी मे गोशालक मखलिपुत्र जिन न होता हुआ भी जिन, अर्हत्, केवली, सवज्ञ न होता हुआ भी अपने आपको अर्हत्, केवली, सवज्ञ कहता हुआ विचरता था।

६ केवली—इसका अथ है केवलज्ञान तथा केवलदशन के धारक। केवल शब्द का अथ है—शुद्ध मिश्रण से रहित। सांख्य दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के विवेक को कैवल्य कहा गया है। जैन दशन के अनुसार कैवल्य ज्ञान का अथ है—विशुद्ध एव विश्व जगत का पूर्ण ज्ञान।

७ सव्वण्णू—(सवज्ञ) सब वस्तुओ को जानने वाले।

८ सव्वदरिसी—(सर्वदर्शी) सब वस्तुओ को देखने वाले।

६ तेलोक्कवहिय-महिय पूइए—(त्रैलोक्यावहितमहितपूजित) तीनों लोकों के द्वारा अवहित, महित तथा पूजित। अवहित शब्द संस्कृत की धा धातु के साथ 'अव' उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से अवधान शब्द भी बनता है जिसका अर्थ है-ध्यान। अवहित का अर्थ है ध्यान अर्थात् तीनों लोकों के द्वारा जिनका ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है। महित का अर्थ है—'प्रतिष्ठित', अपनी महानता के लिए सब विदित। पूजित का अर्थ स्पष्ट है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है। त्रलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन, 'वहिय त्ति' समग्रैश्वर्या द्यतिशयसन्दोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रवरकुतूहलबलादनिमिष लोचनेनावलोकित, 'महिय' त्ति सेव्यतया वाञ्छित, पूजित —पूजितश्च।

१० सदेवमणुयासुरस्सलोगस्स अच्चणिज्जे सम्माणणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय, सत्कार करने योग्य तथा सम्मान करने योग्य।

प्राचीन समय में देव, मनुष्य और असुर सृष्टि के प्रधान एवं शक्तिशाली अङ्ग माने जाते थे। महापुरुष का वर्णन करते समय उन्हीं तीनों का ही पूज्य बताया जाता था।

११ कल्लाण—(कल्याण) कल्याण स्वरूप अर्थात् प्राणीमात्र के उद्धारक।

१२ मगल—(मङ्गल) मङ्गल स्वरूप अर्थात् मङ्गल सुख प्राप्त कराने वाले।

१३ देवय—(दैवत) दैवत का अर्थ है—अतिशिष्ट्य तेज तथा शक्ति के धारक साथ ही इष्ट देवता के रूप में पूजनीय।

१४ चेइय—(चैत्य) इस शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं। यहाँ इसका अर्थ है ज्ञानस्वरूप। यह संस्कृत की चिति-संज्ञाने धातु से बना है किन्तु चयन धातु से भी यह शब्द बताया जाता है। जिस का अर्थ है—ईंटों का चिना हुआ चबूतरा। इसी से 'चिता' शब्द भी बनता है। किन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं लिया जा सकता।

१५ पज्जुवासणिज्जे—(पर्युपासनीय) यह शब्द आस्—उपवेशन धातु के साथ 'परि' तथा 'उप' उपसर्ग लगाने पर बना है। उपासनीय का अर्थ है—उपासना करने या पास में बैठने योग्य। परि का अर्थ है सब तरह से किसी महापुरुष के पास

बैठना, उसकी सगति करना, उपासना कहा जाता है। जो व्यक्ति सब प्रकार से उपासना करने योग्य हो उसे पर्युपासनीय कहा जाता है।

१६ तच्च-कम्म सपया सपउत्ते--(तथ्यकम सम्पदा सम्प्रयुक्त) यह विशेषण महत्वपूण है। भगवान् महावीर केवल उपदेष्टा ही नही थे ' कर्म सम्पदा अर्थात् आचरण रूप सम्पत्ति के भी स्वामी थे ' कम सम्पत्ति भी दो प्रकार की होती है-(१) तथ्य अर्थात् सफल—जीवन को ऊँचा उठाने वाली जो विधि के अनुसार की जाती है। (२) अतथ्य अर्थात् निष्फल—जो केवल दिखावा है, वह आत्म-शुद्धि के लिए उपयोगी नही है। भगवान महावीर के समय तापस, सन्यासी, परिव्राजक आदि अनेक प्रकार की तपस्याएँ—अनान तप किया करते थे कोई अपने चारो ओर आग सुलगा कर पञ्चाग्नि तप किया करता था, कोई वक्ष से उल्टा लटका रहता था। कोई हाथ ऊपर उठा कर घूमता रहता था और कोई काटो पर लेटता था। इस प्रकार शारीरिक कष्ट उठाने पर भी वे लोग क्रोधी एव दम्भी हुआ करते थे। उनकी साधना केवल लोक दिखावा थी जिससे भोली जनता आकृष्ट हो जाती थी। आत्म शुद्धि के लिए उसका कोई उपयोग न था। महावीर और बुद्ध दोनो ने इस प्रकार की तपस्या को बुरा बताया है। इसके विपरीत महावीर की कम सम्पदा तथ्य थी अर्थात वह जिस उद्देश्य से की जाती थी वह वास्तव मे उस पर पहुँचाने वाली थी। तथ्य शब्द एक अन्य बात को भी प्रकट करता है, गोशालक नियतिवादी था। उसकी दृष्टि मे उत्थान, कम बल, वीय, आदि निष्फल हैं, अर्थात् इनसे कोई लाभ नही क्योकि विश्व म समस्त परिवतन नियत हैं जो होना है अवश्य होगा, उसमे किसी प्रकार का परिवतन नही हो सकता। इसके विपरीत महावीर की दृष्टि मे उत्थान आदि के द्वारा घटना चक्र मे परिवतन लाया जा सकता है। पुरुषाथ निष्फल नही होता अत महावीर की कम सम्पदा तथ्य अर्थात् फलवती है ' जबकि गोशालक की फल शून्य है। यहा वृत्तिकार के ये शब्द हैं—

"तथ्यानि सत्फलानि अव्यभिचारितया यानि कर्माणि-क्रियास्तत्सम्पदा सत्समृद्धया य सम्प्रयुक्तो-युक्त स तथा।"

देव ने सद्दालपुत्र से कहा तुम भगवान की वदना यावत् उपासना करना और प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना।

प्रातिहारिक—इस शब्द का अर्थ है—वे वस्तुएँ जिन्हें काम पूरा हो जाने पर लौटा दिया जाता है। यहाँ दो शब्द मननीय हैं—आहार और प्रतिहार भोजन सामग्री को आहार कहा जाता है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूरी तरह, और हृ धातु का अर्थ है हरण करना या लाना। जो वस्तु एक बार लाकर वापिस नहीं की जाती उसे आहार कहा जाता। भोजन इसी प्रकार की वस्तु है। इसके विपरीत बैठने का पीढ़ा, सोने के लिए चौकी आदि वस्तुएँ कुछ दिनों के लिए लाई जाती हैं और काम पूरा हो जाने पर वापिस कर दी जाती हैं। इन्हें प्रतिहार कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र प्रतिहारी के रूप चार वस्तुओं का उल्लेख है (१) पीठ अर्थात् पीढ़ा—बैठने की चौकी। (२) फलक—पट्टा या सोने की चौकी। पंजाबी में इसे पट्टा कहा जाता है। (३) शय्या—विश्राम स्थान तथा (४) संस्तारक—बिछौना के लिए घास या चटाई आदि।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। इसमें भोजन पानी आदि का उल्लेख नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महावीर की परम्परा में निमन्त्रित भोजन स्वीकार नहीं किया जाता था। यह परम्परा अब भी प्रचलित है। निमन्त्रित भोजन को साधु के लिए दोषपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत बुद्ध तथा गोशालक के साधु निमन्त्रित भोजन स्वीकार कर लेते थे।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—"एस णं मम धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलि-पुत्ते, से णं महामाहणे उप्पन्नणाण दंसणधरे जाव तच्च कम्म संपया संपउत्ते, से णं कल्लं इह हव्वमागच्छिस्सइ। तए णं तं अहं वंदिस्सामि जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं जाव उवनिमंतिस्सामि ॥ १८५ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तेन देवेनैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४ समुत्पन्नः—"एष खलु मम धर्माचार्यो धर्मोपदेशको गोशालो मङ्खलि-पुत्रः, स खलु महामाहन उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्मसम्पदा

सम्प्रयुक्त, स खलु कल्ये इह हव्यमागमिष्यति, तत खलु तमहं वन्दिष्ये, प्रातिहारिकेण यावदुपनिमन्त्रयिष्यामि ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के तेण देवेण—उस देव द्वारा एव वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—यह अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—विचार उत्पन्न हुआ—एव खलु—इस प्रकार मम—मेरे धम्मायरिए—धर्माचार्य धम्मोवएसए—धर्मोपदेशक गोसाले मखलि पुत्ते—गोशाल मखलि पुत्र हैं, से ण महामाहणे—वे महामाहन हैं उप्पन्नणाणदसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक हैं जाव तच्च कम्म सपया सपेउत्ते—यावत् तथ्य कर्म रूप सपत्ति के स्वामी हैं, सेण कल्ल इह हव्वमागच्छिस्सइ—वे कल यहाँ आएँगे, तए ण त अह वदिस्सामि—तब मैं उनको वन्दना करूँगा, जाव पज्जुवासिस्सामि—यवत् पयु पासना करूँगा, पाडिहारिएण जाव उवनिमतिस्सामि—प्रातिहारिक—पीठ फलक आदि के लिए यावत निमन्त्रित करूँगा ।

भावार्थ—उस देव के ऐसा कहने पर आजीविकोपासक सद्दाल पुत्र के मन मे यह विचार उत्पन हुआ कि 'मेरे धर्माचाय धर्मोपदेशक गोशालक मखलि-पुत्र, महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान, दशन के धारक यावत् तथ्य-कम रूप सपत्ति के स्वामी कल यहाँ आएँगे। मैं उन्हे वन्दना करूँगा यावत् उनकी पयु पासना करूँगा। उन्हे प्रातिहारिक पीठ फलकादि के लिए निमन्त्रित करूँगा।"

मूलम्—तए ण कल्ल जाव जलते समणे भगव महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ॥ १८६ ॥

छाया—तत खलु यावज्ज्वलति श्रमणो भगवान् महावीरो यावत समवसृत । परिषन्निर्गता, यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर कल्ल जाव जलते—दूसरे दिन सूर्योदय होने ही समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव समोसरिए—यावत् पधारे परिसा निग्गया—परिषद् निकली जाव पज्जुवासइ—यावत् पयु पासना की।

भावार्थ—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही भगवान् महावीर पधारे, यावत् परिषद् धर्म श्रवण के लिए निकली। यावत् पर्युपासना हुई।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए-जाव-पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे-मणुस्सवग्गुरा परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ १८७ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन्—"एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद्विहरति, तद् गच्छामि खलु श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दे यावत् पर्युपासे" एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः शुद्धप्रवेश्यानि यावद् अल्पमहार्घाभरणालंकृतशरीरो मनुष्यवागुरा परिगतः स्वस्माद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य पोलासपुरं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवणमुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिण प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुना कि एवं खलु समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर जाव विहरइ—यावत् विचर रहे हैं तं गच्छामि णं—इसलिए मैं जाता हूँ समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदामि जाव पज्जुवासामि—वन्दना करता हूँ यावत् पर्युपासना करता हूँ एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके

ण्हाए—स्नान किया जाव पायच्छित्ते—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात मङ्गलाचार किया, सुद्धप्पावेसाइ—शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य वस्त्र जाव—यावत् अप्पमहग्घाभरणालकियसरीरे—अल्प भार वाले बहुमूल्य आभूषणो से शरीर को आलकृत किया, और मणुस्सवग्गुरापरिगए—जन समूह के साथ साम्रो गिहाम्रो पडिणिक्खमइ—अपने घर से निकला पडिणिक्खमित्ता—निकल कर पोलासपुर नगर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ—पोलासपुर नगर के बीचो-बीच होता हुआ बाहिर निकला, निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणेव सहस्सववणे उज्जाणे—जहा सहस्राम्रवन उद्यान था, जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आकर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ—दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की करेत्ता वदइ नमसइ—प्रदक्षिणा कर के वन्दना की, नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता जाव पज्जुवासइ—व दना नमस्कार कर के यावत पयु पासना की ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इस वृत्तान्त को सुना कि श्रमण भगवन् महावीर यावत विचर रहे हैं, उसके मन मे आया "मैं जाता हूँ और उन्ह वन्दना नमस्कार करता हूँ यावन पयु पासना करता हूँ ।' इस प्रकार विचार कर के स्नान किया यावत् कौतुक तथा मगलाचार किये तथा सभा मे जाने योग्य शुद्ध वस्त्र पहने । अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणा द्वारा अपने शरीर को आलकृत किया और जन समूह के साथ घर से निकल कर पोलासपुर नगर के बीचो वीच हाता हुआ सहस्राम्रवन उद्यान मे भगवान् महावीर के पास पहुँचा । उन्ह वन्दना नमस्कार करके पयु पासना करने लगा ।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव धम्मकहा समत्ता ॥ १८८ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तस्या च महति यावद धर्मकथा समाप्ता ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र तीसे य महइ—तथा

पज्जुवासिस्सामि—यावत पर्यु पासना करूँगा से नूण सद्दालपुत्ता !—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र ! अट्ठे समट्ठे—क्या यह बात ठीक है ? हता ! अत्थि—हा भगवन् ! हे सद्दालपुत्र ! ठीक है, नो खलु सद्दालपुत्ता ! तेण देवेण गोसाल मखलिपुत्त पणिहाय एव वुत्ते—उस देव ने मङ्खलिपुत्र गोशालक को लक्ष्य करके ऐसा नही कहा था ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान महावीर ने सद्दालपुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे सद्दालपुत्र ! तुम जब अशोकवनिका मे थे, एक देव तुम्हारे पास आया और उसने बताया कि इस प्रकार अरिहत केवली आएँगे । भगवान ने सद्दालपुत्र के द्वारा पर्यु पासना सम्बन्धी निश्चय तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त मे पूछा—क्या यह बात ठीक है ?" हां भगवन्—ठीक है, सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया । भगवान् ने फिर कहा—"सद्दालपुत्र ! देव ने यह बात गोशालक को लक्ष्य करके नही कही थी ।"

मूलम्—तए ण तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेण भगवया महावीरेण एव वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"एस ण समणे भगव महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दसणधरे, जाव तच्च-कम्म सपया-सपउत्ते । त सेय खलु मम समण भगव महावीर वदित्ता नमसित्ता पाडिहारिएण पीढ-फलग जाव उवनिमतित्तए ।" एव सपेहेइ, सपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उठित्ता समण भगव महावीर वदइ, वन्दित्ता नमसित्ता एव वयासी—"एव खलु भते ! मम पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पच कुम्भकारावणसया । तत्थ ण तुब्भे पाडिहारिय पीढ जाव सथारय ओगिण्हित्ता ण विहरह" ॥ १९० ॥

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य श्रमणेन भगवता महावीरेणैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ४—"एष खलु श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्म सम्पदा सम्प्रयुक्तस्तत् श्रेय खलु मम श्रमण भगवन्त महावीर वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रातिहारिकेण पीठ-फलक यावदुपनिमन्त्रयितुम्" एव सप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य उत्थायोत्तिष्ठति, उत्थित्वा श्रमण भगवन्त महावीर

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयट्ठ पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पचकुम्भ-कारावणसएसु फासुएसणिज्ज पाडिहारिय पीढफलग जाव सथारय ओगि-ण्हित्ता ण विहरइ ॥ १६१ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान महावीर सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य-तमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पञ्चसु कुम्भकारापण-शतेषु प्रासुकैषणीय प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या सरतारकमवगृह्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की एयमट्ठ पडिसुणेइ—इस विनती को स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार करके सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की पचकुम्भकारावणसएसु—पाँच सौ आपणो से फासुएसणिज्ज—प्रासुक और एषणीय पाडिहारिय—प्रातिहारिक पीढफल-गसिज्जासथारय—पीठ फलक, शय्या सस्तारक ओगिण्हित्ता ण विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—तब श्रमण भगवान महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की इस प्रार्थना को स्वीकार किया और सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानो से प्रासुक, एषणीय और प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या सस्तारक ग्रहण करके विचरने लगे ।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहयय कोलाल-भड अतो सालाहितो बहिया नीणेइ, नीणित्ता, आयवसि दलयइ ॥ १६२ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचिद वाताहतक कौलालभाण्डमन्त शालाया बहिर्नयति, नीत्वाऽऽतपे ददाति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र अन्नया कयाइ—एक दिन वायाहयय कोलाल भड—[illegible]

ज्ज्य क्षारेण च करीषेण चैकतो मिश्र्यते मिश्रयित्वा चक्रे आरोप्यते, ततो बहव कर-काश्च यावदुष्ट्रिकाश्च क्रियन्ते।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर को एव वयासी—इस प्रकार बोला—एस ण भते !—हे भगवन ! यह पुव्वि मट्टिया आसी—पहले मिट्टी थी, तओ पच्छा—तत्पश्चात् उदएण निगिज्जइ—इसे पानी मे भिगोया गया, निगिज्जित्ता—भिगो कर छारेण य करिसेण य—क्षार और करीष के साथ एगओ मीसिज्जइ—एकत्र मिलाया गया मीसिज्जित्ता—मिलाकर चक्के आरोहिज्जइ—चाक पर चढाया तओ बहवे करगा य—तब बहुत से करक जाव उट्टियाओ—यावत् उष्ट्रिकाएँ बनाई जाती हैं।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! सर्व प्रथम मिट्टी लाई गई, उसे पानी मे भिगोया गया। तत्पश्चात् क्षारतत्व और गोबर के साथ मिला कर चाक पर चढाया गया। तब यह बर्तन बने।"

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्त आजीविओवासय एव वयासी—"सद्दालपुत्ता ! एस ण कोलाल-भडे कि उट्ठाणेण जाव पुरिस-क्कार-परक्कमेण कज्जति उदाहु अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण कज्जति ?" ॥ १९५ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेव-मवादीत्—"सद्दालपुत्र ! एतत् खलु कौलाल-भाण्ड किमुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते उताहो ! अनुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते ?"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्त आजीविओवासय—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से एव वयासी—यह पूछा—सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र ! एस ण कोलाल भडे—यह मिट्टी के बर्तन कि उट्ठाणेण

उट्ठाणे णं जाव पुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से बनाए जाते हैं, उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—बिना उत्थान यावत् पुरुषार्थ-पराक्रम से कज्जंति—बनाए जाते हैं ?

भावार्थ—भगवान् ने फिर पूछा—"सद्दालपुत्र ! यह बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से बने हैं ? अथवा उनके बिना ही बने हैं ?"

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—"भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार परक्कमेणं, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा" ॥ १९६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरमेवमवादीत्—"भदन्त ! अनुत्थानेन यावदपुरुषकारपराक्रमेण, नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रम इति वा, नियताः सर्वभावाः ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर से एवं वयासी—इस प्रकार बोला—भंते !—हे भगवन् ! अणुट्ठाणेणं—उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना बने हैं नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम भी नहीं है नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! यह सब बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम के बिना ही बने हैं। उत्थान आदि का कोई स्थान नहीं है। समस्त परिणाम नियत हैं।'

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता ! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं

वा कोलाल भड अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोग-भोगाइ भुञ्जमाणे विहरेज्जा, तस्स ण तुम पुरिसस्स किं दड वत्तेज्जासि ?" "भते ! अह ण त पुरिस आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा ।"

"सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय वा पक्केल्लय वा कोलाल-भड अवहरइ वा जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोग-भोगाइ भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुम त पुरिस आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि, जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा । अह ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ, तुम ता त पुरिस आओसेसि वा जाव ववरोवेसि । तो ज वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, त ते मिच्छा ।"

एत्थ ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए सबुद्धे ॥ १९७ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"सद्दालपुत्र ! यदि खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत वा पक्व वा कौलालभाण्डमपहरेद्वा, विकिरेद्वा, भिन्द्याद्वा, आच्छिन्द्याद्वा, परिष्ठापयेद्वा, अग्निमित्रया भार्यया सार्द्ध विपुलान् भोग भोगान् भुञ्जानो विहरेत, तस्य खलु त्व पुरुषस्य किं दण्ड वर्त्तयेः ?" (सद्दालपुत्र उवाच) "भदन्त ! अह खलु त पुरुषमाक्रोशयेय वा, हन्या वा, बध्नीया वा, मथ्नीया वा, तर्जयेय वा, ताडयेय वा, निश्छोटयेय वा, निर्भर्त्सयेय वा, अकाल एव जीविताद्व्यपरोपयेय वा"। (भगवानुवाच) "सद्दालपुत्र ! नो खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत वा पक्व वा कौलालभाण्डमपहरति वा, यावत् परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा भार्यया सार्द्ध विपुलान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति । नो वा त्व त पुरुषमाक्रोशसि वा हसि वा यावदकाले एव जीविताद्व्यपरोपयसि ।

—उत्थान से जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण कज्जति—यावत् पुरुषकार पराक्रम से बनाए जाते हैं, उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण—बिना उत्थान यावत् पुरुषार्थ-पराक्रम से कज्जति—बनाए जाते हैं ?

भावार्थ—भगवान् ने फिर पूछा—"सद्दालपुत्र ! यह बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से बने हैं ? अथवा उनके बिना ही बने हैं ?"

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—"भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा" ॥ १९६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरमेवमवादीत्—"भदन्त ! अनुत्थानेन यावदपुरुषकारपराक्रमेण, नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रमइति वा, नियताः सर्वभावाः ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को एवं वयासी—इस प्रकार बोला—भंते !—हे भगवन् ! अणुट्ठाणेणं—उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् पुरुषकार पराक्रम के बिना बनते हैं, नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम भी नहीं है, नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! यह सब बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना ही बने हैं। उत्थान आदि का कोई अर्थ नहीं है। समस्त परिवर्तन नियत हैं।"

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता ! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं

वा कोलाल भड अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिदेज्जा वा अच्छिदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोग-भोगाइ भुञ्जमाणे विहरेज्जा, तस्स ण तुम पुरिसस्स किं दड वत्तेज्जासि ?" "भते ! अह ण त पुरिस आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा।"

"सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय वा पक्केल्लय वा कोलाल-भड अवहरइ वा जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोग-भोगाइ भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुम त पुरिस आओ-सेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि, जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा। अह ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ, तुम ता त पुरिस आओसेसि वा जाव ववरोवेसि। तो ज वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, त ते मिच्छा।"

एत्थ ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए सबुद्धे ॥ १६७ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेव-मवादीत्—"सद्दालपुत्र ! यदि खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत वा पक्व वा कौलाल-भाण्डमपहरेद्वा, विकिरेद्वा, भिन्द्याद्वा, आच्छिन्द्याद्वा, परिष्ठापयेद्वा, अग्निमित्रया भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोग भोगान् भुञ्जानो विहरेत, तस्य खलु त्व पुरुषस्य कि दण्ड वर्त्तयेः ?" (सद्दालपुत्र उवाच) "भदन्त ! अह खलु त पुरुषमाक्रोशयेय वा, हन्या वा, बध्नीया वा, मथ्नीया वा, तर्जयेय वा, ताडयेय वा, निश्छोटयेय वा, निर्भर्त्स-येय वा, अकाल एव जीविताद्व्यपरोपयेय वा"। (भगवानुवाच) "सद्दालपुत्र ! नो खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत वा पक्व वा कौलालभाण्डमपहरति वा, यावत् परि-ष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति। नो वा त्व त पुरुषमाक्रोशसि वा हसि वा यावदकाले एव जीविताद्व्यपरोपयसि।

यदि नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रम इति वा नियता सर्वभावा, अथ खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत यावत्परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा यावद्विहरति, त्व त पुरुषमाक्रोशसि वा यावद व्यपरोपयसि तर्हि यद्वदसि—"नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।"

अत्र खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक सम्बुद्ध ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्त आजीविओवासय—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार कहा –सद्दालपुत्ता—हे सद्दालपुत्र ! जइ ण—यदि केइ पुरिसे—कोई पुरुष तुब्भ—तेरे वायाहय वा—हवा लगे हुए पक्केल्लय वा कोलालभड—अथवा पके हुए बर्तनो को अवहरेज्जा वा—अपहरण करले विक्खिरेज्जा वा—बिखेर दे भिंदेज्जा वा—फोड दे अच्छिंदेज्जा वा—छीन ले परिट्ठवेज्जा वा—फेंक दे अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि—अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइ भोग भोगाइ भुञ्जमाणे विहरेज्जा—विपुल भोग भोगता हुआ विचरे तस्स ण तुम पुरिसस्स—उस पुरुष को तुम कि दड वत्तेज्जासि—क्या दण्ड दोगे ? (सद्दालपुत्र उवाच) सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया भते ! —हे भगवन् ! अह ण त पुरिस—मैं उस पुरुष को आओसेज्जा वा—फटकारूँगा, हणेज्जा वा—पीटूँगा, बधेज्जा वा—बाँध दूँगा महेज्जा वा—कुचल दूँगा, तज्जेज्जा वा—तर्जना करूँगा, तालेज्जा वा—ताडना करूँगा, निच्छोडेज्जा वा—छीना-झपटी करूँगा, निब्भच्छेज्जा वा—निर्भर्त्सना करूँगा, अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा वा—अथवा अकाल में ही मार डालूँगा । (भगवान ने कहा) सद्दालपुत्ता ! —हे सद्दालपुत्र ! नो खलु केइ पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष तुब्भ—तेरे वायाहय वा—हवा लगे हुए पक्केल्लय वा—अथवा पके हुए कोलालभड—बर्तनों को अवहरइ वा—नही चुराता जाव परिट्ठवेइ वा—यावत् नही फैंकता अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइ भोग भोगाइ भुञ्जमाणे विहरइ—विपुल भोग भोगता हुआ नही विचरता है, नो वा तुम त पुरिस—न ही तुम उस पुरुष को आओसेज्जसि वा—फटकारते हो हणेज्जसि वा—मार पीट करते हो जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि—यावत् प्राणापहरण करते हो जइ—यदि नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम नही है नियया सव्व

भावा—और सब भाव नियत हैं, अह ण केइ पुरिसे—यदि कोई पुरुष तुब्भ वायाहय जाव परिट्ठवेइ वा—तेरे हवा लगे हुए वर्तनो को चुराता है यावत् बाहिर फकता है अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ—यावत् अग्निमिना भार्या के साथ विहार करता है, तुम वा त पुरिस—और तुम उस पुरुष को आओसेसि—फटकारते हो, जाव ववरोवेसि—यावत् प्राण लेते हो, तो ज वदसि—तो फिर भी यह कहते हो कि नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है, जाव नियया सव्वभावा—यावत् सब भाव नियत हैं, त ते मिच्छा—तेरा यह कहना मिथ्या है।

एत्थ ण—इस पर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए सबुद्धे—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समझ गया अर्थात् उसे बोध हो गया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से पूछा—"हे सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए अथवा पके हुए तेरे वर्तनो को चुराले, कही बाहिर ले जाकर रख दे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम-भोग मेथन करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे ?" सद्दालपुत्र—"भदन्त ! मै उस पुरुष को गालिया दूगा, फटकारूगा, पीटूगा, बाध दूगा, पैरो तले कुचल दूगा, धिक्कारूगा, ताडना करूगा, नोच डालूगा, भला बुरा कहूगा, अथवा उसके प्राण लेलूगा।" भगवान् ने कहा—"हे सद्दालपुत्र ! तुम्हारी मान्यता के अनुसार न तो कोई पुरुष वर्तनो को चुराता है, और न अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार करता है। न ही तुम उस पुरुष को दण्ड देते हो या मारते हो। क्योकि उत्थान यावत् पुरुषकार तो हैं ही नही—जो कुछ होता है अपने आप होता है, इसके विपरीत यदि कोई पुरुष तुम्हारे वर्तनो को वास्तव मे चुराता है, या अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार सेवन करता है और तुम उसे गाली-गलोच देते हो यावत् मारते हो तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि उत्थान यावत् पुरुषार्थ कुछ नही हैं, और सब भाव नियत हैं।" यह सुनकर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र वास्तविकता को समझ गया।

टीका—पिछले तथा इन सूत्रो मे भगवान महावीर ने गोशालक के नियतिवाद का खण्डन करने के लिए युक्तिया दी हैं। नियतिवाद का स्वरूप कुण्डकौलिक अध्ययन मे बताया जा चुका है। देवता ने जब कुण्डकौलिक के सामने गोशालक के सिद्धान्त को

समीचीन बताकर विश्व के समस्त परिवर्तनों का नियत बताया और कहा कि जीवन में प्रयत्न तथा पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है तो कुण्डकोलिक ने उससे पूछा—"यदि सब बात नियत हैं तो सभी प्राणी तुम्हारी तरह देव क्यों नहीं बन गये ?" इस पर देव निरुत्तर हो कर चला गया।

सद्दालपुत्र भी गोशालक का अनुयायी था। एक दिन वह बर्तनों को धूप में रख रहा था। भगवान ने पूछा—यह बर्तन कैसे बने ? सद्दालपुत्र ने बताया—पहले मिट्टी को पानी में भिगोते हैं फिर उसमें क्षार और करीष मिलाते हैं फिर चाक पर चढ़ाते हैं तब जा कर तरह २ के बर्तन बनते हैं।

भगवान ने पूछा—क्या इनके लिये पुरुषार्थ या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया नहीं यह पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना ही बन जाते हैं। यद्यपि गोशालक का उत्तर ठीक नहीं था फिर भी भगवान् ने उसे दूसरी तरह समझाने का निश्चय किया। उन्होंने देखा कि सद्दालपुत्र अपने को भी नियति का एक अङ्ग मान रहा है और स्वयं जो प्रयत्न कर रहा है उसे भी नियति ही समझ रहा है। अतः ऐसे उदाहरण देने चाहिए जो अस्वाभाविक या अनपेक्षित हों। जिसे वह प्रतिदिन के व्यवहार में सम्मिलित न कर सके। भगवान् ने पूछा—सद्दालपुत्र ! यदि तुम्हारे इन बर्तनों को कोई चुरा ले, फोड़ दे या इधर-उधर फेंक दे अथवा तुम्हारी भार्या अग्निमित्रा के साथ दुर्व्यवहार करे तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

"भगवन् ! मैं उस पुरुष को धिक्कारूंगा, पीटूंगा, उसे पकड़ लूंगा, यहां तक कि उसके प्राण भी ले सकता हूँ।" सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया। भगवान् ने पूछा—तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार सब भाव नियत हैं। अर्थात् जो होनहार है वही होता है, व्यक्ति कुछ नहीं करता। ऐसी स्थिति में तुम्हारे बर्तन फूटने ही वाले थे। उनके लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है फिर तुम ऐसा करने वाले को दण्ड क्यों देते हो ? सद्दालपुत्र ने अपने उत्तर में यह कहा था कि बर्तन आदि फोड़ने वाला व्यक्ति अकाल में ही जीवन से हाथ धो बैठेगा। यह उत्तर अपने आप नियतिवाद का खण्डन करता है।

भगवान् का उत्तर सुनकर सद्दालपुत्र समझ गया और वह नियतिवाद को छोड़ कर पुरुषार्थ में विश्वास करने लगा।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—"इच्छामि ण, भते ! तुब्भ अतिए धम्म निसामेत्तए" ॥ १६८ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"इच्छामि खलु भदन्त ! युष्माकमन्तिके धर्मं निशामयितुम् ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् महावीर को वदइ नमसइ—वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार बोला—इच्छामि ण भते !—हे भगवन् ! मैं चाहता हूँ कि तुब्भ अतिए—आपके पास धम्म निसामेत्तए—धर्म सुनूँ ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—'हे भगवन् ! मैं आप से धर्म सुनना चाहता हूँ ।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव धम्म परिकहेइ ॥ १६६ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य तस्या च यावद्धर्मं परिकथयति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को तीसे य जाव धम्म परिकहेइ—उस महती परिषद् मे यावत् धर्म सुनाया ।

भावार्थ—इस पर श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को महती परिषद् मे धर्मोपदेश किया ।

सूत्रम्—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए जहा आणदो तहा गिहि-धम्म पडिवज्जइ। नवर एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी वुड्ढि-पउत्ता, एगा हिरण्ण कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए दस गो-साहस्सिएण वएण जाव समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलासपुर नयर मज्झ मज्झेण जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गिमित्त एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे, त गच्छाहि ण तुम, समण भगव महावीर वदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जाहि" ॥ २०० ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक-श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टो यावत् हृदयो यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते, नवरमेका हिरण्यकोटिर्निधान प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटिर्वृद्धि-प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटि प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन यावत् श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य येनैव पोलासपुर नगर तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पोलासपुर नगर मध्य-मध्येन येनैव स्वक गृह येनैवाग्निमित्राभार्या तेनैवोपागच्छति, उपागत्याग्निमित्रा भार्यामेवमवादीत्—"एव खलु देवानुप्रिये! श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृत, तद्गच्छ खलु त्व श्रमण भगवन्त महावीर वन्दस्व, यावत्पर्युपास्स्व श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्मं प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए— वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए—श्रमण भगवान महावीर के समीप धम्म सोच्चा निसम्म—धर्म को सुनकर हृदय में धारण करके हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए—मन में प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हुआ, जहा आणदो तहा गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द की

तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया नवर—केवल इतना अन्तर है कि एगा हिरण्ण-कोडी निहाण पउत्ता—उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष मे एगा हिरण्ण-कोडी—वुड्ढि पउत्ता—एक करोड व्यापार मे एगा हिरण्ण कोडी पवित्थर पउत्ता—और एक करोड गृह तथा उपकरणो म रखने की मर्यादा की। एगे वए दसगोसाहस्सिएण वएण—इस प्रकार दस हजार गायो का एक व्रज रखा जाव—यावत् समण भगव महावीर वदइ नमसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहा पोलासपुर नगर था, तेणेव उवागच्छइ—वहा आया, उवागच्छित्ता—आकर पोलासपुर नयर मज्झ मज्झेण—पोलासपुर नगर के बीच होता हुआ जेणेव सए गिहे—जहा अपना घर था जेणेव अग्गिमित्ता भारिया—जहाँ अग्निमित्रा भार्या थी तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आकर अग्गिमित्त भारिय—अग्निमित्रा भार्या से एव वयासी—इस प्रकार बोला—एव खलु देवाणुप्पिए!—हे देवानुप्रिये! समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव समोसढे—यावत समवसृत हुए हैं, त गच्छा ण तुम—इसलिए तुम जाओ समण भगव महावीर—श्रमण भगवान् का वदाहि—वन्दना करो जाव पज्जुवासाहि—यावत् पर्युपासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास पचाणुव्वइय—पाच अणुव्रत सत्तसिक्खावइय—और सात शिक्षाव्रतरूप दुवालसविह—बारह प्रकार के गिहिधम्म पडिवज्जाहि—गृहस्थ धर्म को स्वीकार करो।

भावार्थ—इस पर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने हर्ष और सन्तोष का अनुभव किया। उसने भी आनन्द की भाति गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। इतना ही अन्तर है कि उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष म थे, एक करोड व्यापार मे और एक करोड गृह और उपकरणो मे लगे हुए थे। दस हजार गायो का एक व्रज था। सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को पुन वन्दना नमस्कार किया और पोलासपुर नगर म से होता हुआ अपने घर पहुँचा। वहा जाकर अग्निमित्रा भार्या से कहा—हे देवनुप्रिये! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। तुम जाओ, उन्हे वन्दना नमस्कार यावत् उनकी पर्युपासना करो। उनसे पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करो।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर ते कोडुम्बिय पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति—उन कौटुम्बिक-पुरुषों—सेवकों ने आज्ञा पालन करके सूचना दी।

भावार्थ—कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञा पूरी करके सद्दालपुत्र को सूचना दी।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियासरीरा चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव पञ्जलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ ॥ २०४ ॥

छाया—ततः खलु साग्निमित्रा भार्या स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता शुद्धात्मवेष्याणि यावदल्प महार्घाभरणालङ्कृतशरीरा चेटिका चक्रवाल परिकीर्णा धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य पोलासपुरं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवणं उद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य धार्मिकाद् यानप्रवरात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य चेटिका-चक्रवालपरिवृत्ता येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रि कृत्वो यावद्वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य नात्यासन्ने नातिदूरे यावत्प्राञ्जलिपुटा स्थितैव पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तए णं-तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया-उस अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, जाव पायच्छित्ता—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् पाप नाशक कर्म किए, सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किए, जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा—यावत् अल्प भार तथा बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को आभूषित किया, चेडिया चक्कवाल परिकिण्णा—चेटिका चक्रवाल—दासी समूह से घिरी हुई, वह अग्निमित्रा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ—

धार्मिक यान श्रेष्ठ पर सवार हुई, दुरुहित्ता—सवार हो कर पोलासपुर नगर मज्झ-मज्झेण—पोलासपुर नगर के बीचो बीच निग्गच्छइ—निकली, निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जहा महस्राम्रवन उद्यान था, जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे तेणेव—वहा उवागच्छइ—आई, उवागच्छित्ता—आकर धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरहइ—उस धार्मिक यानप्रवर-रथ मे नीचे उतरी पच्चोरुहित्ता—उतर कर चेडिया चक्कवाल परिवुडा—दासी-समूह मे घिरी हुई जेणेव समणे भगव महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आई उवागच्छित्ता—आकर तिक्खुत्तो जाव वदइ नमसइ—तीन वार यावत् वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके नच्चासन्ने नाइदूरे—न तो वहुत समीप और न ही वहुत दूर जाव पञ्जलिउडा—यावत् प्राञ्जलिपुट होकर अर्थात् हाथ जोडे हुए ठिइया चेव पज्जुवासइ—खडी खडी पर्युपासना करने लगी।

भावार्थ—अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा म प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किये यावत् अल्प भार किन्तु वहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को आभूषित किया। दासी समूह से घिरी हुई धार्मिक रथप्रवर पर सवार हुई तथा पोलासपुर नगर के बीच होती हुई सहस्राम्रवन उद्यान मे पहुँची। रथ मे उतर कर चेटि-परिवार से घिरी हुई भगवान् महावीर के पास पहुँची। भगवान् को तीन बार वन्दना नमस्कार किया, न वहुत समीप न अति दूर खडी हुई और हाथ जोडकर उपासना करने लगी।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य जाव धम्म कहेइ ॥ २०५ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽग्निमित्राय तस्या च यावद धर्मं कथयति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने अग्गिमित्ताए—अग्निमित्रा को तीसे य जाव धम्म कहेइ—उस महती परिषद म यावत धर्मोपदेश किया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा को उस महती परिषद् में धर्मोपदेश किया।

मूलम्—तए ण सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठा समण भगव महावीर वदइ नमसइ, नमसित्ता एव वयासी—"सद्दहामि ण, भते ! निग्गंथ पावयण जाव से जहेय तुब्भे वयह, जहा णं देवाणुप्पियाण अतिए बहवे उग्गा भोगा जाव पव्वइया, नो खलु अह तहा सचाएमि देवाणुप्पियाण अतिए मुण्डा भवित्ता जाव अह ण देवाणुप्पियाण अतिए पचाणुव्वइय सत्त-सिक्खावइय दुवालस-विह गिहि-धम्म पडिवज्जिस्सामि।" "अहासुह, देवाणप्पिया ! मा पडिबध करेह" ॥ २०६ ॥

छाया—तत खलु सा अग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्ट-तुष्टा श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"श्रद्दधामि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन यावत् तद् यथतद् यूय वदथ। यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहव उग्रा भोगा यावत् प्रव्रजिता, नो खल्वह तथा शक्नोमि देवानुप्रियाणामन्तिके मुण्डा भूत्वा यावद्, अह खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहि धर्म प्रतिपत्स्ये।" "यथा-सुख देवानुप्रिये ! मा प्रतिबन्ध कुरु।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—वह अग्निमित्रा भार्या समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठा—धर्मोपदेश सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुई और समण भगव महावीर वदइ नमसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार बोली—सद्दहामि ण भते ! निग्गथ पावयण—हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करती हूँ, जाव से जहेय तुब्भे वयह—यावत् जैसे आप कहते हैं वह यथार्थ है जहा ण देवाणुप्पियाणं अतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास बहवे उग्गा भोगा—बहुत से उग्रवंशी, भोगवंशी जाव

पव्वइया–यावत् प्रव्रजित–दीक्षित हुए हैं नो खलु अह तहा सचाएमि–मै उस प्रकार समथ नही हूँ कि देवाणुप्पियाण अतिए मुण्डा भवित्ता—देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो सकू जाव अह ण—यावत् म देवाणुप्पियाण अतिए—देवानुप्रिय के पास पच्चाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय—पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षा व्रत रूप दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जिस्सामि—बारह प्रकार के गहस्थ धम को अङ्गीकार करूँगी, अहासुह देवाणुप्पिया !–हे देवानुप्रिये ! तुम्हे जिस तरह सुख हो मा पडिबध करेह–विलम्ब मत करो ।

भावाथ—श्रमण भगवान महावीर के धर्मोपदेश को सुन कर अग्निमित्रा भार्या अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा–हे भगवन् ! मैं निग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जिस तरह आप कहते हैं, यह उसी प्रकार है। आप देवानुप्रिय के पास जिस तरह बहुत से उग्रवशी यावत् भोगवशी प्रव्रजित दीक्षित हो चुके हैं मैं उस प्रकार दीक्षित होने मे समर्थ नही हूँ। मैं आपसे पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार के गृहस्थ-धम को स्वीकार करूँगी।" भगवान् ने कहा— 'जैसे तुम्ह सुख हो। विलम्ब मत करो।"

मूलम—तए ण सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुवइय सत्तसिक्खा-वइय दुवालस-विह सावग-धम्म पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता तमेव धम्मिय जाण-प्पवर दुरुहइ दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥ २०७ ॥

छाया—तत खलु साऽग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध श्रावकधर्म प्रतिपद्यते। प्रतिपद्य श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य तदेव धार्मिक यानप्रवर दूरोहति, दूरुह्य यामेव दिश प्रादुर्भूता तामेव दिश प्रतिगता।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—उस अग्निमित्रा भार्या ने समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए—श्रमण भगवान महावीर के पास पचाणुव्वइय

सत्तसिक्खावइयं—पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ—बारह प्रकार के श्रावक धर्म को ग्रहण किया, पडिवज्जित्ता—ग्रहण करके समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ—उसी धार्मिक रथ पर सवार हुई दुरुहित्ता—सवार होकर जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी तामेव दिसं पडिगया—उसी दिशा में चली गई।

भावार्थ—इस अग्निमित्रा भार्या ने श्रमण भगवान महावीर के पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार किया। श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया और उसी धार्मिक रथ पर सवार होकर जिस दिशा से आई थी उसी दिशा चली में गई।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलास पुराओ नयराओ सहस्सम्बवणाओ, पडिनिग्गच्छइ पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ २०८ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पोलासपुरात् नगरात् सहस्राम्रवणात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन पोलास पुराओ नयराओ—पोलासपुर नगर सहस्सम्बवणाओ—सहस्राम्रवन से पडिनिक्खमइ—विहार कर गए पडिनिक्खमित्ता—विहार करके बहिया जणवय विहारं विहरइ—बाहिर के जनपदों में विचरने लगे।

भावार्थ—इसके बाद एक दिन श्रमण भगवान महावीर पोलासपुर के सहस्राम्र वन उद्यान से विहार कर गये और बाहिर के जनपदों में विचरने लगे।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगय जीवा जीवे जाव विहरइ ॥ २०९ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकोऽभिगतजीवाजीवो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र अभिगय जीवाजीवे—जीव अजीव का ज्ञाता होकर जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र जीवाजीव का ज्ञाता बनकर जीवन व्यतीत करने लगा ।

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एव खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समय वमित्ता समणाण निग्गथाण दिट्ठि पडिवन्ने । त गच्छामि ण सद्दालपुत्त आजीविओवासय समणाण निग्गथाण दिट्ठि वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठि गेण्हावित्तए" त्ति कट्टु एव सपेहेइ, सपेहित्ता आजीविय-सघ-सम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीविय-सभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डग-निक्खेव करेइ, करेत्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धि जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २१० ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मखलि पुत्रोऽस्या कथाया लब्धार्थ सन्—"एव खलु सद्दालपुत्र आजीविकसमय वमित्वा श्रमणाना निर्ग्रन्थाना दृष्टि प्रतिपन्न, तद् गच्छामि खलु सद्दालपुत्रमाजीविकोपासक श्रमणाना निर्ग्रन्थाना दृष्टि वामयित्वा पुनरप्याजीविकदृष्टि ग्राहयितुम्" इति कृत्वा, एव सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्याजीविकसघ सपरिवृतो येनैव पोलासपुर नगर येनैवाजीविकसभा तेनैवोपागच्छति, उपागत्याजीविकसभाया भाण्डकनिक्षेप करोति, कृत्वा कतिपयैराजीविकै सार्द्ध येनैव सद्दालपुत्र श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से गोसाले मखलिपुत्ते—वह गोशालक मखलिपुत्र इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुनकर एव खलु सद्दालपुत्ते—कि इस प्रकार सद्दालपुत्र ने आजीवियसमय वमित्ता—आजीविक सिद्धान्त को त्याग कर समणाण निग्गथाण दिट्ठि पडिवन्ने—श्रमण निर्ग्रन्थों की मान्यता को अङ्गीकार कर

लिया है त गच्छामि ण—इस लिए मैं जाता हूँ और सद्दालपुत्ते आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को समणाणं निग्गथाण दिट्ठि वामेत्ता—श्रमण निर्ग्रन्थों की मान्यता छुड़ा कर पुणरवि—पुनः आजीवियदिट्ठि गेण्हाविता—आजीविक दृष्टि ग्रहण कराता हूँ त्ति कट्टु एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया संपेहित्ता—विचार करके आजीवियसंघसम्परिवुडे—आजीविक संघ के साथ जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहाँ पोलासपुर नगर था जेणेव आजीवियसभा—और जहाँ आजीविक सभा थी तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया उवागच्छित्ता—आकर आजीवियसभाए—आजीविक सभा में भण्डग निक्खेवं करेइ—भाण्ड-उपकरण रख दिए करेत्ता—ऐसा करके कइ-वएहिं आजीविएहिं सद्धिं—कुछ आजीविकों के साथ जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए—जहाँ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक रहता था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पहुँचा।

भावार्थ—कुछ दिन बीतने पर मंखलिपुत्र गोशाल ने यह समाचार सुना कि सद्दाल-पुत्र आजीविक सिद्धान्त को छोड़कर श्रमण निर्ग्रन्थों का अनुयायी बन गया है। उसने मन ही मन विचार किया कि मुझे पोलासपुर जाकर सद्दालपुत्र को पुनः आजीविक सम्प्रदाय में लाना चाहिए। यह विचार कर आजीविक संघ के साथ वह पोलासपुर पहुँचा और आजीविक सभा में अपने भाण्डोपकरण रखकर कुछ आजीविकों के साथ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के पास आया।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ ॥ २११ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मंखलिपुत्रमायान्तं पश्यति, दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् तूष्णीकः संतिष्ठति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने गोसालं मंखलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ—मंखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा पासित्ता—देखकर नो आढाइ नो परिजाणाइ—न तो आदर ही किया और न

पहचाना अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे—विना आदर किए तथा विना पहचाने तुसिणीए सचिट्ठइ—चुप-चाप बैठा रहा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा किन्तु न तो उसका आदर किया और न ही पहचाना (अपरिचित के समान उपेक्षा भाव रखा) अपितु चुप-चाप बैठा रहा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलग सिज्जा-संथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुण कित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—"आगए णं, देवाणुप्पिया! इह महा-माहणे"? ॥ २१२ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मखलिपुत्रः सद्दालपुत्रेण श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणोऽपरिज्ञायमानः पीठ-फलक शय्या-संस्तारार्थं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य गुण-कीर्तनं कुर्वाणः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"आगतः खलु देवानुप्रिय! इह महामाहनः?"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से गोसाले मखलिपुत्ते—वह मखलिपुत्र गोशाल सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र द्वारा अणाढाइज्जमाणे अपरि-जाणिज्जमाणे—विना आदर तथा परिज्ञान प्राप्त किए पीढ फलग-सिज्जा संथारट्ठयाए—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर का गुणकित्तणं करेमाणे—गुण कीर्तन करता हुआ सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक को इस प्रकार बोला—आगए णं देवाणुप्पिया! इह महामाहणे—हे देवानुप्रिय! क्या यहां महामाहन आए थे?"

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशाल को सद्दालपुत्र की ओर से कोई सम्मान सत्कार या परिज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी उसने पीठ, फलक शय्या तथा संस्तारक आदि प्राप्त करने के लिए पूछा—"क्या यहां महामाहन आए थे।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—"के णं, देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?" ॥ २१३ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"कः खलु देवानुप्रिय ! महामाहनः ?"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसालं मंखलिपुत्तं—गोशाल मंखलिपुत्र से एवं वयासी—इस प्रकार बोला—के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?—हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन है ?

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से पूछा—'हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन है ? अर्थात् आपका अभिप्राय किस से है ?"

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—"समणे भगवं महावीरे महामाहणे" । "से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे महामाहणे ।"

"एवं खलु, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव महिय-पूइए जाव तच्चकम्म-संपया-संपउत्ते । से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे" । "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे" ? "के णं, देवाणुप्पिया ! महागोवे" ! "समणे भगवं महावीरे महागोवे" । "से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे ?"

"एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दण्डेणं सारक्खमाणे संगोवेमाणे, निव्वाणमहावाडं साहत्थिं संपावेइ । से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे-महा-गोवे ।" "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-सत्थवाहे ?"

"के ण, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?" "सद्दालपुत्ता ! समणे भगव महावीरे महासत्थवाहे।" "से केणट्ठेण० ?" "एव खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगव महावीरे ससाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएण पथेण सारक्खमाणे निव्वाण-महा-पट्टणाभिमुहे साहत्थि सपावेइ। से तेणट्ठेण, सद्दालपुत्ता ! एव वुच्चइ समणे भगव महावीरे महासत्थवाहे।" "आगए ण, देवाणुप्पिया ! इह महा-धम्म-कही ?" के ण देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?"

"समणे भगव महावीरे महा-धम्मकही।" "से कणट्ठेण समणे भगव महावीरे महा-धम्मकही ?"

"एव खलु, देवाणप्पिया ! समणे भगव महावीरे महइ-महालयसि ससारसि बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्ज-माणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे उम्मग्ग-पडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्त-बला-भिभूए अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहि अट्ठेहि य जाव वागरणेहि य चाउरताओ ससारकताराओ साहत्थि नित्थारेइ। से तेणट्ठेण, देवाणु-प्पिया ? एव वुच्चइ समणे भगव महावीरे महाधम्मकही।' "आगए ण, देवाणुप्पिया ! इह महानिज्जामए ?"

"के ण, देवाणुप्पिया ! महा-निज्जामए ? "समणे भगव महावीरे माहानिज्जामए।" "से केणट्ठेण० ?"

"एव खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगव महावीरे ससार-महा-समुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे ४ बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण तीराभिमुहे साहत्थि सपावेइ। से तेणट्ठेण, देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ समणे भगव महावीरे महा निज्जा-मए" ॥ ११४ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्र सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन !" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते

श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन ?" "एव खलु सद्दालपुत्र ! श्रमणो भगवान महावीरो महामाहन उत्पन्न ज्ञानदर्शनधरो यावन्महितपूजितो यावत्तथ्यकम सम्पदा सम्प्रयुक्त, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन ।" "आगत खलु, देवानुप्रिय ! इह महागोप ?" "क खलु, देवानुप्रिय ! इह महा गोप ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महागोप ।" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! यावन्महागोप ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीर ससाराटव्या बहून जीवान् नश्यतो विनश्यत खाद्यमानान् भिद्यमानान् लुप्यमानान् विलुप्यमानान धर्ममयेन दण्डेन सरक्षन् सगोपयन् निर्वाण-महावाट स्वहस्तेन सप्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महागोप ।" "आगत खलु देवानु प्रिय ! इह महासार्थवाह ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महासार्थवाह ?" "सद्दाल पुत्र ! श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाह ।" "तत्केनार्थेन ?" "एव खलु देवानु प्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीर ससाराटव्य बहून जीवान् नश्यतो विनश्यतो यावद विलुप्यमानान् धर्ममयेन पथा सरक्षन निर्वाणमहापत्तनाभिमुखान स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाह ।" "आगत खलु देवानुप्रिय । इह महाधर्मकथी ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महाधमकथी ।" "तत्केनार्थेन श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरो महातिमहालये ससारे बहून् जीवान नश्यतो विनश्यत खाद्यमानान् छिद्यमानान भिद्यमानान् लुप्यमानान विलुप्यमानान् उन्मार्गप्रतिपन्नान सत्पथविप्रनष्टान मिथ्यात्वबलाभिभूतानष्टविधकर्म तम पटलप्रत्यवच्छन्नान बहुभिरर्थैश्च यावद् व्याकरणैश्च चातुरन्तात्ससारकान्तारात स्वहस्तेन निस्तारयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महाधमकथी। "आगत खलु देवानुप्रिय ! इह महानिर्यामिक ?" "क खलु, देवानु-प्रिय ! "महानिर्यामक ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामक ।" "तत्के-नार्थेन ?" एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीर ससारमहासमुद्रे बहून जीवान नश्यतो विनश्यतो यावद् विलुप्यमानान् ब्रुडतो निब्रुडत उत्प्लवमानान धर्ममय्या नावा निर्वाणतीराभिमुखे स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामक ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से गोसाले मखलिपुत्ते—वह मखलिपुत्र गोशालक सद्दालपुत्त समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार बोला—समणे भगव महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं, से केणटठेण देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह किस लिए कहा जाता है कि समणे भगव महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं ?

गोशालक ने कहा—एव खलु सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र ! समणे भगव महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान महावीर ही महामाहन हैं, उप्पन्न णाणदसणधरे—अप्रतिहत केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारण करने वाले जाव—यावत् महिय पूइए—महित तथा पूजित जाव—यावत् तच्च कम्म सपया सपउत्ते—सत्फल प्रदान करने वाली कर्तव्यरूपी सम्पत्ति से युक्त हैं, से तेणट्ठेण देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि समणे भगव महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।

आगए ण देवाणुप्पिया इह महागोवे ? हे देवानुप्रिय ! क्या यहा महागोप—[गायो अर्थात् प्राणियो के रक्षको मे सब से बड़े] आए थे ? के ण देवाणुप्पिया ! महागोवे ?—हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ? समणे भगव महावीरे महागोवे—(गोशालक ने कहा)—श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

से केणट्ठेण देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे—(सद्दालपुत्र ने पूछा)—हे देवानुप्रिय ! किस कारण से यावत् श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ? एव खलु देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिय ! यह इस अभिप्राय से है समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ससाराडवीए—ससार अटवी म बहवे जीवे—बहुत से जीव नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, खज्जमाणे—खाए जा रहे हैं छिज्जमाणे—छेदन किए जा रहे हैं, भिज्जमाणे—भेदन किए जा रहे हैं, लुप्पमाणे—विकलाङ्ग किए जा रहे हैं विलुप्पमाणे—और घायल किए जा रहे हैं, उन सबकी धम्ममएण दण्डेण—धर्म रूपी दण्ड द्वारा सारक्खमाणे—रक्षा करते हैं, सगोवेमाणे—गोपन करते हैं, निव्वाणमहावाड—निर्वाण रूपी विशाल बाड़े मे साहत्थि सपावेइ—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेण सद्दालपुत्ता ! एव वुच्चइ—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि समणे भगव महावीरे महागोवे—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं। आगए ण देवाणुप्पिया ! इह महासत्थवाहे ?—हे देवानुप्रिय ! क्या महासार्थवाह यहाँ आए थे।

के ण देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ? हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन हैं ? सद्दालपुत्र ने पूछा। सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—हे सद्दालपुत्र ! श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं, से केणट्ठेणं० ? एवं खलु देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहा जाता है ? (गोशालक ने उत्तर दिया)—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर संसाराडवीए—संसार अटवी में बहवे जीवे—बहुत से जीव नस्समाणे—जो कि नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं जाव—यावत् विलुप्पमाणे—घायल किए जा रहे हैं, (उन सब को) धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे—धर्मरूपी मार्ग द्वारा रक्षा करते हैं निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे—निर्वाण-मोक्षरूपी महानगर की ओर उन्मुख करते है साहत्थिं संपावेइ—अपने हाथ से उन्हें वहाँ पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही—हे देवानुप्रिय ! क्या यहां महाधर्मकथी आए थे ? के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?—हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ? समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं, से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ? किस कारण से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ? एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर महइमहालयंसि संसारंसि—इस अत्यन्त विशाल संसार से बहवे जीवे—बहुत से जीव जाव—यावत् नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं खज्जमाणे ४—खाए जा रहे हैं ४ उम्मग्गपडिवन्ने—उन्मार्ग पर चल रहे हैं, सप्पहविप्पणट्ठे—सन्मार्ग से दूर हो रहे हैं मिच्छत्तबलाभिभूए—मिथ्यात्व में फँस रहे हैं अट्ठविह कम्म तम-पडल-पडोच्छन्ने—अष्टविध कर्मरूपी अन्धकार पटल से घिरे हुए हैं (उन्हें) बहूहिं अट्ठेहिं य—अनेक प्रकार की बातों जाव—यावत् वागरणेहिं य—व्याख्याओं द्वारा चाउरंताओ संसारकंताराओ—चार गतिरूप संसाररूपी अरण्य से साहत्थिं नित्थारेइ—अपने हाथ से पार करते है, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।

आगए ण, देवाणुप्पिया ! इह महा निज्जामए ?—हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ पर महानिर्यामक (महाकणधार) आए थे ? के ण देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए—हे देवानुप्रिय ! महानिर्यामक महाकर्णधार कौन हैं ? समणे भगव महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान् महावीर महाकणधार हैं से केणट्ठेण ? यह किस अभिप्राय से कहते हो (कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं) एव खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! यह बात इस अभिप्राय से कही जाती है समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ससारमहासमुद्दे—ससाररूपी महान् समुद्र मे बहवे जीवे—बहुत से जीवो को नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं जाव विलुप्पमाणे—यावत् जो घायल किए जा रहे हैं, बुड्डमाणे—डूब रहे है निवुड्डमाणे—गोते खा रहे हैं उप्पियमाणे—तथा बह रहे हैं, धम्ममईए नावाए—धर्मरूपी नाव के द्वारा निव्वाणतीराभिमुहे—निर्वाणरूपी किनारे पर साहत्थि सपावेइ—अपने हाथ से पहुँचाते हैं से तेणट्ठेण देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि समणे भगव महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक-महाकणधार हैं।

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से कहा—कि श्रमण भगवान महावीर महामाहन है।"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! किस अभिप्राय से श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं ?"

गोशालक—"क्योकि भगवान महावीर अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक है। महित, पूजित यावत् तथ्य अर्थात् सफल कमसम्पदा के स्वामी हैं। इसी लिए मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।"

गोशालक—"क्या यहाँ महागोप आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

सद्दालपुत्र—तुम यह किस अभिप्राय से कहते हो ? कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी मे नष्ट होते हुए, भटकते हुए, विविध कष्टो से पीडित होते हुए, विनष्ट होते हुए, छिन्न-भिन्न, क्षत एव विक्षत किए जाते हुए, प्राणियो को धर्मरूपी दण्ड लेकर रक्षा करते हैं, बचाते हैं और अपने हाथ मे निर्वाणरूपी विशाल बाडे मे पहुँचाते हैं। इसी लिए कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।"

गोशालक—"सद्दालपुत्र ! क्या यहाँ महासार्थवाह आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन है ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?"

सद्दालपुत्र—"आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी मे भटकते हुए विविध प्रकार के कष्टो से पीडित क्षत विक्षत, छिन्न-भिन्न प्राणियो को धर्मरूपी मार्ग पर पहुँचाते हैं और निर्वाणरूपी नगर की ओर ले जाते हैं। इसी अभिप्राय से मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।"

गोशालक—"क्या यहा महाधर्मकथी आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं।"

सद्दालपुत्र—"आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ?"

गोशालक—"हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर इस विशाल ससार मे भटकते हुए, पथभ्रष्ट, कुमार्गगामी, सन्मार्ग से भ्रष्ट, मिथ्यात्व मे फँसे हुए तथा आठ प्रकार के कर्मरूपी अन्धकार से घिरे हुए प्राणियो को अनेक प्रकार की युक्तियो, उपदेशो यावत् व्याख्याओ द्वारा भयकर अटवी के पार पहुँचाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी कहे जाते हैं।"

गोशालक—"क्या यहाँ (तुम्हारे पास) महानिर्यामक आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"महानिर्यामक कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं।"

सद्दालपुत्र—आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं ?"

गोशालक—"हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर ससाररूपी महासमुद्र मे नष्ट होते हुए, विनष्ट होते हुए, डूबते हुए, गोते खाते हुए और बहते हुए बहुत से जीवो को धमरूपी नौका द्वारा निर्वाणरूपी तट पर ले जाते हैं। इस लिए श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक अथवा महाकणधार कह जाते हैं।"

टीका—प्रस्तुत पाठ मे गोशालक द्वारा की गई भगवान् महावीर की प्रशसा का वर्णन है उसने पाँच विशेषण दिये हैं। और प्रत्येक विशेषण की व्याख्या करते हुए उसे महावीर के साथ घटाया है। वे विशेषण हैं—महामाहन, महागोप, महासार्थवाह महाधमकथी और महानिर्यामक। प्रत्येक की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार है—

१ महामाहन—इसकी विस्तृत व्याख्या पहले आ चुकी है। इसी अध्ययन के प्रारम्भ मे देव ने सद्दालपुत्र को महामाहन का वर्णन करते हुए कहा था कि वे उत्पन्न ज्ञान और दर्शन के धारक हैं। यहाँ उत्पन्न शब्द का अर्थ अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है। क्योंकि साधारण ज्ञान और दर्शन प्रत्येक प्राणी मे सदा रहते हैं। जैन दर्शन मे ज्ञान के पाच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे से मति, श्रुत, ज्ञान या अज्ञान रूप से प्रत्येक प्राणी मे होते हैं। किन्तु अन्तिम तीन विशेष शुद्धि द्वारा किसी-किसी का ही होते हैं। अन्तिम केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ उसी से अभिप्राय है। इसी प्रकार दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। यहाँ केवल दर्शन से अभिप्राय है। देव ने कहा था—वे अतीत, वर्तमान और अनागत के ज्ञाता हैं। अरिहन्त, जिन हैं, केवली हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, त्रिलोक द्वारा वन्दित, पूजित तथा सेवित हैं। देव, मनुष्य तथा असुरों के वन्दनीय, अर्चनीय, पूजनीय, सम्माननीय कल्याण तथा मगल रूप हैं। देवता स्वरूप हैं। उनके उपासनीय हैं। तथ्य अर्थात् सफल चारित्र सम्पत्ति के स्वामी हैं।

इन शब्दो की व्याख्या पिछली टीका मे दी जा चुकी है। यहाँ भी गोशालक ने महामाहन शब्द की व्याख्या करते हुए इन्ही बातो की ओर सकेत किया है।

महामाहन का दूसरा अर्थ है—मा हन (मत मारो) इस प्रकार का उपदेश देने वाले निर्ग्रन्थो के अग्रणी।

तीसरा अर्थ है श्रेष्ठ ब्राह्मण। जैन शास्त्रो मे ब्राह्मण का अर्थ है वह व्यक्ति जो ब्रह्मचर्य का धारक है। स्थूल रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ है काम-भोग एव वासनाओ से विरक्ति। यह इसका निषेधात्मक अर्थ है। विध्यात्मक अर्थ है 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा मे विचरण।

जैन धर्म में दोनो अर्थ लिए गये हैं, और उन्ही के आधार पर 'ब्राह्मण' या 'माहन' शब्द की व्याख्या की गई है। 'बंभचेरेण बम्हणो' देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २५।

२ महागोप—दूसरे विशेषण के रूप मे भगवान् महावीर को महागोप कहा है। इसका अर्थ है ग्वाला या रक्षक। ससार के प्राणी अनेक कष्टो से पीडित हैं। बलवान् प्राणी दुर्बल को सता रहा है, सिंह आदि मासाहारी अन्य प्राणियो को खा जाते हैं। कोई मारा जा रहा है, कोई बाँधा जा रहा है, कोई काटा जा रहा है, कोई छेदा जा रहा है। चारो ओर त्राहि २ मची हुई है। भगवान् महावीर हाथ में धर्म रूपी दण्ड लेकर प्राणियो को बुरे कर्मो से रोकते हैं और जिस प्रकार ग्वाला अपने दण्डे से पशुओ को हाकता हुआ बाडे मे पहुँचा देता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर भी अपने सम्पर्क मे आए हुए भव्य प्राणियो को मोक्ष रूपी बाडे मे पहुँचाते हैं इस लिए वे महागोप कहे जाते हैं।

३ महासार्थवाह तीसरा विशेषण है। सार्थ का अर्थ है काफिला और 'सार्थवाह' का अर्थ काफिले का सचालन करने वाला उसका नेता। प्राचीन काल मे व्यापारी, यात्री तथा अन्य लोग इकट्ठे होकर यात्रा किया करते थे। क्योकि उन्हे घने जगल पार करने पडते थे और वहाँ चोर, डाकू, हिंसक जीव तथा अन्य सकटो का सामना करना पडता था। अत वे इकट्ठे होकर पूरी तैयारी के साथ चलते थे। उसका सचालन तथा सारी व्यवस्था किसी एक व्यक्ति के हाथ मे रहती थी। उसी को सार्थवाह कहा जाता था। धार्मिक साहित्य मे ससार को विशाल

अटवी की उपमा दी जाती है। उसमे अनेक यात्री रास्ता भूल जाते हैं। चोर उन्हे लूट लेते हैं, डाकू मार डालते है, हिंसक प्राणी खा जाते हैं। सार्थवाह उन सब की रक्षा करता हुआ उन्हे पार ले जाता है और नगर तक पहुँचा देता है। भगवान् महावीर को भी इसी प्रकार मोक्ष रूपी नगर तक पहुँचाने वाला सार्थवाह बताया गया है।

४ महाधर्म-कथी—चौथा विशेषण है। इसका अर्थ है धर्मोपदेशक। भगवान् महावीर महान् धर्मोपदेशक थे। धर्मोपदेशक का कार्य है पथ भ्रष्टो को सत्पथ दिखाना। जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार मे पडे हुए हैं उन्हे प्रकाश देना तथा जीवन के उलझे हुए मार्ग को सुलझाना। भगवान महावीर विविध प्रकार के दृष्टान्त-कथाओ, व्याख्याओ तथा प्रश्नोत्तरो द्वारा सबको धर्म का रहस्य समझाया करते थे। इसलिए उन्हे महाधर्म कथी कहा गया है।

५ महानिर्यामक—पाँचवा विशेषण है। इसका अर्थ है महाकर्णधार। ससार एक समुद्र के समान है, जहा अनेक प्राणी डूब रहे हैं, भवर मे फसे हुए हैं। भगवान् महावीर उन्हे धर्म रूपी नौका द्वारा पार उतारते हैं। अत वे महा-कर्णधार हैं।

उपरोक्त पाच विशेषणो मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो को उपस्थित किया गया है। महामाहन विशेषण मे उनकी ज्ञान एव चारित्र सम्पत्ति का वर्णन है। वहा वे सर्वोच्च आदर्श के रूप मे उपस्थित होते हैं। महागोप विशेषण मे वे रक्षक के रूप मे सामने आते हैं। अज्ञानी जीव पशुओ के समान हैं। उन्हे धर्म रूपी दण्ड द्वारा इधर-उधर भटकने से रोकने वाला तथा उन्हे अपने इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला महागोप है। यहा धर्म को दण्ड की उपमा दी गई है। दण्ड कठोरता या हिंसा का सूचक होता है। किन्तु साधक को दूसरो के प्रति मृदु किन्तु अपने प्रति सदा कठोर रहना चाहिए। इसी का नाम अनुशासन है और अनुशासन के बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। तीसरे विशेषण मे ससार को अटवी बताया गया है और जीव को उसमे भटकने वाला पथिक। मोक्ष को वह नगर जहा पहुँचना है। और महावीर को वहाँ पहुँचाने वाला सार्थवाह। यहाँ वे नेता या निर्यामक के रूप मे सामने आते हैं।

चौथे विशेषण मे उन्हे धर्म-कथी कहा गया है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रूपी अन्धकार मे फसे हुए हैं। सन्मार्ग छोड कर कुमार्ग को पकडे हुए हैं। धर्मोपदेशक

अन्धकार को दूर करके सन्मार्ग को आलोकित करता है। यहा वे पथप्रदर्शक के रूप मे सामने आते हैं। पाचवे विशेषण मे निर्यामिक अर्थात् कर्णधार से उपमा दी गई है। ससार समुद्र है, प्राणी उसमे गोते खा रहे हैं, भगवान् धर्म रूपी नौका के द्वारा उन्हे पार उतारते हैं। यहा उनका समुद्धारक रूप सामने आता है।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलि पुत्त एव वयासी—"तुब्भे ण देवाणुप्पिया! इय-च्छेया जाव इय-निउणा, इय नय-वादी, इय-उवएसलद्धा, इय-विण्णाण पत्ता, पभू ण तुब्भे मम धम्मायरिएण धम्मोवएसएण भगवया महावीरेण सद्धि विवाद करेत्तए?"

"नोतिणट्ठे समट्ठे"।

"से केणट्ठेण, देवाणुप्पिया! एव वुच्चइ-नो खलु पभू तुब्भे मम धम्मायरिएण जाव महावीरेण सद्धि विवाद करेत्तए?"

"सद्दालपुत्ता! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे जुगव जाव निउण-सिप्पोवगए एग मह अय वा, एलय वा, सूयर वा, कुक्कुड वा, तित्तिर वा, वट्टय वा, लावय वा, कवोय वा, कविजल वा, वायस वा, सेणय वा हत्थसि वा, पायसि वा, खुरसि वा, पुच्छसि वा, पिच्छंसि वा, सिगसि वा, विसाणसि वा, रोमसि वा, जहि-जहि गिण्हइ, तहि-तहि निच्चल निप्फद धरेइ। एवामेव समणे भगव महावीरे मम बहूहि अट्ठेहि य हेऊहि य जाव वागरणेहि य जहि-जहि गिण्हइ, तहि-तहि निप्पट्ठ पसिण वागरण करेइ। से तेणट्ठेण, सद्दालपुत्ता! एव वुच्चइ नो खलु पभू अह तव धम्मायरिएण जाव महावीरेण सद्धि विवाद करेत्तए"॥ २१५॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशाल मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यूय खलु देवानुप्रिय! इयच्छेका, यावद् इयन्निपुणा, इयन्नयवादिन, इयदुपदेशलब्धा, इयद्विज्ञानप्राप्ता। प्रभव खलु यूय मम धर्माचार्येण धर्मोपदेशकेन भगवता महावीरेण सार्द्धं विवाद कर्तुम्?" "नायमर्थ समर्थ।" "तत्केनार्थेन

देवानुप्रिया ! एवमुच्यते—नो प्रभवो यूय मम धर्माचार्येण याव महावीरेण सार्द्धं विवाद कर्तुम् ?" "सद्दालपुत्र ! तद्यथानामक कोऽपि पुरुषस्तरुण, बलवान्, युगवान् यावन्निपुणशिल्पोपगत एक महा तमज वा, एडक वा, शूकर वा, कुक्कुट वा, तित्तिर वा, वर्त्तक वा, लावक वा, कपोत वा, कपिञ्जल वा, वायस वा, श्येनक वा, हस्ते वा, पादे वा, खुरे वा, पुच्छे वा, पिच्छे वा, शृङ्गे वा, विषाणे वा, रोम्णि वा, यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र तत्र निश्चल निस्पन्द धरति। एवामेव श्रमणो भगवान महावीरो मम बहुभिरर्थैश्च, हेतुभिश्च यावद व्याकरणैश्च यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र तत्र निस्पष्ट-प्रश्नव्याकरण करोति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते नो खलु प्रभुरह तव धर्माचार्येण याव महावीरेण सार्द्धं विवाद कर्तुम्।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसाल मखलिपुत्त—मखलिपुत्र गोशाल को एव वयासी—इस प्रकार बोला—तुब्भे ण देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! तुम इयच्छेया—ऐसे निदग्ध अवसर के जानकार हो जाव—यावत इय निउणा—ऐसे निपुण हो इय-नयवादी—इस प्रकार के नीतिज्ञ हो इय उवएसलद्धा—उपदेश अर्थात् शिक्षा ग्रहण किये हुए हो इय विण्णाणपत्ता—इस प्रकार विज्ञान को प्राप्त हो पभू ण तुब्भे—क्या तुम समर्थ हो ? मम धम्मायरिएण—मेरे धर्माचार्य धम्मोवएसएण—धर्मोपदेशक भगवया महावीरेण सद्धि—भगवान् महावीर के साथ विवाद करेत्तए ?—विवाद करने मे ? नो तिणट्ठे समट्ठे—गोशालक ने कहा—नही यह सभव नहीं है से केणट्ठेण देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहते हो नो खलु पभू तुब्भे—कि तुम समर्थ नही हो मम धम्मायरिएण जाव महावीरेण सद्धि—मेरे धर्माचार्य यावत श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद करेत्तए—विवाद करने मे सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र ! से जहानामए केइ पुरिसे—जैसे अज्ञात नाम वाला कोई पुरुष तरुणो—जवान बलव—बलवान् जुगव—युग वाला अर्थात युगपुरुष जाव—यावत् युवा—निरोग तथा दृढ बनाई हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ तथा जघाओ वाला हो, निउण सिप्पोवगए—निपुण और कला कौशल का जानकार यदि एग मह अय वा—एक महान् काय वाले बकरे को एलय वा—अथवा मेढे को सूयर वा —अथवा सूअर को कुक्कुड वा—अथवा मुर्गे को तित्तिर वा—अथवा तीतर को

वट्टय वा—अथवा वटेर को लावय वा—अथवा लावक पक्षी (चिडिया) को कवोय वा—अथवा कबूतर को कविजल वा—कपिजल को वायस वा—अथवा कोए को सेणय वा—अथवा बाज को हत्थसि वा—हाथ अथवा पायसि वा—पैर को खुरसि वा पुच्छसि वा—खुर अथवा पूछ को पिच्छसि वा—पख सिंगसि वा—सीग अथवा विसाणसि वा—विषाण रोमसि वा—अथवा रोमो को जहिं जहिं गिण्हइ—जहा २ से भी पकडता है तहिं तहिं निच्चल निप्फद धरेइ—उसे वही वही निश्चल और निस्पन्द कर देता है। अर्थात् उसे तनिक भी इधर उधर हिलने नही देता, एवामेव—इसी तरह समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर मम—मुझको बहूहिं अट्ठेहिं य—बहुत से अर्थो हेऊहिं य—हेतुओ जाव—यावत् वागरणेहिं य—व्याकरण—प्रश्नोत्तरो द्वारा जहिं जहिं गिण्हइ—जहा २ निगृहीत करते हैं अर्थात् पकडते हैं तहिं तहिं—वही मुझे निप्पट्ठपसिण वागरण करेइ—निरुत्तर कर देते हैं, से तेणट्ठेण सद्दालपुत्ता !—इसलिए हे सद्दालपुत्र ! एव वुच्चइ—मैं कहता हूँ कि नो खलु पभू अह—म समर्थ नही हूँ तव धम्मायरिएण—तुम्हारे धर्माचार्य जाव—यावत् महावीरेण सद्धि विवाद करेत्तए—भगवान महावीर के साथ विवाद करने मे।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—"हे देवानुप्रिय ! तुम इस प्रकार विदग्ध, अवसर ज्ञाता, निपुण, नीतिज्ञ तथा सुशिक्षित हो। क्या तुम मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ कर सकते हो ?" गोशालक ने कहा—"नही" "मैं नही कर सकता।" सद्दालपुत्र ने फिर पूछा—"हे देवानुप्रिय ! "क्यों ?"

'सद्दालपुत्र ! जैसे कोई तरुण, बलवान, भाग्यशाली, युवा, नीरोग तथा दृढ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ के मध्य भाग, जघाओ वाला, कला कौशल का जानकार पुरुष किसी बकरे, मेढे, सुअर, कपिजल, काक और बाज को हाथ, पैर, खुर, पूछ पख, सीग, दात, रोमादि जहाँ जहाँ से भी पकडता है वही से निश्चल और निस्पन्द दबा देता है और उसे जरा भी हिलने नही देता। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर अनेक अर्थो, हेतुओ यावत् व्याकरणो एव प्रश्नोत्तरों द्वारा जहाँ कही से भी मुझे पकडते हैं, वही २ मुझे निरुत्तर कर देते हैं। हे सद्दालपुत्र ! इस लिये मै कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर के साथ मे शास्त्रार्थ करने मे समर्थ नही हूँ।"

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलिपुत्त एव वयासी—"जम्हा ण, देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सतेहिं, तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तण करह, तम्हा ण अह तुब्भे पाडिहारिएण पीढ जाव सथारएण उवनिमतेमि ।" नो चेव ण धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा, त गच्छह ण तुब्भे मम कुम्भारावणेसु पाडिहारिय पीढ फलग जाव श्रोगिण्हित्ताण विहरह" ॥ २१६ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशाल मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यस्मात्खलु देवानुप्रिया ! यूय मम धर्माचार्यस्य याव महावीरस्य सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यै सद्भूतर्भावैर्गुणकीर्तन कुरुथ, तस्मात् खलु अह युष्मान् प्रातिहारीकेण पीठ यावत्सस्तारकेणोपनिमन्त्रयामि ।" नो चैव धम इति वा, तप इति वा, तद्गच्छत खलु यूय मम कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिक पीठफलक यावद् अवगृह्य विहरत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसाल मखलिपुत्त—गोशाल मङ्खलिपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जम्हा ण देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! चूकि तुब्भे—तुम ने मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स—मेरे धर्माचाय यावत् श्रमण भगवान् महावीर का सतेहिं—सदरूप सत्य तच्चेहिं—तत्त्वरूप तहिएहिं—तथ्यरूप सब्भूएहिं भावेहिं—सद्भूत भावो द्वारा गुणकित्तण करेह—गुण कीतन किया है, तम्हा ण अह तुब्भे—इसलिए म तुम्हे पाडिहारिएण—प्रातिहारिक पीढ जाव सथारएण उवनिमतेमि—पीठ यावत फलक, शय्या सस्तारक आदि के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ, नो चेव ण धम्मोत्ति वा तवोत्ति वा—इसे धम या तप समझ कर नही त गच्छह ण तुब्भे—इसलिए आप जाओ और मम कुम्भारावणेसु—मेरी वर्तनो की दुकानो मे पाडिहारिय पीढ फलग—प्रातिहारिक के रूप मे अर्थात् वापिस लौटाने की शर्त पर पीठ फलक जाव—यावत् शय्या सस्तारक आदि श्रोगिण्हित्ताण विहरह—ग्रहण करके विचरें ।

भावार्थ—इस पर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—"देवानुप्रिय चू कि तुमने मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर का सत्य, तथ्य

तथा सद्भूत गुण कीर्तन किया है इसलिए मैं तुम्हे प्रातिहारिक, पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ यद्यपि मैं इसमे धर्म और तप नही मानता। तो आप जाएँ और मेरी बर्तनो की दुकानो से पीठ, फलक, शय्या सस्तारक आदि ग्रहण करके विचरें।"

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठ पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता कुम्भारावणेसु पाडिहारिय पीढ जाव ओगिण्हित्ताण विहरइ ॥ २१७ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्र सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्यैतमर्थ प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिक पीठ यावद् अवगृह्य विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से गोसाले मखलिपुत्ते—उस मखलिपुत्र गोशाल ने सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की एयमट्ठ पडिसुणेइ—इस बात को स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके कुम्भारावणेसु—बर्तनों की दुकानो से पाडिहारिय पीढ जाव प्रातिहारिक के रूप मे पीठ यावत् फलक, शय्या, सस्तारकादि ओगिण्हित्ताण विहरइ—ग्रहण कर के विचरने लगा।

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की इस बात को स्वीकार किया और उसकी बर्तनो की दुकानों से प्रातिहारिक रूप मे पीठ आदि ग्रहण करके विचरने लगा।

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलि-पुत्ते सद्दालपुत्त समणोवासय जाहे नो सचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे सते तते परितते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहार विहरइ ॥ २१८ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मखलिपुत्र सद्दालपुत्र श्रमणोपासक यदा नो शक्नोति बहुभिराख्यापनाभिश्च प्रज्ञापनाभिश्च सञ्ज्ञापनाभिश्च नैर्ग्रन्थ्यात प्रवचना-

च्चालयितु वा, क्षोभयितु वा, विपरिणमयितु वा, तदा श्रान्तस्तान्त परितान्त पोलासपुरान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से गोसाले मखलिपुत्ते—वह मखलिपुत्र गोशालक बहूहि श्राघवणाहि य—अनेक प्रकार की आख्यापनाओ (सामान्य कथनो) पण्णवणाहि य—प्रज्ञापनाओ (विविध प्ररूपणाओ) सण्णवणाहि य—सज्ञापनाओ (प्रतिबोधो) विण्णवणाहि य—और विज्ञापनाओ (अनुनय वचनो के द्वारा) सद्दालपुत्त समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निग्गथाश्रो पावयणाश्रो—निर्ग्रन्थ प्रवचन मे चालित्तए वा—विचलित करने मे खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने म विपरिणामित्तए वा—विचार बदलने मे जाहे नो सचाएइ—जब समर्थ न हो सका ताहे सते—तब श्रान्त तते-खिन्न परितते-अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुराश्रो नगराश्रो पडिणिक्खमइ—पोलासपुर नगर से बाहिर निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर बहिया जणवय विहार विहरइ—बाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा ।

भावार्थ—जब मखलिपुत्र गोशालक अनेक प्रकार की आख्यापनाओ, सामान्य कथनो से प्रज्ञापनाओ—प्रतिपादनो, सज्ञापनाओ—प्रतिबोधो तथा विज्ञापनाओ—अनुनय वचनो से—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित, क्षुब्ध और विरुद्ध न कर सका तब श्रान्त, खिन्न और अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुर नगर से बाहिर चला गया और बाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा ।

टीका—किसी प्रकार की सासारिक अभिलाषा के बिना यदि भगवान महावीर जैसे महापुरुषो का गुण कीर्तन किया जाए तो उससे सर्वोत्कृष्ट निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है । गोशालक ने जो भगवान महावीर की स्तुति की थी वह अभिलाषा रहित न थी । इसलिए उसे मुख्य फल निर्जरा फल की प्राप्ति न होकर गौण फल अर्थात् प्रातिहारिक रूप मे पीठ फलक आदि प्राप्त हुए ।

गोशालक ने सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित करने के लिए अनेक प्रकार के आख्यानो, प्रज्ञापनाओ विविध प्ररूपणाओ तथा अनुनयपूर्ण वचनो द्वारा भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हो सका । इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने 'सते तते परितते' पद दिए हैं ।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ २१९ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शीलव्रतानि यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्युत्क्रान्तानि, पञ्चदशं संवत्सरमन्तरावर्तमानस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले यावत् पौषधशालायां श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के शीलव्रत, नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित—संस्कारित करते हुए चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स—जब पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था पुव्वरत्तावरत्तकाले—मध्यरात्रि के समय जाव—यावत् पोसहसालाए—पौषधशाला में समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अंतियं धम्मपण्णत्तिं—समीप प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को बहुत से शील यावत् व्रत नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वर्ष में अर्धरात्रि के समय यावत् पौषधशाला में श्रमण भगवान् महावीर से प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करते हुए विचरने लगा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ २२० ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले एको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत्।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स अतिय—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के समीप पुव्वरत्तावरत्त काले—आधी रात्रि के समय एगे देवे पाउब्भवित्या—एक देव प्रकट हुआ ।

भावार्थ—इसके बाद अवरात्रि मे उस सद्दालपुत्र के पास एक देव प्रकट हुआ ।

मूलम्—तए ण से देवे एग मह नीलुप्पल जाव असि गहाय सद्दालपुत्त समणोवासय एव वयासी—(जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्ग करेइ । नवर एक्केक्के पुत्ते नव मस-सोल्लए करेइ) जाव कनीयस घाएइ, घाइत्ता जाव आयचइ ॥ २२१ ॥

छाया—तत खलु स देव एक महान्त नीलोत्पल यावद् असि गृहीत्वा सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमेवमवादीत्—यथा चुलनीपितुस्तथैव देव उपसर्गं करोति । नवरमेकैकस्मिन पुत्रे नव मासशूल्यकानि करोति, यावत कनीयास घातयति, घातयित्वा यावदासिञ्चति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एग मह नीलुप्पल—नीले कमल के समान एक बडी जाव—यावत् चमकती हुई असि गहाय—तलवार लेकर सद्दालपुत्त समणोवासय एव वयासी—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्ग करेइ—चुलनीपिता श्रावक के समान देव ने उपसग किये नवर—विशेपता इतनी है कि एक्के क्के पुत्ते—प्रत्येक पुत्र के नव मस सोल्लए करेइ—मास के नौ ९ टुकडे किए जाव कणीयस घाएइ—यावत् सबसे छोटे पुत्र को भी मार डाला घाइत्ता जाव आयचइ—मार कर सद्दालपुत्र के शरीर पर मास और रुधिर के छीटे दिये ।

भावार्थ—उस देव ने नील कमल के समान प्रभा वाली विशाल तलवार लेकर, चुलनीपिता के समान समस्त उपसर्ग किये । केवल इतना अन्तर है कि प्रत्येक पुत्र के नौ टुकडे किये । यावत् सबसे छोटे लडके को मार डाला और सद्दालपुत्र के शरीर पर मास तथा रुधिर से छीटे दिये ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव विहरइ ॥ २२२ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकोऽभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए-वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र अभीए जाव विहरइ—भयरहित यावत् ध्यानस्थ रहा ।

भावार्थ—फिर भी श्रमणोपासक सद्दालपुत्र निर्भय यावत् समाधिस्थ रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता चउत्थंपि सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो सद्दालपुत्ता! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भजसि तओ जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-विइज्जिया धम्माणुराग रत्ता सम-सुह-दुक्ख-सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता नव मंस-सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयचामि, 'जहा णं तुमं अट्ट, दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ २२३ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा चतुर्थमपि सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो सद्दालपुत्र! श्रमणोपासक! अप्रार्थित-प्रार्थक! यावन्न भनक्षि ततस्ते येयमग्निमित्रा भार्या धर्मसहायिका, धर्मवद्या, धर्मानुरागरक्ता, समसुखदुःख सहायिका, तां ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा नव मांसशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदानभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चासिञ्चामि यथा खलु त्वमार्तो यावद् व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को अभीयं जाव पासित्ता—निर्भय यावत् समाधिस्थ देखकर

चउत्थपि—चौथी वार भी सद्दालपुत्त समणोवासय एव वयासी—श्रमणोपासक सद्दाल-पुत्र को इस प्रकार कहा—हनो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थया !—हे श्रमणोपासक ! सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! जाव न भजसि—यावत् तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तओ—तो ते जा इमा—तेरी जो यह अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या है और जो धम्मसहाइया—धर्म म सहायता देने वाली, धम्मविइज्जिया—धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित करने वाली धम्माणुरागरत्ता—धर्म के अनुराग मे रगी हुई, समसुहदुक्खसहाइया—दुख सुख मे समान रूप से सहायता करने वाली है त—उसको ते साओ गिहाओ—तेरे अपने घर से नीणेमि—लाऊँगा नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मार डालूँगा घाइत्ता—मारकर नव मससोल्लए करेमि—मास के नौ टुकडे करूँगा करेत्ता—ऐसा करके आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि—तेल से भरे हुए कडाह मे तलूँगा, अद्दहित्ता—तलकर तव गाय—तेरे शरीर को मसेण य सोणिएण य आयचामि—मास और रुधिर से छीटे दूँगा, जहा ण तुम—जिससे तू अट्ट दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—अति दुखात तथा विवश हो कर यावत मर जाएगा।

भावार्थ—देव ने इस पर भी सद्दालपुत्र को निर्भय यावत् समाधिस्थ देखा तो चौथी वार बोला—अरे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तो तेरी अग्निमित्रा भार्या को जो कि धर्म म सहायता देने वाली, धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित रखने वाली, धर्म के अनु-राग मे रगी हुई, तथा दुख सुख म सहायक है, उसे तेरे घर से लाकर तेरे सामने मार कर नौ टुकडे करूँगा। उन्हे तेल से भरे कडाह मे तलूँगा। उसके तप्त हुए खून एव मास से तेरे शरीर पर छीटे दूँगा, जिससे तू चिन्तित दुखी तथा विवश हो कर असमय म ही प्राणो से हाथ धो बैठेगा।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेण देवेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ २२४ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्त सन्नभीतो यावद् विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र तेण देवेण—उस देव द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कह जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् समाधि मे स्थिर रहा।

भावार्थ—देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी सद्दालपुत्र समाधि मे स्थिर रहा।

मूलम्—तए ण से देवे सद्दालपुत्त समणोवासय दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो सद्दालपुत्ता! समणोवासया!" त चेव भणइ॥ २२५॥

छाया—तत खलु स देव सद्दालपुत्र श्रमणोपासक द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—हभो सद्दालपुत्र! श्रमणोपासक! तदेव भणति।

शब्दार्थ—तए ण तदनन्तर से देवे—उस देव ने सद्दालपुत्त समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—दूसरी तीसरी बार इसी प्रकार कहा—हभो सद्दालपुत्ता समणोवासया!—हे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र! त चेव भणइ—वही बात दुहराई।

भावार्थ—देव ने सद्दालपुत्र को दूसरी तथा तीसरी बार भी यही कहा।

मूलम्—तए ण तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्तस्स समाणस्स अय अज्झत्थिए समुप्पन्ने४ एव जहा चुलणीपिया! तहेव चितेइ। "जेण मम जेट्ठ पुत्त, जेण मम मज्झिमय पुत्त जेण मम कणीयस पुत्त जाव आयचइ, जावि य ण मम इमा अग्गिमित्ता भारिया समसुहदुक्ख-सहाइया, तपि य इच्छइ, साओ गिहाओ नीणित्ता मम अग्गओ घाएत्तए। त सेय खलु मम एय पुरिस गिण्हित्तए त्ति" कट्टु उद्धाइए। (जहा चुलणीपिया तहेव सव्व भाणियव्व नवर) अग्गिमित्ता भारिया कोलाहल सुणित्ता भणइ। सेस जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवर अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवओ। ॥ २२६॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण सत्तम सद्दालपुत्तम ज्झयण समत्त॥

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्यसतोऽयमाध्यात्मिक ४ समुत्पन्न—"एव यथा चुलनीपिता तथैव चिन्तयति, येन मम ज्येष्ठ पुत्र, येन मम मध्यमक पुत्र, येन मम कनीयास पुत्र, यावद् आसिञ्चति, यापि च खलु ममेयमग्निमित्रा भार्या समसुखदु ख सहायिका, तामपि चेच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम, तत श्रये खलु ममत पुरुष ग्रहीतुमिति" कृत्वोत्थित, यथा चुलनीपिता तथैव सर्व भणितव्यम्, नवरमग्निमित्रा भार्या कोलाहल श्रुत्वा भणति। शेप यथा चुलनीपितृवक्तव्यता, नवरमरुणभूते विमाने उपपन्नो याव महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति।

शब्दार्थ—तए ण तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के मनम तेण देवेण—उस देव द्वारा दोच्चपि तच्चपि—दूसरी और तीसरी वार भी इस प्रकार कहे जाने पर अय अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—यह विचार उत्पन्न हुआ एव जहा चुलणीपिया—जिस प्रकार चुलनीपिता ने सोचा था तहेव चिंतेइ—उसी तरह सोचने लगा जेण मम जेटठ पुत्त—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को जेण मम मज्झिमय पुत्त—जिसने मेरे मझले पुत्र को जेण मम कणीयस पुत्त—जिसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार डाला जाव आयचइ—यावत् छींट दिए जावि य ण मम इमा—और जो यह मेरी अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भारिया समसुहदुक्ख सहाइया—मेरे सुख दु ख म सहायक है तपि य—उसको भी साओ गिहाओ नीणेत्ता—घर से लाकर मम अग्गओ—मेरे आगे घाएत्तए इच्छइ—मारना चाहता है त सेय खलु मम—अत मेरे लिए यही उचित है कि एय पुरिस गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकड लूँ त्ति कट्टु उद्धाइए—यह सोचकर उठा जहा चुलणीपिया तहेव सव्व भाणियव्व—शेप सब बात चुलनीपिता के समान समझना नवर—इतनी ही विशेपता है कि अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या कोलाहल सुणित्ता भणइ—कोलाहल सुनकर बोलती है सेस जहा चुलणीपिया वत्तव्वया—शेप वर्णन चुलनीपिता के समान है नवर—विशेपता इतनी ही है कि अरुणभूए विमाणे उववन्ने—अरुणभूत विमान म उत्पन्न हुआ जाव—यावत महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—जब उस अनार्य पुरुष ने दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार कहा तो सद्दालपुत्र के मन मे यह पुरुष अनार्य है इत्यादि सारी बात आई। उसने सोचा

कि इस अनार्य ने मेरे ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्र को मार डाला है। उनके टुकड़े टुकड़े किए और मेरे शरीर को उनके रुधिर और मांस से छींटे दिए। अब मेरी पत्नी अग्निमित्रा को जो सुख-दुःख तथा धर्म-कार्यों में सहायक है, घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इस प्रकार सारा वृत्तान्त चुलनीपिता के समान समझना चाहिए। केवल इतना फर्क है कि कोलाहल सुनकर चुलनीपिता की माता आई थी और यहाँ पत्नी अग्निमित्रा आई। सद्दालपुत्र भी मरकर अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ और महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र पौषधशाला में भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञापित धर्म की आराधना कर रहे थे। आधी रात के समय एक देव उनके समीप आया। उसके पास नील कमल के समान चमचमाती तलवार थी। अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह सद्दालपुत्र से बोला—यदि तू शीलादि व्रतों का परित्याग नहीं करता तो मैं तेरे पुत्रों को मार डालूँगा, इत्यादि कहकर चुलनीपिता के समान ही देव ने सद्दालपुत्र को नाना प्रकार के उपसर्ग किए। दैवी माया के कारण सद्दालपुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके तीनों पुत्र मार डाले गए हैं तथा उसके शरीर को रुधिर तथा मांस से छींटे दिए जा रहे हैं। यह भीषण दृश्य देखकर और दवकृत नाना उपसर्गों-कष्टों को सह कर भी सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा और अपनी समाधि से विचलित नहीं हुआ। यह देखकर देव ने चौथी बार कहा—"यदि तू अब भी शीलादि को भंग नहीं करेगा तो मैं तेरी भार्या अग्निमित्रा जो कि धर्म में तेरी सहायक है, धर्म वैद्या है तथा धर्म के अनुराग में रंगी हुई है, घर से लाकर तेरे सामने मार डालूँगा। तेल से भरे कड़ाहे में तल कर उसके मांस और रुधिर से तेरे शरीर को छींटूँगा। जिससे तू अत्यन्त दुःखी हो कर मर जायगा।" इस पर सद्दालपुत्र के मन में विचार हुआ कि जिसने मेरे सब पुत्रों को मार डाला, और जो मेरी धर्म तथा सुख दुःख में सहायक पत्नी को भी मार डालना चाहता है। ऐसे अनार्य पुरुष को पकड़ लेना चाहिए। यह विचार कर सद्दालपुत्र ज्यों ही देव को पकड़ने के लिए उठा, वह अदृश्य हो गया। अग्निमित्रा कोलाहल सुनकर आई और उसने सद्दालपुत्र से यथार्थ बात कही और बताया कि यह सब देव माया थी। वास्तव में कुछ नहीं हुआ। तेरे सभी पुत्र आराम से सोए हुए हैं। इस माया के कारण तुम अपने व्रतों से विचलित हो गए हो।

अत तुम इसके लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करो। सद्दालपुत्र ने आत्मशुद्धि की और क्रमश श्रावक की ग्यारह पतिमाएँ अङ्गीकार की। अन्त मे सलेखना द्वारा शरीर त्याग कर के अरुणभूत नामक विमान मे उत्पन्न हुआ वहाँ आयुष्य पूरी करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत वणन मे अग्निमित्रा भार्या के जो गुण बताए गए हैं वे महत्वपूण हैं। जो इस प्रकार हैं—

१ धम्म सहाइया—अग्निमित्रा धम-कार्यों म सद्दालपुत्र की सहायता करती थी। उनमे बाधा नही डालती थी। इतना ही नही, प्रत्येक धम काय म प्रोत्साहन देती थी।

२ धम्मविइज्जिया—(धम वैद्या) वह धार्मिक जीवन के लिए वैद्य के समान थी। अर्थात् किसी प्रकार की शिथिलता या दोष आने पर उसे दूर कर देती थी और धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए प्रेरणा करती रहती थी।

३ धम्माणुराग रत्ता—(धर्मानुरागरक्ता) धम के प्रेम मे रगी हुई थी अर्थात् धर्म उसके बाह्य जीवन मे ही नही, हृदय मे भी उतरा हुआ था। धर्मानुष्ठान स्वय करने मे तथा दूसरो से कराने मे उसे आनन्द आता था।

४ सम सुहदुक्ख सहाइया—(समसुख दु ख सहायिका) वह अपने पति के सुख और दु ख मे बराबर हिस्सा बटाती थी और प्रत्येक अवसर पर सहायता करती थी।

भारतीय परम्परा मे पत्नी का सहधम चारिणी कहा गया है। अग्निमित्रा अपने इस कत्तव्य का पालन कर रही थी। उसने गृहस्थी के कार्यों मे पति को सदा सहायता दी और उसकी सुख सुविधाओ का ध्यान रखा। उसमे धम भावना जागृत रखी। जब देव द्वारा किए गए उपसग के कारण सकट आया और वह विचलित हो गया, तो उसे पुन धम मे स्थापित किया आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया। इस प्रकार वह सच्चे रूप मे धर्म सहायिका और धर्म वैद्या सिद्ध हुई।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का सप्तम सद्दालपुत्र अध्ययन समाप्त ॥

अट्ठमज्झयणं

अष्टम अध्ययन

मूलम्—अट्ठमस्स उक्खेवओ, एव खलु, जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नयरे। गुणसिले चेइए। सेणिए राया ॥ २२७ ॥

छाया—अष्टमस्योपक्षेपक, एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृह नगरम्, गुणशीलश्चैत्य, श्रेणिको राजा।

शब्दार्थ—अट्ठमस्स उक्खेवओ—आठवें अध्ययन का उपक्षेप—प्रारम्भ पूर्ववत् है, एव खलु, जम्बू !—इस प्रकार हे जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय रायगिहे नयरे—राजगृह नामक नगर था गुणसिले चेइए—गुणशील नामक चैत्य था सेणिए राया—श्रेणिक राजा था।

भावार्थ—आठवें अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है। श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न करने पर श्री सुधर्मा जी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल जबकि चतुर्थ आरक था और श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे उस समय राजगृह नामक नगर था। गुणशील चैत्य उसके बाहिर था। वहां पर महाराजा श्रेणिक राज्य करते थे।

महाशतक का वर्णन—

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे महासयए नाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणदो। नवरं अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकसाओ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएण ॥ २२८ ॥

छाया—तत्र खलु राजगृहे महाशतको नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यो, यथाऽऽनन्दः, नवरमष्ट हिरण्यकोट्यः सकांस्या निधान प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोट्यः सकांस्या वृद्धि-प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोट्यः, सकांस्या प्रविस्तर-प्रयुक्ता, अष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन ।

शब्दार्थ—तत्थ णं रायगिहे—उस राजगृह नगर में महासयए नाम गाहावई—महाशतक नाम का गाथापति परिवसइ—रहता था अड्ढे—वह आढ्य यावत् समृद्ध था जहा आणदो—आनन्द श्रावक के समान सारा वृतान्त समझ लेना चाहिए, नवर—इतना विशेष है अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ सकसाओ—कास्य के साथ निहाण पउत्ताओ—कोष में सञ्चित थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ सकसाओ—कास्य सहित वुड्ढि पउत्ताओ—व्यापार में प्रयुक्त थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकसाओ—कास्य से नपी हुई, आठ करोड सवण मुद्राएँ कांस्य से प्रयुक्त पवित्थर पउत्ताओ—घर के सामान में लगी हुई थी अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएण—प्रत्येक में दस हजार गायो वाले आठ व्रज थे ।

भावार्थ—राजगृह नगर में महाशतक नामक गाथापति रहता था । वह आढ्य एवं आनन्द श्रावक की तरह सम्पन्न था । उसके कांस्य सहित आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष में, आठ करोड व्यापार में और आठ करोड घर तथा सामान में लगी हुई थी । पशुधन के आठ व्रज थे ।

१३ भार्याएँ—

मूलम्—तस्स णं महासयगस्स रेवई-पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव सुरूवाओ ॥ २२६ ॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवती प्रमुखास्त्रयोदश भार्या आसन्, अहीन-यावत्सुरूपा ।

शब्दार्थ—तस्स णं महासयगस्स—उस महाशतक के रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था—रेवती आदि प्रमुख १३ पत्नीयाँ थी अहीण जाव सुरूवाओ—(वे) अहीन (अर्थात् सम्पूर्णाङ्ग) यावत् सरूप थी ।

भावार्थ—उसकी रेवती आदि १३ पत्नीया थी। सभी सम्पूर्णाङ्ग यावत् सुन्दर थी।

पत्नियो की सम्पत्ति—

मूलम—तस्स ण महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ, अट्ठ वया दस गो साहस्सिएण वएण होत्था। अवसेसाण दुवालसण्ह भारियाण कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी एगमेगे य वए दस-गो-साहस्सिएण वएण होत्था ॥ २३० ॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवत्या भार्याया कौलगृहिका अष्टहिरण्य-कोटचोऽष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसन। अवशेषाणा द्वादशाना भार्याणा कौल-गृहिका एकैका हिरण्यकोटी, एकैकश्च व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसीत।

शब्दार्थ—तस्स ण महासयगस्स—उस महाशतक की रेवईए भारियाए—रेवती भार्या के पास कोलघरियाओ—पितृकुल से प्राप्त अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थीं अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएण होत्था—और प्रत्येक में दस हजार गायो के हिसाब से आठ व्रज थे, अवसेसाण दुवालसण्ह भारियाण—शेष १२ भार्याओं के पास कोल घरिया—पितृ गृह से प्राप्त एगमेगा हिरण्णकोडी—एक २ करोड सुवर्ण मुद्राएँ एगमेगे य वए दसगोसाहस्सिएण वएण होत्था—तथा दस हजार गायो वाला एक-एक व्रज था।

भावार्थ—रेवती के पास पितृ-कुल से प्राप्त आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थी और प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले आठ गोकुल थे। शेष बारह स्त्रियों मे प्रत्येक के पास पितृकुल से प्राप्त एक एक करोड सुवर्ण मुद्राएँ और दस हजार गायो वाला एक एक व्रज था।

भगवान का आगमन तथा महाशतक का व्रत ग्रहण—

मूलम—तेण कालेण तेण समएण सामी समोसढे। परिसा निग्गया। जहा आणदो तहा निग्गच्छइ। तहेव सावय धम्म पडिवज्जइ। नवर अट्ठ

हिरण्ण-कोडीओ सकसाओ उच्चारेइ, अट्ठ वया, रेवइ-पामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेस मेहुणविहिं पच्चक्खाइ। सेस सव्वं तहेव इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—"कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे बेदोणियाए कंस-पाईए हिरण्ण-भरियाए संववहरित्तए" ॥ २३१ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतः, परिषन्निर्गता। यथाऽऽनन्दस्तथा निर्गच्छति। तथैव श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते, नवरमष्टहिरण्यकोट्यः सकांस्या निधान-प्रयुक्ता उच्चारयति, अष्ट व्रजा, रेवती प्रमुखाभ्यस्त्रयोदशभ्यो भार्याभ्योऽवशेषं मैथुनविधिं प्रत्याख्याति, शेषं सर्वं तथैव। इमं च खलु एतद्रूपमभिग्रहमभिगृह्णाति—"कल्या-कल्यि कल्पते मे द्विद्रोणीकया कांस्यपात्र्या हिरण्यभृतया संव्यवहर्तुम्।"

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय सामी समोसढे—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए परिसा निग्गया—परिषद् धर्म कथा सुनने को निकली जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ—आनन्द के समान महाशतक भी निकला तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ—उसने भी उसी प्रकार श्रावक धर्म अङ्गीकार किया नवरं—इतना विशेष है कि अट्ठ हिरण्ण कोडीओ सकंसाओ निहाणपउत्ताओ—आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कांस्य द्वारा नापी हुई कोष आदि में रखने का उच्चारेइ—उच्चारण किया, अट्ठ वया—आठ व्रज रखे रेवई पामोक्खाहिं तेरसहिं—रेवती प्रमुख १३ भारियाहिं अवसेसं मेहुण विहिं पच्चक्खाइ—भार्याओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान किया, सेसं सव्वं तहेव—शेष सब उसी प्रकार आनन्द की तरह समझना चाहिए। इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—उसने ऐसा अभिग्रह भी लिया कल्लाकल्लिं कप्पइ मे—प्रतिदिन मुझे कल्पता है कि बेदोणीयाए-कंसपाईए हिरण्ण भरियाए संववहरित्तए—दो द्रोण जितने कांस्य पात्र में भरी हुई सुवर्ण मुद्राओं से व्यापार करना।

भावार्थ—उस काल उस समय भगवान महावीर स्वामी पधारे। परिषद् दर्शनार्थ निकली। महाशतक भी आनन्द श्रावक की भांति निकला। और उसी प्रकार गृहस्थधर्म स्वीकार किया। विशेषता यही है कि उसने कांस्य सहित आठ २

करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष आदि मे रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियो के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो से मैथुन सेवन का परित्याग किया। अन्य सव आनन्द के समान है। उसने यह भी अभिग्रह लिया कि "मै प्रतिदिन दो द्रोण सुवण से भरे हुए कास्य पात्र द्वारा व्यापार करूँगा।

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए जाए अभिगय जीवाजीवे जाव विहरइ ॥ २३२ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको जातोऽभिगत जीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए—तदनन्तर वह महाशतक समणोवासए जाए—श्रमणोपासक हो गया अभिगय जीवाजीवे जाव विहरइ—यावत् जीवाजीव का जानकार हो कर विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक हो गया और जीवाजीव का ज्ञाता हो कर विचरने लगा।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे वहिया जणवयविहार विहरइ ॥ २३३ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरो बहिर्जनपदविहार विहरति।

शब्दार्थ—तए ण समणे भगव महावीरे—एक दिन श्रमण भगवान् महावीर बहिया जाणवय विहार विहरइ—अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

भावार्थ—इसके वाद श्रमण भगवान् महावीर विहार कर गए और अन्य जनपदा मे विचरने लगे।

रेवती का क्रूर अध्यवसाय—

मूलम्—तए ण तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्ताव-रत्त कालसमयसि कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ —"एव खलु अह इमासि दुवालसण्ह सवत्तीण विघाएण नो सचाएमि महासयएण समणोवास-

एण सद्धि उरालाइ माणुस्सयाइ भोगभोगाइ भुञ्जमाणी विहरित्तए। त सेय खलु मम एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेण वा, विसप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासि एगमेग हिरण्ण-कोडि, एगमेग वय सयमेव उवसम्पज्जित्ता ण महासयएण समणोवासएण सद्धि उरालइ जाव विहरित्तए" एव सपेहेइ, सपेहेइत्ता तासि दुवालसण्ह सवत्तीण अतराणि य, छिद्दाणि य, विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ ॥ २३४ ॥

छाया—तत खलु तस्या रेवत्या गाथापत्या अन्यदा कदाचित्पूर्वरात्रापरराग्रकाल समये कुटुम्ब यावद अयमेतद्रूप आध्यात्मिक —"एव खलु अहमासा द्वादशाना सपत्नीना विघातेन नो शक्नोमि महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जाना विहर्तु म, तच्छ्रेय खलु ममैता द्वादशापि सपत्नयोऽग्निप्रयोगेण वा, शस्त्रप्रयोगेण वा, विषप्रयोगेण वा जीवितादव्यपरोप्य एतासामेकैका हिरण्यकोटी मेकैक व्रज स्वयमेवोपसम्पद्य महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् यावद्विहर्तु म।" एव सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य तासा द्वादशाना सपत्नीनामन्तराणि च छिद्राणि च विवराणि च प्रतिजाग्रती विहरति।

शब्दार्थ—तए ण तीसे रेवईए गाहावइणीए—तदनन्तर उस रेवती गाथा पत्नी को अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि—अपरात्रि में कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए—कौटुम्बिक बातों के लिए जागरण करते हुए यह विचार आया एव खलु अह—इस प्रकार मैं इमासि दुवालसण्ह—इन बारह सपत्नीण विघाएण—सपत्नियों के विघ्न के कारण नो सचाएमि—समर्थ नहीं हूँ, महासयएण समणोवासएण सद्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइ—इच्छानुसार माणुस्सयाइ भोगभोगाइ भुञ्जमाणी विहरित्तए—मनुष्य सम्बन्धी काम भोग भोगती हुई विचरने में त सेय खलु मम—तो मेरे लिए उचित है कि एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ—इन १२ सपत्नियों को अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा—अग्नि प्रयोग से अथवा विष प्रयोग के द्वारा जीवियाओ ववरोवित्ता—जीवन से पृथक करके एयासि—इनकी एगमेग—एक २ हिरण्णकोडि—करोड़ सुवर्ण मुद्राओं एगमेग—एक एक व्रज सयमेव उवसम्पज्जित्ताण—स्वय अपने अधीन करलू तथा महासयएण समणोवासएण

सद्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइ जाव विहरित्तए—स्वेच्छानुसार यावत् भोग भोगू एव सपेहेइ—इस प्रकार विचार किया सपेहित्ता—विचार करके तासि दुवालसण्ह सवत्तीण—उन १२ सपत्नियो के अतराणि य छिद्दाणि य-गुप्त छिद्रो और विवराणि य—विवरो को पडिजागरमाणी विहरइ—ढूण्ढने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी को अधरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करते हुए यह विचार आया। "मै इन १२ सपत्निया के विघ्न के कारण महाशतक श्रमणोपासक के साथ इच्छानुसार भोग नही भोग सकता। अच्छा होगा कि इन सौतो को मार डालू। प्रत्येक की एक २ करोड सुवर्ण मुद्रा रूप सम्पति तथा व्रजो पर अधिकार जमा लू और महाशतक के साथ स्वच्छानुसार काम भोगो का आनन्द लू।" यह सोच कर वह उनके गुप्त विवरो तथा छिद्रो को ढूण्डने लगी।

रेवती द्वारा सपत्नियो की हत्या और सम्पत्ति का अपहरण—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासि दुवालसण्ह सवत्तीण अतर जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेण उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विस-प्पओगेण उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासि दुवालसण्ह सवत्तीण कोल-घरिय एगमेग हिरण्ण-कोडि, एगमेग वय सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएण समणोवासएण सद्धि उरालाइ भोगभोगाइ भुञ्जमाणी विहरइ ॥ २३५ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्यदा कदाचित्तासा द्वादशाना सपत्नीनामन्तर ज्ञात्वा षट् सपत्नी शस्त्रप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य षट् सपत्नीर्विषप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य तासा द्वादशाना कौलगृहिकमेकैका हिरण्यकोटीमेकैक व्रज स्वयमेव प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य महाशतकेन सार्द्धमुदारान् भोग भोगान् भुञ्जाना विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर उस रेवती गाथापत्नी ने अन्नया कयाइ—एक दिन तासि दुवालसण्ह सवत्तीण—उन १२ सपत्नियो के अतर जाणित्ता—छिद्रो को जानकर छ सवत्तीओ सत्थप्पओगेण उद्दवेइ—छ सपत्नियो

को शस्त्र के प्रयोग से मार डाला उद्वेत्ता—मारकर छ सवत्तीग्रो विसप्पग्रोगेण उद्वेइ—छ सपत्नियों को विषप्रयोग द्वारा मार डाला उद्वेत्ता—मार कर तासि दुवालसण्हं सवत्तीण कोल घरिय—उन १२ सपत्नियों की पितृ-कुल से प्राप्त एगमेगं हिरण्ण-कोडिं एगमेग वय सयमेव पडिवज्जइ—एक २ करोड सुवर्ण मुद्राग्रो तथा एक २ व्रज को ग्रपने ग्रधीन कर लिया पडिवज्जित्ता—ग्रहण कर के महासयएण समणोवासएण सद्धि—श्रमणोपासक महाशतक के साथ उरालाइ—मन माने भोग भोगाइ भुञ्जमाणी विहरइ—भोगो को भोगने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी ने ग्रपनी बारह सपत्नियो की गुप्त बात जान ली ग्रौर उन मे से छ को शस्त्र द्वारा ग्रौर छ को विष देकर मार डाला। उनकी सुवर्ण मुद्राग्रो ग्रौर व्रजो को ग्रपने ग्रधीन कर लिया तथा महाशतक के साथ मन-माने भोग भोगने लगी।

रेवती की मांस-मदिरा लोलुपता—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी मस-लोलुया मसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, ग्रज्झोववन्ना बहु-विहेहिं मसेहि य, सोल्लेहि य, तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च ग्रासाएमाणी ४ विहरइ ॥ २३६ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता, गृद्धा, ग्रथिता, ग्रध्युपपन्ना, बहुविधैर्मांसैश्च, शूल्यकैश्च, तलितैश्च, भर्जितैश्च, सुरां च, मधु च, मैरेयं च, मद्य च, सीधुञ्च प्रसन्नाञ्चाऽऽस्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी मस-लोलुया—मांस मे लोलुप मसेसु मुच्छिया—मांस मे मूर्छित गिद्धा—मांस में गृद्ध होती हुई गढिया—मांस में ग्रथित ग्रर्थात् ग्रग २ में मांस भक्षण के ग्रनुराग वाली ग्रज्झोववन्ना—मांस में ही ग्रत्यन्त ग्रासक्त होती हुई बहुविहेहि मसेहि य—नाना प्रकार के मांसों में ग्रौर सोल्लेहि य—मांस के शूलकों में ग्रौर तलिएहि य—तले हुए

मास आदि मे और भज्जिएहि य—भूने हुए मास में और सुर च महु च मेरग च—सुरा (गुड आटे से बनी हुई शराब) मधुक महुआ से बनी शराब तथा मेरग मज्ज च—'आसव' नामक अपरिपक्व मद्य सीधु च—तथा सीधु नामक शराब पसन्न च—सुगन्ध युक्त शराब आदि को आसाएमाणी ४ विहरइ—आस्वादन करती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी मांस तथा मदिरा मे आसक्त रहने लगी। शूलक, तले हुए, भुने हुए तथा अन्य प्रकार के मांसो के साथ सुरा, सीधु मेरक, मधु मद्य तथा अन्य प्रकार की मदिराओ का सेवन करने लगी।

राजगृह में अमारि की घोषणा—

मूलम्—तए ण रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था॥ २३७॥

छाया—तत खलु राजगृहे नगरे अन्यदा कदाचित् अमाघात (अमारि) घुष्टश्चाप्यासीत्।

शब्दार्थ—तए ण रायगिहे नयरे—तदनन्तर राजगृह नगर म अन्नया कयाइ—एक दिन अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था—अमारि अर्थात् किसी जीव को न मारने की घोषणा हुई।

भावार्थ—एक दिन राजगृह नगर म अमारि अर्थात् हिंसा न करने की घोषणा हुई।

रेवती द्वारा खाने के लिए पीहर से बछड़े मंगवाना—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी मस-लोलुया मसेसु मुच्छिया ४ कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एव वयासी—"तुब्भे, देवाणुप्पिया! मम कोल घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लि दुवे दुवे गोणपोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता मम उवणेह"॥ २३८॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता ४ कौलगृहिकान् पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा एवमवादीत—"यूयं देवानुप्रिया ! मम कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ-द्वौ गोपोतकावुपद्रवत, उपद्रुत्य ममोपनयत ।"

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—इस पर उस रेवती गाथापत्नी ने मंस-लोलुया—मांस लोलुप मंसेसु मुच्छिया—तथा मांस में मूर्च्छित होकर कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ—अपने पितृ-गृह के पुरुषों को बुलाया सद्दावित्ता—बुलाकर एवं—वयासी—इस प्रकार कहा तुब्भे देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिया ! तुम मम कोलघरिएहितो वएहितो—मेरे पीहर के व्रजों में से कल्लाकल्लिं दुवे दुवे—प्रतिदिन दो गोण पोयए उद्दवेह—बछड़े मारा करो उद्दवित्ता मम उवणेह—मार कर मेरे पास लाया करो ।

भावार्थ—मांस लोलुप रेवती ने पितृगृह के पुरुषों को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रियो ! तुम प्रतिदिन मेरे पीहर के व्रजों में से दो बछड़े मार कर लाया करो।

मूलम्—तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिएहिंतो वएहिंतो कल्ला-कल्लिं दुवे-दुवे गोण-पोयए वहेंति, वहित्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति ॥ २३९ ॥

छाया—ततः खलु ते कौलगृहिकाः पुरुषा रेवत्या गाथापत्न्या 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य रेवत्या गाथापत्न्याः कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ-द्वौ गोपोतकौ घ्नन्ति, हत्वा रेवत्यै गाथापत्न्यै उपनयन्ति ।

शब्दार्थ—तए णं ते कोलघरिया पुरिसा—इस पर पीहर के पुरुषों ने रेवईए—रेवती गाहावइणीए तहत्ति एयमट्ठं—गाथापत्नी की इस बात को 'ठीक है' इस प्रकार विणएणं पडिसुणंति—विनयपूर्वक स्वीकार किया पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के कोलघरिएहिंतो वएहिंतो—पीहर के गो व्रजों में से कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन दुवे-दुवे गोणपोयए वहेंति—दो बछड़े मारने

लगे, वहित्ता—मारकर के रेवईए गाहावईणीए उवणेंति—रेवती गाथापत्नी को पहुँचाने लगे।

भावार्थ—दास पुरुषों ने रेवती के इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रतिदिन दो बछड़ों को मार कर लाने लगे।

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं मसेहिं सोल्लेहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ॥ २४०॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी तैर्गोमांसैः शूल्यकैश्च ४ सुराञ्च ६ आस्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी तेहिं गोणमसेहिं सोल्लेहि य ४—उन गोमांसों के शूलकों में सुरं च ६—तथा मदिरा आदि में आसक्त होकर आसाएमाणी ४ विहरइ—उनका स्वाद लेती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी उन (बछड़ों के) मांस को शूलक आदि के रूप में खाने और मदिरापान में आसक्त रहने लगी।

महाशतक का पौषधशाला में धर्माराधन—

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ, जाव पोसह सालाए धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ॥ २४१॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ताः। एवं तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति यावत्पौषधशालायां धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक के बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार से व्रत नियमों से

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता ४ कौल-गृहिकान् पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"यूयं देवानुप्रियाः ! मम कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ द्वौ गोपोतकावुपद्रवत, उपद्रुत्य ममोपनयत।"

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—इस पर उस रेवती गाथापत्नी ने मंस लोलुया—मांस लोलुप मंसेसु मुच्छिया—तथा मांस में मूर्च्छित होकर कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ—अपने पितृ-गृह के पुरुषों को बुलाया सद्दावित्ता—बुलाकर एवं—वयासी—इस प्रकार कहा तुब्भे देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रियो ! तुम मम कोलघरिएहिंतो वएहिंतो—मेरे पीहर के व्रजों में से कल्लाकल्लि दुवे दुवे—प्रतिदिन दो गोण-पोयए उद्दवेह—बछडे मारा करो उद्दवित्ता मम उवणेह—मार कर मेरे पास लाया करो।

भावार्थ—मांस लोलुप रेवती ने पितृगृह के पुरुषों को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रियो ! तुम प्रतिदिन मेरे पीहर के व्रजों में से दो बछडे मार कर लाया करो।

मूलम्—तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिए-हिंतो वएहिंतो कल्ला-कल्लिं दुवे-दुवे गोण-पोयए वहेंति, वहित्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति ॥ २३६ ॥

छाया—ततः खलु ते कौलगृहिकाः पुरुषाः रेवत्या गाथापत्न्या 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य रेवत्या गाथापत्न्याः कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ द्वौ गोपोतकौ घ्नन्ति, हत्वा रेवत्यै गाथापत्न्यै उपनयन्ति।

शब्दार्थ—तए णं ते कोलघरिया पुरिसा—इस पर पीहर के पुरुषों ने रेवईए—रेवती गाहावइणीए तहत्ति एयमट्ठं—गाथापत्नी की इस बात को 'ठीक है' इस प्रकार विणएणं पडिसुणंति—विनयपूर्वक स्वीकार किया पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के कोलघरिएहिंतो वएहिंतो—पीहर के गो व्रजों में से कल्ला कल्लिं—प्रतिदिन दुवे दुवे गोणपोयए वहेंति—दो बछडे मारने

लगे, वहित्ता—मारकर के रेवईए गाहावईणीए उवणेंति—रेवती गाथापत्नी को पहुँचाने लगे।

भावार्थ—दास पुरुषों ने रेवती के इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रतिदिन दो बछडो को मार कर लाने लगे।

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी तेहिं मसेहिं सोल्लेहि य ४ सुर च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २४० ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी तैर्गोमासै शूल्यकैश्च ४ सुरञ्च ६ आस्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी तेहिं गोणमसेहिं सोल्लेहि य ४—उन गोमासो के शूलको मे सुर च ६—तथा मदिरा आदि मे आसक्त होकर आसाएमाणी ४ विहरइ—उनका स्वाद लेती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी उन (बछडो के) मास का शूलक आदि के रूप मे खाने और मदिरापान मे आसक्त रहने लगी।

महाशतक का पौषधशाला में धर्माराधन—

मूलम्—तए ण तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस सवच्छरा वइक्कता। एव तहेव जेट्ठ पुत्त ठवेइ, जाव पोसह-सालाए धम्म पण्णत्ति उवसपज्जित्ता ण विहरइ ॥ २४१ ॥

छाया—तत खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभि शील यावद् भावयतश्चतुर्दश सवत्सरा व्युत्क्रान्ता। एव तथैव ज्येष्ठ पुत्र स्थापयति यावत्पौषध शालाया धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए ण तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक के बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के व्रत नियमो से

द्वारा आत्मा का सस्कार करते हुए चोद्दस सवच्छरा वइक्कता—१४ वर्ष व्यतीत हो गए एव तहेव—इस प्रकार आनन्द की भान्ति जेटठ पुत्त ठवेइ—उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार दे दिया जाव—यावत् पोसहसालाए धम्मपण्णत्ति—पौषधशाला मे धर्मप्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ता ण विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक को विविध प्रकार के व्रत नियमो का पालन तथा धर्म द्वारा आत्मा का सस्कार करते हुए १४ वर्ष व्यतीत हो गए। उसने भी आनन्द की भान्ति ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया और स्वय पौषधशाला मे धर्मानुष्ठान करने लगा।

रेवती का कामोन्मत्त होकर पौषधशाला में पहुँचना—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण्णकसी उत्तरिज्जय विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसह-साला जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्माय-जणणाइ सिंगारियाइ इत्थिभावाइ उवदसेमाणी २ महासयय समणोवासय एव वयासी—"हभो महासयया! समणोवासया! धम्म-कामया! पुण्ण कामया! सग्ग-कामया! मोक्ख-कामया! धम्म-कङ्खिया! ४, धम्म-पिवासिया ४, किण्ण तुब्भ, देवाणुप्पिया! धम्मेण वा, पुण्णेण वा, सग्गेण वा, मोक्खेण वा?, जण्ण तुम मए सद्धि उरालाइ जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि?" ॥ २४२ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी मत्ता, लुलिता, विकीर्णकेशी, उत्तरीयक विकर्षन्ती २ यत्रैव पौषधशाला यत्रैव महाशतक श्रमणोपासकस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य मोहोन्मादजननान् शृङ्गारिकान् स्त्री-भावान उपसन्दर्शयन्ती २ महाशतक श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हभो महाशतक! श्रमणोपासक! धर्मकामुक! पुण्यकामुक! स्वर्गकामुक! मोक्षकामुक! धर्मकाक्षित! ४ धर्मपिपासित! ४, कि खलु तव देवानुप्रिय! धर्मेण वा? पुण्येन वा? स्वर्गेण वा? मोक्षेण वा? यत्खलु त्व मया सार्द्धमुदारान् यावद भुञ्जानो नो विहरसि?

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी मत्ता—मांस, सुरा आदि से मत्त बनी हुई लुलिया—लोलुप विइण्णकेसी—बालों को बिखेरे हुए उत्तरिज्जय विकड्ढमाणी २—उत्तरीय को फेंकती हुई काम वासना से पीडित जेणेव पोसहसाला—जहां पौषधशाला थी जेणेव महासयए समणोवासए—जहां श्रमणोपासक महाशतक था तेणेव उवागच्छइ—वहां आई उवागच्छित्ता—आकर मोहुम्माय जणणाइ—मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले सिंगारियाइ—शृङ्गार भरे हाव भाव कटाक्ष आदि इत्थि भावाइ—स्त्री सम्बन्धि चेष्टाओ को उवदसेमाणी २—दिखाती हुई महासयय समणोवासय एव वयासी—इस प्रकार कहने लगी हभो महासयया ! समणोवासया !—हे महाशतक ! श्रमणोपासक ! तुम धम्म कामया !—धर्म की कामना करते हो, पुण्णकामया !—पुण्य की कामना करते हो, सग्गकामया !—स्वर्ग की कामना करते हो, मोक्खकामया !—मोक्ष की कामना करते हो, धम्मकंखिया !—धर्म की आकांक्षा करते हो धम्मपिवासिया !—धर्म के प्यासे हो परन्तु किण्ण तुब्भ देवाणुप्पिया !—किन्तु हे देवानुप्रिय ! धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा—धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा ? जण्ण तुम—जो तुम मए सद्धि—मेरे साथ उरालइ जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि—इच्छापूर्वक भोग भोगना पसन्द नही करते ?

भावार्थ—मांस तथा मदिरा मे आसक्त और कामवासना से उन्मत्त होकर रेवती पौषधशाला मे महाशतक के पास पहुँची। उसके बाल बिखरे हुए थे और साडी नीचे गिर रही थी। वहां पहुँच कर वह हाव भाव तथा शृङ्गारिक चेष्टाएँ करती हुई महाशतक से बोली—'देवानुप्रिय ! तुम मेरे साथ मन माने भोगो का आनन्द ले रहे थे। उन्हे छोडकर यहाँ चले आए और स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना से धर्म और पुण्य का सञ्चय करने लगे। किन्तु स्वर्ग और मोक्ष मे इससे बढकर क्या मिलेगा ? धर्म और पुण्य का इससे बढकर और क्या फल है ?"

महाशतक का उसकी ओर ध्यान न देना—

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठ नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ ॥ २४३ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या एतमर्थं नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी की एयमट्ठ नो आढाइ नो परियाणाइ—इस बात का न तो सत्कार किया और न उस पर ध्यान दिया, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे—परन्तु सत्कार तथा ध्यान के बिना तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ—मौन रहकर धर्मानुष्ठान मे लगा रहा ।

भावार्थ—महाशतक गाथा पति ने रेवती की कुचेष्टाओ और बाता पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रह कर धमध्यान-धर्मानुष्ठान मे लगा रहा ।

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी महासयय समणोवासय दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो" ! त चेव भणइ, सोवि तहेव जाव अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ ॥ २४४ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतक श्रमणोपासक द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत—"हभो" । तथैव भणति । सोऽपि तथैव यावद अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयय समणोवासय—महाशतक श्रमणोपासक के प्रति दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा तृतीय बार भी एव वयासी—इस प्रकार बोली—हभो ! त चेव भणइ—हे महाशतक ! पहले की भाँति कहा सो वि—वह भी तहेव जाव—उसी प्रकार यावत् अणाढाइज्जमाणे अपरियामाणे विहरइ—बिना आदर सत्कार किए ध्यान म स्थिर रहा ।

भावार्थ—तब गाथापत्नी रेवती ने महाशतक श्रावक से दूसरी तथा तीसरी बार भी वही बात कही, किन्तु महाशतक पहले की भाँति ध्यान में स्थिर रहा ।

रेवती का निराश होकर लौटना--

मूलम्---तए ण सा रेवई गाहावइणी महासयएण समणोवासएण अणाढाइज्जमाणी अपरियाणमाणी जामेव दिस पाउब्भूया तामेव दिस पडिगया ॥ २४५ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणा अपरिज्ञायमाना यस्या एव दिश प्रादुर्भू ता तामेव दिश प्रतिगता ।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयएण समणोवासएण–महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा आणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी—अनादरित तथा तिरस्कृत होकर जामेव दिस पाउब्भूया तामेव दिस पडिगया—जिस दिशा से वह आई थी उसी दिशा मे चली गई ।

भावार्थ--रेवती गाथापत्नी तिरस्कृत होकर जहाँ से आई थी उधर ही वापिस चली गई ।

महाशतक द्वारा प्रतिमा ग्रहण---

मूलम्---तए ण से महासयए समणोवासए पढम उवासग-पडिम उवसपज्जित्ता ण विहरइ । पढम अहा-सुत्त जाव एक्कारसऽवि ॥ २४६ ॥

तए ण से महासयए समणोवासए तेण उरालेण जाव किसे धमणिसतए जाए ॥ २४७ ॥

छाया--तत खलु स महाशतक श्रमणोपासक प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसपद्य विहरति, प्रथमा यथासूत्र यावदेकादशापि ।

तत खलु स महाशतक श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यावत्कृशो धमनिगततो जात ।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक पढम उवासगपडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण करके विहरइ—विचरने लगा, पढम अहा-सुत्त जाव एक्कारसऽवि—प्रथम से लेकर यावत् ११ श्रावक प्रतिमाओं को शास्त्रानुसार अङ्गीकार किया।

तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक तेण उरालेण—उस उग्र तपश्चरण के द्वारा जाव—यावत् किसे—कृश होकर धमणिसतए जाए—उसकी नस-नस दिखाई देने लगी।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक महाशतक ने क्रमश पहली से लेकर ग्यारहवीं तक श्रावक की प्रतिमाएँ स्वीकार की और शास्त्रोक्त रीति से आराधना की। उस उग्र तपश्चर्या के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया और उसकी नस नस दिखाई देने लगी।

मूलम्—तए ण तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्म-जागरियं जागरमाणस्स अय अज्झत्थिए ४—"एव खलु अह इमेण उरालेण" जहा आणदो तहेव अपच्छिम मारणतिय-सलेहणाए झूसियसरीरे भत्त-पाण पडियाइक्खिए काल अणवकखमाणे विहरइ ॥ २४८ ॥

छाया—तत खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्यदाकदाचित्पूर्वरात्रापररात्रकाले धर्म-जागरिका जाग्रतोऽयमाध्यात्मिक ४—"एव खलु अहमनेनोदारेण" यथाऽऽनन्दस्तथैवापश्चिममारणान्तिकसलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यात कालमनवकाक्षन् विहरति।

शब्दार्थ—तए ण तस्स महासययस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को अन्नया कयाइ—एक दिन पुव्वरत्तावरत्तकाले—अर्धरात्री के समय धम्म-जागरिय जागरमाणस्स—धर्म जागरणा करते हुए अय अज्झत्थिए ४—यह विचार उत्पन्न हुआ एव खलु अह—इस प्रकार मैं इमेण उरालेण—इस उग्रतपश्चर्या

के कारण अति कृस हो गया हूँ यावत् जहा आणदो—जिस प्रकार आनन्द श्रमणोपासक ने किया था, तहेव—उसी प्रकार अपच्छिममारणतिय सलेहणाए झूसियसरीरे—इसने भी अंतिम मारणान्तिक सलेखना के द्वारा शरीर का परित्याग करके भत्त-पाणपडियाइक्खिए—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके काल अणवकखमाणे विहरइ—मृत्यु की आकाक्षा से रहित होकर विचरने लगा ।

भावार्थ—एक दिन अर्धरात्रि के समय धर्म जागरण करते हुए उसके मन में विचार आया कि इस उग्र तपश्चरण के कारण मैं कृश हो गया हूँ । नसे दिखाई देने लगी हैं । अब यही उचित है कि अंतिम मारणान्तिक सलेखना अङ्गीकार कर लूँ और शुभ विचारो के साथ शरीर का परित्याग करूँ । यह विचार करके महा-शतक ने भी आनन्द के समान अंतिम सलेखना व्रत ले लिया और जीवन तथा मृत्यु दोनो की आकाक्षा से रहित होकर आत्म चिन्तन में लीन रहने लगा ।

महाशतक को अवधिज्ञान—

मूलम्——तए ण तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेण अज्झवसाणेण जाव खओवसमेण ओहिणाणे समुप्पन्ने——पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे जोयण-साहस्सिय खेत्त जाणइ पासइ, एव दक्खिणेण, पच्चत्थिमेण, उत्तरेण जाव चुल्ल-हिमवत वासहर-पव्वय जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुय नरय चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइय जाणइ पासइ ।। २४९ ।।

छाया—तत खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य शुभेनाऽध्यवसायेन यावत क्षयोपशमेनावधिज्ञान समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे योजनसाहस्रिक क्षेत्र जानाति पश्यति, एव दाक्षिणात्ये खलु, पाश्चात्ये खलु, औत्तरे खलु यावत्क्षुद्र-हिमवन्त वर्षधर पर्वत जानाति पश्यति,-अधोऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या लोलपा-च्युत नरक चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिक जानाति पश्यति ।

शब्दार्थ—तए ण तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को सुभेण अज्झवसाणेण—शुभ परिणामो के उत्पन्न होने पर जाव—

यावत खम्रोवसमेण—अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर ओहिणाणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे—पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर जोयणसाहस्सिय खेत्त जाणइ पासइ—वह एक हजार योजन क्षेत्र को जानने और देखने लगा एव दक्खिणेण—इसी प्रकार दक्षिण दिशा मे पच्चत्थिमेण—तथा पश्चिम दिशा मे एक हजार योजन क्षेत्र को जानने देखने लगा उत्तरेण जाव—उत्तर दिशा मे यावत् चुल्लहिमवत वासहर पव्वय जाणइ पासइ—चुल्लहिमवत वर्षधर पर्वत तक जानने तथा देखने लगा, अहे—नीचे दिशा मे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्चुय नरय—लोलुपाच्युत नरकावास को चउरासीइवाससहस्स-ट्ठिइय—जहाँ ८४ हजार वर्ष की आयु मर्यादा है जाणइ पासइ—जानने देखने लगा।

भावार्थ—शुभ अध्यवसायो के कारण उसकी आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती गई और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणाम स्वरूप वह पूर्व दिशा मे लवण समुद्र के अन्दर एक एक हज़ार योजन तक जानने देखने लगा। इसी प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम दिशा मे भी एक एक हज़ार योजन तक जानने और देखने लगा, तथा उत्तर दिशा मे चुल्लहिमवान् पर्वत तक देखने लगा। अधोदिशा मे रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्दर लोलुपाच्युत नरक तक देखने लगा। जहाँ जीवो की चौरासी हज़ार वर्ष की आयु है।

रेवती का पुन आगमन और उपद्रव करना—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ मत्ता जाव उत्तरिज्जय विकड्ढेमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासयय तहेव भणइ, जाव दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो!" तहेव ॥ २५० ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्यदा कदाचिन्मत्ता यावदुत्तरीयक विकर्षयन्ती २ यत्रैव महाशतक श्रमणोपासको यत्रैव पौषधशाला तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य महाशतक तथैव भणति यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् "हभो"! तथैव।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अन्नया कयाइ—एक दिन मत्ता—मतवाली होकर जाव—यावत् उत्तरिज्जय विकड्ढेमाणी २—उत्तरीय वस्त्र को गिराती हुई जेणेव महासयए समणोवासए—जहा महाशतक श्रमणोपासक था, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ—जहाँ पौषधशाला थी वहाँ आई, उवागच्छित्ता—आकर महासयय तहेव भणइ—महाशतक श्रमणोपासक को उसी प्रकार कहने लगी जाव—यावत दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय और तृतीय वार एव वयासी—इस प्रकार बोली हभो ! तहेव—हे महाशतक ! तथैव पहले की तरह कहा ।

भावार्थ—फिर एक दिन रेवती गाथापत्नी उन्मत्त होकर ओढने को नीचे गिराती हुई, महाशतक श्रावक के पास आई और दूसरी तथा तीसरी वार उसी प्रकार बोली ।

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउजइ, पउजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइ गाहावइणि एव वयासी—"हभो रेवई ! अपत्थिय-पत्थिए ४ एव खलु तुम अतो सत्त रत्तस्स अलसएण वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे काल किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ वास सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि" ॥ २५१ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्त सन् आशुरुप्त ४ अवधि प्रयु क्ते प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवती गाथापत्नीमेवमवादीत्—"हभो रेवति ! अप्रार्थित प्रार्थिके ! ४—एव खलु त्वमन्त सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूतासती आर्त्तदु खार्त्त-वशार्त्ता असमाधिप्राप्ता कालमासे काल कृत्वाऽधोऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या—लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यसे ।"

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे—

द्वारा दूसरी और तीसरी बार भी इस प्रकार कहने पर आसुरत्ते ४—यावत क्रुध हो गया ओहिं पउजइ—तब उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया पउजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान के द्वारा देखा आभोइत्ता—देख करके रेवइ गाहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को इस प्रकार कहा हभो रेवई!—हे रेवति! अपत्थिय पत्थिए ४!—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाली एव खलु—इस प्रकार तुम—तू अतो सत्तरत्तस्स—सात रात्रि के अन्दर अलसएण वाहिणा अभिभूया—अलसक नामक व्याधि से पीडित हो कर अट्ट दुहट्ट-वसट्टा—चिन्तित, दुखी तथा विवश हो कर असमाहिपत्ता—असमाधि (कष्ट-रोग) को प्राप्त हो कर कालमासे काल किच्चा—समय आने पर मर कर अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे लोलुयच्चुए नरए—लोलुपाच्युत नरक म चउरासीइ वास-सहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि—चौरासी हजार-वर्ष की स्थिति वाले नारकियो मे नारकी के रूप मे उत्पन्न होगी।

भावार्थ—उसने अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगाकर देखा और कहा "तू सात दिन के अन्दर अलस रोग से पीडित हो कर कष्ट भोगती हुई मर जायेगी और लोलुपाच्युत नरक म उत्पन्न होगी!" वहाँ ८४ हजार वर्ष की आयु प्राप्त करेगी।

रेवती का भयभीत होकर लौटना—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी महासएण समणोवासएण एव वुत्ता समाणी एव वयासी—"रुट्ठे ण मम महासयए समणोवासए, हीणे ण मम महासयए समणोवासए, अवज्झाया ण अह महासयएण समणोवासएण, न नज्जइ ण, अह केणवि कुमारेण मारिज्जिस्सामि" त्ति कट्टु भीया तत्था तसिया उव्विग्गा सजायभया सणिय २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय जाव झियाइ ॥ २५० ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनैवमुक्ता सत्येवमवादीत्—"रुष्ट खलु मम महाशतक श्रमणोपासक, हीन खलु मम महाशतक श्रमणोपासक, अपध्यातास्म्यह महाशतकेन श्रमणोपासकेन न ज्ञायते खल्वह केनापि

कुमारेण मारयिष्ये" इति कृत्वा भीता, त्रस्ता, (नष्टा) उद्विग्ना सञ्जातभया शनैं शनैं प्रत्यवष्वष्कति प्रत्यवष्वष्कवय येनैव स्वकं गृहं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य, अवहत यावद्-ध्यायति ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार कही जाने पर एवं वयासी—बोली—रुट्ठेणं मम महासयए समणोवासए—मुझ पर महाशतक श्रमणोपासक रुष्ट हो गया है हीणे णं मम महासयए—महाशतक मेरे प्रति हीन अर्थात् दुर्भावना वाला हो गया है अवज्झायाणं अहं महासयएणं समणोवासएणं—महाशतक मेरा बुरा चाहता है न नज्जइ णं अहं—मैं नहीं जानती केणवि कुमारेणं-मारिज्जिस्सामि—कि मैं किस मौत से मारी जाऊँगी (ऐसा विचार करके) भीया—भयभीत हुई तत्था—त्रसित हो कर तसिया—डर गई उव्विग्गा—उद्विग्न हो उठी सजायभया—भय के कारण सणियं २ पच्चोसक्कइ—शनैः २ वापिस लौटी पच्चोसक्कित्ता—लौट कर वहाँ से निकल कर जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ—जहाँ अपना घर था, वहाँ पर आई उवागच्छित्ता—आ कर ओहय जाव झियाइ—उदास हो कर चिंता में डूब गई ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी महाशतक द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सोचने लगी—"महाशतक मेरे से रुष्ट होगया है, मेरे प्रति बुरे विचार ला रहा है । न मालूम मैं किस मौत से मारी जाऊँगी । यह विचार कर डर के कारण वहाँ से चली गई और अपने घर जा पहुँची ।

रेवती का मरकर नरक में उत्पन्न होना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना ॥ २५३ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्तः सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूताऽऽर्तदु खार्तवशार्त्ता कालमासे काल कृत्वाऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्ना।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अतो सत्तरत्तस्स—सात रात्री के अन्दर ही अलसएण वाहिणा—अलसक व्याधि से अभिभूया—पीडित होकर अट्ट-दुहट्ट वसट्टा—चिन्तित, दुखी तथा विवश होकर कालमासे काल किच्चा—काल मास मे काल कर इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे लोलुयच्चुए—लोलुपाच्युत नरए—नरक मे चउरासीइवाससहस्सट्ठिइएसु—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नेरइएसु—नारकियो मे नेरइयत्ताए उववन्ना—नारकी के रूप मे उत्पन्न हुई।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी सात दिनो के अदर अलस नामक रोग से पीडित हो कर चिंतित दुखी तथा विवश होती हुई मर गई और लोलुपाच्युत नरक में उत्पन्न हुई जहाँ ८४ हजार वर्षो की आयु प्राप्त हुई।

टीका—अलसएण—महाशतक ने क्रुध हो कर रेवती से कहा—तू अलसक रोग से पीडित हो कर सात दिन मे मर जायेगी। टीकाकार ने अलसक रोग का अर्थ विशूचिका (पेट का दर्द) किया है और इस विषय मे एक श्लोक उद्धृत किया है—

"नोर्ध्वं व्रजति नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक स्मृत ॥"

अर्थात् जब आहार न तो ऊपर की ओर जाता है, न नीचे की ओर और न पचता है, आमाशय मे गाँठ की तरह जम जाता है, उसे अलसक रोग कहते हैं। इस से ज्ञात होता है कि अलसक मन्दाग्नि का उत्कट रूप है। हाथ पैरो की सूजन को भी अलसक कहते हैं। इसी प्रकार हाथ पैरों के स्तम्भन अर्थात उनकी हलचल रुक जाने को अलसक कहा जाता है।

चुलनीपिता तथा सुरादेव के वर्णन मे आया है—कि पुत्र या पति के अस्थिर होने पर माता या पत्नी ने उन्हे धर्म मे स्थिर किया। महाशतक का उदाहरण इसके विपरीत है। यहा पति धर्म में स्थिर है और पत्नी उसे विचलित करना

चाहती है। पत्नी या परिवार की इस अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को प्रदर्शित करने के लिए स्थानाङ्ग सूत्र मे एक रूपक दिया है—

१ साल का वृक्ष साल का परिवार।

२ साल का वृक्ष एरण्ड का परिवार।

३ एरण्ड वृक्ष साल का परिवार।

४ एरण्ड वृक्ष का एरण्ड परिवार।

इसी प्रकार गृहस्थ तथा उसके परिवार का सम्बन्ध भी चार प्रकार का है--

१ स्वय श्रेष्ठ और परिवार भी श्रेष्ठ।

२ स्वय श्रेष्ठ और परिवार निकृष्ट।

३ स्वय निकृष्ट और परिवार श्रेष्ठ।

४ स्वय निकृष्ट और परिवार भी निकृष्ट।

स्वय धर्म मे स्थिर होने पर भी रेवती के कारण महाशतक को क्रोध आ गया। उत्तराध्ययन सूत्र मे इसी प्रकार गुरु और शिष्य को प्रकट किया गया है—

अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चडपकरति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयपि॥

अर्थात् अविनीत, कठोर बोलने वाले तथा दुराचारी शिष्य कोमल हृदय गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं, और गुरु के मन को पहचानने वाले चतुर तथा सुशील शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

भगवान् का आगमन—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे समोसरण जाव परिसा पडिगया॥ २५४॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर समवसरण यावत्परिषत् प्रतिगता।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर आए समोसरण—समवसरण रचा गया जाव परिसा पडिगया—यावत् परिषद् वापिस चली गई।

भावार्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान समवसृत हुए। परिषद् आई और धर्मोपदेश सुन कर चली गई।

महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेज कर उसका दोष बताना—

मूलम्—"गोयमा!" इ समणे भगव महावीरे एव वयासी—"एव खलु गोयमा! इहेव रायगिहे नयरे मम अंतेवासी महासयए नाम समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम-मारणतिय-सलेहणाए झूसिय-सरीरे भत्त-पाणपडियाइक्खिए काल अणवकखमाणे विहरइ ॥ २५५ ॥

छाया—"गौतम!" इति श्रमणो भगवान् महावीर एवमवादीत—"एव खलु गौतम! इहैव राजगृहे नगरे ममान्तेवासी महाशतको नाम श्रमणोपासक पौषधशालायामपश्चिममारणान्तिकसलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यात कालमनवकाङ्क्षमाणो विहरति।"

शब्दार्थ—गोयमा इ—हे गौतम! इस प्रकार समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर एव वयासी—बोले—एव खलु गोयमा—इस प्रकार हे गौतम! इहेव रायगिहे नयरे—इसी राजगृह नगर मे मम अंतेवासी—मेरा अन्तवासी महासयए नाम समणोवासए—महाशतक नाम का श्रमणोपासक पोसहसालाए—पौषधशाला मे अपच्छिममारणतिय सलेहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना द्वारा झूसियसरीरे—जोषित शरीर होकर भत्तपाणपडियाइक्खिए—भक्त पान का प्रत्याख्यान (त्याग करके) काल अणवकखमाणे—मृत्यु को न चाहता हुआ विहरइ—विचरता है।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—"इसी राजगृह नगर मे मेरा शिष्य महाशतक श्रावक पौषधशाला मे सलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करके मृत्यु की कामना न करते हुए विचर रहा है।"

मूलम्——तए ण तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव एव वयासी——तहेव जाव दोच्चपि तच्चपि एव वयासी ॥ २५६ ॥

छाया——तत खलु तस्य महाशतकस्य रेवती गाथापत्नी मत्ता यावद् विकर्षयन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकस्तेनैवोपगता, मोहोन्माद—यावद् एवमवादीत—तथैव यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् ।

शब्दार्थ—तए ण—एक दिन तस्स महासयगस्स—उस महाशतक की रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २—उन्मत्त होकर उत्तरीय को गिराती हुई जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया—जहां पौषधशाला और महाशतक श्रावक था, वहा आई मोहुम्माय जाव एव वयासी—यावत् मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाली बात कहने लगी तहेव—उसी प्रकार दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—दूसरी और तीसरी बार भी वही बात कही।

भावार्थ—उसका महाशतक की पत्नी उन्मत्त होकर कपड़ा गिराती हुई वहां आई और महाशतक के सामने शृगार भरी चेष्टाएँ तथा बात करने लगी। उसके दो तीन बार ऐसा कहने पर महाशतक को क्रोध आ गया।

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउजइ, पउजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइ गाहावइणि एव वयासी——जाव उववज्जिहिसि, "नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव झूसियसरीरस्स भत्त पाणपडियाइक्खियस्स परो सतेहि तच्चेहि तहिएहि सब्भूएहि अणिट्ठेहि अकतेहि अप्पिएहि अमणुण्णेहि अमणामेहि वागरणेहि वागरित्तए।" "त गच्छ ण, देवाणुप्पिया ! तुम महासयय समणोवासय एव वयाहि——"नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव भत्तपाण पडियाइक्खियस्स परो सतेहि जाव वागरित्तए। तुमे य ण

देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी सतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया। त ण तुम एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव जहारिहं च पायच्छित्त पडिवज्जाहि" ॥ २५७ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्त सन् आशुरुप्त ४ अवधि प्रयुनक्ति, प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं गाथापत्नीमेवमवादीत्—यावदुत्पत्स्यसे ! नो खलु कल्पते गौतम ! श्रमणोपासकस्याऽपश्चिमयावज्जोषितशरीरस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य पर सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यैं सद्भूतैरनिष्टैरकान्तैरप्रियैरमनोज्ञैरमनआपैर्व्याकरणैर्व्याकर्त्तुं म" तद् गच्छ खलु देवानुप्रिय ! त्व महाशतक श्रमणोपासकमेव वद—"नो खलु देवानुप्रिय ! कल्पते श्रमणोपासकस्यापश्चिमयावद् भक्तपानप्रत्याख्यातस्य पर सद्भिर्यावद् व्याकर्त्तुं म।" त्वया च खलु देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी ४ अनिष्टै, ५ व्याकरणैर्व्याकृता, तत खलु त्वमिद स्थानमालोचय यावद्यथार्हं च प्रायश्चित्त प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए ण से महासयएसमणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी द्वारा दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे—दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कह जाने पर आसुरत्ते ओहिं पउजइ—क्रुद्ध हो गया और अवधिज्ञान का प्रयोग किया पउजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान द्वारा देखा आभोइत्ता—देखकर वे रेवइ गाहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को ऐसा कहने लगा। जाव उववज्जिहिसि—यावत् तू (नरक में) उत्पन्न होगी, नो खलु कप्पइ गोयमा !—हे गौतम ! नहीं कल्पता समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को अपच्छिम जाव झूसिय सरीरस्स—जिसने अंतिम सलेखना ले रखी है और भत्तपाणपडियाइक्खियस्स—आहार पानी का त्याग कर रखा है ऐसे—इसे व्यक्ति के प्रति सतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं—सत्य, तत्त्व, तथ्य तथा सद्भूत होने पर भी अणिट्ठेहिं अकतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहि वागरित्तए—अनिष्ट, अकान्त (अप्रिय) अमनोज्ञ मन को अच्छा न लगने वाले अमनाम विचार करने पर भी दु खदायी वचन बोलना। त गच्छण देवाणुप्पिया !—

इसलिए हे देवानुप्रिय ! जाओ तुम महासयय समणोवासय एव वयाहि—तुम श्रमणोपासक महाशतक से ऐसा कहो—नो खलु देवाणुप्पिया ! नो कप्पइ समणोवासगस्स—हे देवानुप्रिय ! श्रमणोपासक को नही कल्पता अपच्छिम जाव भत्तपाण—पडियाइक्खियस्स—जिसने अंतिम सलेखना यावत् आहार पानी का त्याग कर रखा है परो सतेहि जाव वागरित्तए—दूसरे व्यक्ति के प्रति सत्य होने भी अनिष्ट यावत् वचन बोलना। तुमे य ण देवाणुप्पिया !—और तुमने हे देवानुप्रिय ! रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी को सतेहि ४ अणिट्ठेहि ५ वागरणेहि वागरिया—सत्य होने पर भी अनिष्ट बात कही त ण तुम—इसलिए तुम एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस भूल के लिए आलोचना करो जाव—यावत जहारिह च पायच्छित्त पडिवज्जाहि—यथायोग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—रेवती द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहने पर महाशतक क्रुध हो गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग करके रेवती का भविष्य देखा और उसने नरक मे उत्पन्न होने की बात कही। हे देवानुप्रिय ! मारणान्तिक सलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करने वाले श्रमणोपासक को सत्य तथ्य, तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए जो अनिष्ट अप्रिय तथा अमनोज्ञ हो। जिनके सत्य होने पर भी दूसरे को कष्ट हो। अत तुम जाओ और महाशतक से इस बात के लिए आलोचना एव प्रायश्चित्त के लिए कहो।

टीका—प्रथम अध्ययन मे भी भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को श्रावक आनन्द के पास भेजा था। उस समय गौतम स्वामी की अपनी भूल थी और उन्हे आनन्द से क्षमायाचना के लिए भेजा गया था। उन्होने आनन्द से कहा था कि श्रावक को इतना विशाल अवधिज्ञान नही हो सकता। अत असत्य भाषण के लिए आलोचना करो। महावीर के पास पहुँचने पर उन्हे अपनी भूल का पता लगा और भगवान् के आदेशानुसार वे क्षमा प्रार्थना करने के लिए गये। महाशतक सच्चा होने पर भी दोषी था क्योकि उसने ऐसी बात कही थी जो दूसरे को कष्ट देने वाली थी। जीवन के अन्तिम अर्थात् सलेखना व्रत की आराधना करते समय श्रावक को कटु वचन नही बोलने चाहिएँ। भगवान् ने इस भूल की शुद्धि के लिए महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेजा और कहलाया कि बात कितनी ही सत्य,

तथ्य या यथार्थ हो फिर भी यदि दूसरे को कष्ट देने वाली हो, अप्रिय है तो उसे नहीं कहना चाहिए। सूत्रकार ने यहां इस प्रकार के कथन के लिए कई विशेषण दिये हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे टीकाकार के शब्दों के साथ उनकी व्याख्या दी जायेगी।

सतेहि—सद्भिर्विद्यमानार्थैः—सत् का अर्थ है वे—वचन जिनमें कही गई बात विद्यमान हो।

तच्चेहिं—तथ्यैस्तत्त्वरूपैर्वाऽनुपचारिकैः—तच्चेहिं का अर्थ है तत्त्व या तथ्य अर्थात् जिनका प्रयोग उपचार या गौण रूप में नहीं हुआ है। हम अपने भाषण में बहुत से शब्दों का प्रयोग गौण रूप में करते हैं। उदाहरण के रूप में पराक्रमी पुरुष को सिंह कहा है क्योंकि उसमें सिंह के समान शौर्य तथा पराक्रम आदि गुण विद्यमान हैं। इसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति को आग कहा जाता है। तेजस्वी को सूर्य कहते हैं। इसका दूसरा प्रयोग उपचार के रूप में होता है। टांगे वाले को ओ टांगे! कहकर पुकारना। तत्त्व वचन उसको कहते हैं जहां गौण या औपचारिक प्रयोग नहीं है अपितु शब्द अपने असली अर्थ को लिए हुए हैं।

तहिएहिं—तमेवोक्त प्रकारमापन्नैः मात्रयापि न्यूनाधिकैः—अर्थात् जैसे कह गये हैं ठीक वैसे ही, जहां तनिक भी अतिशयोक्ति या न्यूनोक्ति नहीं है अर्थात् बात जितनी है उतनी ही कही गई है। उसमें न कुछ बढ़ाया गया है न कुछ घटाया गया।

अनिष्टैः—अवाञ्छितैः—अनिष्ट अर्थात् अवाञ्छित जिन्हें कोई न चाहता हो।

अकान्तैः—स्वरूपेणाकमनीयैः—जो सुन्दर न लगे अर्थात् भद्दे हों। अनिष्ट का अर्थ है जिन्हें सामने वाला न सुनना चाहता हो और अकान्त का अर्थ है जो प्रत्येक सुनने वाले को बुरे या भद्दे लगें। अनिष्टता सुनने वाले की अपेक्षा से है और अकान्त सर्वसाधारण की दृष्टि से।

अप्रियैः—अप्रीतिकारकैः—अप्रिय अर्थात् जिन्हें सुनकर मन में अप्रसन्नता या दुःख हो, यह भी सर्वसाधारण की दृष्टि से है।

अमनोज्ञ—मनसा न ज्ञायन्ते नाभिलष्यन्ते वक्तुमपि यानि तैः—अमनोज्ञ अर्थात् जिन्हें मन बोलना नहीं चाहता।

अमन आर्पं —न मनसा आप्यन्ते प्राप्यन्ते चिन्तयाऽपि यानि तैं वचने चिन्तने च येषा मनो नोत्सहत इत्यथ —अर्थात् मन जिन्हे सोचना, विचारना भी नही चाहता।

मूल पाठ मे 'अमनामेहिं' शब्द आया है। किन्तु टीकाकार ने 'अमनआर्पं' दिया है दोनो का अभिप्राय एक ही है।

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिह नयर मज्झ-मज्झेण अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २५८ ॥

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमथ विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तत प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृह नगर मध्यमध्येनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य येनैव महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य गृह येनैव महाशतक श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—तए ण से भगव गोयमे—तदनन्तर श्री भगवान् गौतम ने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर की एयमट्ठ—इस बात को तहत्ति—यही ठीक है कहकर विणएण पडिसुणेइ—विनय पूवक स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के तओ पडिणिक्खमइ—वहा से निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर रायगिह नयर मज्झ मज्झेण—राजगृह नगर के बीच में अणुप्पविसइ—प्रवेश किया अणुप्पविसित्ता—प्रवेश कर के जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे—जहां महाशतक श्रमणोपासक का घर था जेणेव महासयए समणोवासए—जहां महाशतक श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहां आये।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के कथन को 'ठीक है' यह कह विनयपूवक स्वीकार किया। वे वहां से चले और राजगृह नगर में महाशतक के घर पहुँचे।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ ॥ २५९ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको भगवन्तं गौतममायान्तं पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टयावद् हृदयो भगवन्तं गौतमं वन्दते नमस्यति।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर महाशतक श्रमणोपासक ने भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ—भगवान् गौतम को आते हुए देखा पासित्ता—देख कर हट्ठ जाव हियए—हृदय में हृष्ट-तुष्ट होकर भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया।

भावार्थ—महाशतक भगवान् गौतम को आते देख कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। और उन्हें वन्दना नमस्कार किया।

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ, भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ"—"नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव वागरित्तए। "तुमे णं देवाणुप्पिया! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव वागरिआ," तं णं तुमं देवाणुप्पिया! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ २६० ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतकमेवमवादीत्—"एवं खलु देवानुप्रिय! श्रमणो भगवान् महावीर एवमाख्याति, भाषते, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति—"नो खलु कल्पते देवानुप्रिय! श्रमणोपासकस्यापश्चिम यावद् व्याकर्त्तुम्, त्वया खलु देवानुप्रिय! रेवती गाथापत्नी सद्भिर्यावद् व्याकृता" तत्त्वं खलु त्वं देवानुप्रिय! एतस्य स्थानस्याऽऽलोचय यावत् प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—तदनन्तर भगवान् गौतम महासययं समणोवासयं एवं वयासी—महाशतक श्रमणोपासक से इस प्रकार बोले एवं खलु देवाणु

प्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने एवमाइक्खइ—ऐसा कहा है, भासइ—भाषण किया है, पण्णवेइ—प्रतिपादन किया है, परूवेइ—प्ररूपित किया है, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया !—कि हे देवानुप्रिय ! नही कल्पता समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को अपच्छिम जाव वागरित्तए—अतिम सलेखना धारी को यावत् ऐसा कहना, तुमेण—तुमने देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी को सतेहि जाव वागरिआ—तथ्यरूप वचन कहे त ण तुम देवाणुप्पिया !—अत हे देवानुप्रिय ! तुम एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस स्थान की आलोचना करो जाव पडिवज्जाहि—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—भगवान गौतम ने महाशतक श्रमणोपासक से कहा—'देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह कथन है—कि सलेखनाधारी श्रावक को ऐसा कहना नही कल्पता। तुमने अपनी पत्नी रेवती को ऐसा कहा है। अत इस दोष की आलोचना करो यावत् यथा-योग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

महाशतक की भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त लेना—

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स 'तह' त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव अहारिह च पायच्छित्त पडिवज्जइ ॥ २६१ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको भगवतो गौतमस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रृणोति, प्रतिश्रुत्य तत् स्थानमालोचयति, यावद् यथार्हं च प्रायश्चित्त प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदन तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम की एयमट्ठ—इस बात को तहत्ति—तथेति (ठीक है) कह कर विणएण पडिसुणेइ—विनय पूर्वक स्वीकार किया पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके तस्स ठाणस्स आलोएइ—उस बात की आलोचना की जाव—यावत् अहारिह च—यथा योग्य पायच्छित्त पडिवज्जइ—प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—महाशतक ने भगवान् गौतम की इस बात को विनय पूर्वक 'तथेति' कह कर स्वीकार किया और अपने दोष के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त किया।

गौतम स्वामी का वापिस आना—

मूलम्—तए ण से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ २६२ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्तिकात्प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण से भगवं गोयमे—उसके पश्चात् भगवान् गौतम महासयगस्स समणोवासयस्स—महाशतक श्रमणोपासक के अतियाओ—समीप से पडिणिक्खमइ—निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ—राजगृह नगरी के बीच में से होते हुए जेणेव—जहाँ पर समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ—श्रमण भगवान् महावीर थे वहाँ आये उवागच्छित्ता—आकर समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके संजमेण तवसा—संयम और तप के द्वारा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा का विकास करते हुए विचरने लगे।

भावार्थ—भगवान् गौतम महाशतक श्रावक के पास से लौटे और राजगृह नगर के बीच होते हुए भगवान् महावीर के पास आए। उन्हें वन्दना नमस्कार किया और संयम तथा तप द्वारा आत्मविकास करते हुए विचरने लगे।

भगवान् महावीर का विहार—

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहार-विहरइ ॥ २६३ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान महावीरोऽयदा कदाचित राजगृहान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण समणे भगव महावीरे—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन रायगिहाओ नयराओ—राजगृह नगरी से पडिणिक्खमइ—निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर बहिया जणवय विहार विहरइ—अन्य जनपदो में विचरने लगे ।

भावार्थ—कुछ समय पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर से विहार करके अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

महाशतक के जीवन का उपसहार—

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए बहूहि सील जाव भावेत्ता वीस वासाइ समणोवासग परियाय पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्म काएण फासित्ता, मासियाए सलेहणाए अप्पाण झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए-पडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइ ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ २६४ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण महासययमज्झयण समत्त ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको बहुभि शील यावद् भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याय पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमा सम्यक् कायेन

स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा, षष्टिं भक्तान्यनशनेन छित्वा आलोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पेऽरुणावतंसके विमाने देवतयोपपन्नः । चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने बहूहिं सील जाव भावेत्ता—अनेक प्रकार से शील व्रत आदि का यावत् पालन किया, इस प्रकार वीसं वासाइं—२० वर्ष तक समणोवासग-परियायं पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया एक्कारस पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता—एकादश उपासक प्रतिमाएँ शरीर द्वारा सम्यक् रूप से ग्रहण कीं मासियाए संलेहणाए—एक मास की संलेखना द्वारा अप्पाणं झूसित्ता—अपने आपको आराधित करके सट्ठिं भत्ताइं—साठ भक्तों से अणसणाए छेदेत्ता—अन्न पानी के अनशन को पूरा करके आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते—आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा समाधि प्राप्त करके कालमासे कालं किच्चा—समय पूरा होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प अरुणवडिंसए विमाणे—अरुणावतंसक विमान में देवत्ताए उववन्ने—देव रूप में उत्पन्न हुआ, चत्तारि पलिओमाइं ठिई—और चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत् महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा । निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत् है ।

भावार्थ—महाशतक श्रावक अनेक प्रकार से शील एवं व्रतों द्वारा आत्मविकास करने लगा । कुल २० वर्ष तक श्रावक पर्याय पालन की । ग्यारह प्रतिमाओं का अङ्गीकार किया । एक महीने की संलेखना द्वारा आत्मा को पवित्र करके साठ भक्तों का अनशन किया । आलोचना प्रतिक्रमण तथा समाधि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया । इस प्रकार धर्मानुष्ठान करते हुए समय आने पर मृत्यु प्राप्त करके सौधर्म देवलोक, के अरुणावतंसक विमान में उत्पन्न हुआ और चार पल्योपम की आयु प्राप्त की । वहां समय आने पर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा ।

टीका—उपरोक्त सूत्रो मे भगवान गौतम के आदेशानुसार महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त का वर्णन है उसने अपनी भूल स्वीकार की। आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त हुआ। यहा समाधि का अर्थ है चित्त की प्रसन्नता। जब दोष रूपी कांटा निकल गया तो उसका चित्त प्रसन्न हो गया। अन्त मे शरीर परित्याग करके वह भी देवलोक मे उत्पन्न हुआ और अन्य श्रावको के समान महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का अष्टम महाशतक अध्ययन समाप्त ॥

नवमज्झयण

नवम अध्ययन

मूलम्—नवमस्स उक्खेवओ, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे। चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं। अस्सिणी भारिया ॥ २६५ ॥

छाया—नवमस्योपक्षेपकः। एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः। जितशत्रू राजा। तत्र खलु श्रावस्त्यां नगर्यां नंदिनी-पिता नाम गाथापतिः परिवसति आढ्यः। चतस्रो हिरण्य-कोटयो निधानप्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्य-कोटयो वृद्धिप्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्यकोटयः प्रविस्तरप्रयुक्ता, चत्वारो व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। अश्विनी भार्या।

शब्दार्थ—नवमस्स उक्खेवओ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है। एवं खलु जम्बू !—सुधर्मास्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक चैत्य था जियसत्तू राया—और जित शत्रु राजा था तत्थ णं सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी में नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ—नंदिनीपिता नामक गाथापति रहता था अड्ढे—वह आढ्य अर्थात् सम्पन्न था चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ—उसकी चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ कोष में थीं चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढि पउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थीं तथा चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण

मुद्राएँ घर तथा सामान में लगी हुई थी, चत्तारि वया दसगोसाहस्सिएण वएण—प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले चार व्रज अर्थात् गोकुल थे, अस्सिणी भारिया—अश्विनी नामक भार्या थी।

भावार्थ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत है। सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य से कहा—हे जम्बू! उस समय श्रावस्ती नगरी तथा कोष्ठक चैत्य था। जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगरी मे नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह धन आदि से परिपूर्ण था। उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोप मे सञ्चित थी, चार करोड व्यापार मे लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान मे लगी हुई थी। प्रत्येक म दस हजार गाया के हिसाब से चार व्रज थे। अश्विनी नामक भार्या थी।

मूलम्—सामी समोसढे। जहा आणदो तहेव गिहि-धम्म पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ ॥ २६६ ॥

छाया—स्वामी समवसृत। यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्मं प्रतिपद्यते। स्वामी बहिर्विहरति।

शब्दार्थ—सामी समोसढे।—स्वामी समवसृत हुए जहा आणदो तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया सामी बहिया विहरइ—महावीर स्वामी अन्य जनपदो मे विहार कर गये।

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान उस नन्दिनीपिता ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। उसके बाद भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदों में विहार कर गये।

मूलम्—तए ण से नदिणीपिया समणोवासए जाए जाव विहरइ ॥ २६७ ॥

छाया—तत खलु स नन्दिनीपिता श्रमणोपासको जातो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण नदिणीपिया समणोवासए जाए—तदनन्तर वह नन्दिनीपिता श्रमणोपासक बन कर जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा ।

भावार्थ—नन्दिनीपिता श्रावक बन कर विचरने लगा ।

मूलम्—तए ण तस्स नदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहि सीलव्वय-गुण जाव भावेमाणस्स चोद्दस सवच्छराइ वइक्कताइ । तहेव जेट्ठ पुत्त ठवेइ । धम्मपण्णत्ति । वीस वासाइ परियाग । नाणत्त अरुणगवे विमाणे उववाओ । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवओ ॥ २६८ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण नवम नन्दिणीपियाज्झयण समत्त ॥

छाया—तत खलु तस्य नदिनीपितु श्रमणोपासकस्य बहुभि शील व्रत गुण यावद् भावयतश्चतुर्दश सवत्सरा व्युत्क्रान्ता । तथैव ज्येष्ठ पुत्र स्थापयति । धर्मप्रज्ञप्तिम् । विंशति वर्षाणि पर्यायम । नानात्वमरुणगवे विमाने उपपात । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेप ।

शब्दार्थ— तए ण तस्स नदिणीपियस्स समणोवासयस्स–तदनन्तर उस नन्दिनी-पिता श्रमणोपासक को बहूहिं सीलव्वयगुण जाव भावेमाणस्स–अनेक प्रकार के शील व्रतादि से आत्मा को भावित करते हुए चोद्दस सवच्छरा वइक्कताइ—१४ वर्ष बीत गए तहेव जेट्ठ पुत्त ठवेइ—आनन्द की भाँति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्व-कुटुम्ब का स्वामी बना दिया धम्मपण्णत्ति—और भगवान के पाससे ग्रहण की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा । वीस वासाइ परियाग—वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था मे रहा, शेष पहले की भाँति है नाणत्त—इतना अन्तर है कि उववाओ–उसकी उत्पत्ति अरुणगवे विमाणे–अरुणगव विमान मे हुई, महाविदेहे वासे सिज्झिहि—महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा । निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत् है ।

भावार्थ—तदनन्तर उस श्रमणोपासक नन्दिनीपिता को शील आदि व्रतों से आत्मा को भावित करते हुए १४ वर्ष बीत गए। आनन्द की भांति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा और भगवान् से प्राप्त धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। २० वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था में रहा। शेष पूर्ववत् है। इतना विशेष है कि उसकी उत्पत्ति अरुणगव विमान में हुई तथा वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का नवम नन्दिणीपिया अध्ययन समाप्त ॥

दसमज्झयणं

दशम अध्ययन

मूलम्——दसमस्स उक्खेवो, एव खलु जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। तत्थ ण सावत्थीए नयरीए सालिहीपिया नाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते। चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ, वुड्ढि पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएण वएण। फग्गुणी भारिया॥ २६६॥

छाया——दशमस्योपक्षेप। एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्य, जितशत्रू राजा। तत खलु श्रावस्त्या नगर्या सालिहीपिया नाम गाथापति परिवसति। आढ्यो दीप्त०। चतस्रो हिरण्यकोटयो निधान प्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्यकोटयो वृद्धि प्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्यकोटय प्रविस्तर-प्रयुक्ता, चत्वारो व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। फाल्गुनी भार्या।

शब्दार्थ——दसमस्स उक्खेवो—दसवें अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है, एव खलु जम्बू !—सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से इस प्रकार कहा—हे जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण—उस काल और उस समय सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नगरी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक चैत्य था और जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा तत्थ ण सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी में सालिहीपिया नाम गाहावई परिवसइ—सालिहीपिया नामक गाथापति रहता था अड्ढे दित्ते—वह आढ्य यावत् धन, धान्यादि से युक्त था, चत्तारि हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष में थीं चत्तारि हिरण्णकोडीओ निवुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थीं चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ घर तथा सामान में लगी हुई थीं चत्तारि

वया दस गोसाहस्सिएण वएण—प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले चार व्रज अर्थात् गोकुल थे फग्गुणी भारिया—और फाल्गुनी भार्या थी ।

भावार्थ—दसवे अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है । श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! उस काल उस समय श्रावस्ती नगरी मे कोष्ठक चैत्य था और जितशत्रु राजा था । उस श्रावस्ती नगरी म सालिहीपिया नामक गथापति रहता था । वह धन-धान्य से समृद्ध था । उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे सञ्चित थी, चार करोड व्यापार मे लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान मे लगी हुई थी । प्रत्येक मे १० हजार गाया वाले चार गो-व्रज थे और फाल्गुनी नामक पत्नी थी ।

मूलम्—सामी समोसढे ! जहा आणदो तहेव गिहि-धम्म पडिवज्जइ । जहा कामदेवो तहा जेट्ठ पुत्त ठवेत्ता पोसह-सालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ । नवर निरुवसग्गाओ एक्कारसवि उवासग पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एव कामदेव-गमेण नेयव्व जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइ ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ २७० ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण दसम सालिहीपियाज्झयण समत्त ॥

छाया—स्वामी समवसृत यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्म प्रतिपद्यते ! यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठ पुत्र स्थापयित्वा पौषधशालाया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति, नवर निरुपसर्गा एकादशाप्युपासकप्रतिमास्तथैव भणितव्या । एव कामदेवगमेन ज्ञातव्य यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकीले विमाने देवतयोपपन्न । चत्वारिपल्योपमानि स्थिति । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति ।

शब्दार्थ—सामी समोसढे—स्वामी समवसृत हुए जहा आणदो तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया जहा कामदेवो तहा जेट्ठ पुत्त ठवेत्ता—कामदेव के समान उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब भार सौप कर पोसहसालाए—पौषधशाला मे समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ति

उवसग्गवज्जित्ताण विहरइ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी से ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा, नवर निरवसग्गाओ—इतना विशेष है कि उसे कोई उपसग नही हुआ, एक्कारसवि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ—११ उपासक प्रतिमाओ का प्रतिपादन उसी प्रकार है। एव कामदेवगमेण नेयव्व—इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान ही समझनी चाहिएँ जाव—यावत् सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने—सौधमकल्प म अरुणकील विमान मे देव रूप म उत्पन्न हुआ। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई—चार पल्योपम की स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—वह महाविदह क्षेत्र म सिद्ध होगा।

भावार्थ—स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान सालिहीपिया ने भी गहस्थ धम को स्वीकार किया और आनन्द के समान ज्येष्ठ पुत्र का कुटुम्ब का भार सौप कर पौषधशाला मे भगवान् महावीर से ग्रहण की हुई धम-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। विशेष इतना है कि उसे कोई उपसग नही हुआ। ११ उपासक प्रतिमाओ का प्रतिपादन उसी प्रकार है। इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान समझनी चाहिएँ। यावत सौधमकल्प मे अरुणकील विमान मे देवरूप म उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति है तथा वहाँ वह महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का दशम सालिहीपियाध्ययन समाप्त ॥

॥ उपसहार ॥

मूलम्—दसण्हवि पणरसमे सवच्छरे वट्टमाणाण चिंता। दसण्हवि वीस वासाइ समणोवासय-परियाओ ॥ २७१ ॥

छाया—दशानामपि पञ्चदशे सवत्सरे वर्त्तमानाना चिन्ता। दशानामपि विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याया।

शब्दार्थ—दसण्हवि पणरसमे सवच्छरे वट्टमाणाण चिता—दसों ही श्रावको को १५ वर्ष मे कुटुम्ब का भार परित्यागकर विशिष्ट धर्म साधना की चिन्ता उत्पन्न दसण्हवि वीस वासाइ समणोवासयपरियाओ—और दसो ने ही २० वष पयन्त हुई। श्रावक पर्याय का पालन किया।

भावार्थ—दसों श्रावकों को १५वें वर्ष में कुटुम्ब भार को त्याग कर धर्म साधना की चिन्ता हुई और दसों ने ही २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया।

मूलम्—**एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ॥ २७२ ॥**

छाया—एवं खलु जम्बू! श्रमणेन यावत्सम्प्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां दशमस्याऽध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—**एवं खलु जम्बू!**—इस प्रकार हे जम्बू! **समणेणं जाव संपत्तेणं**—श्रमण भगवान् यावत् जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है **सत्तमस्स अंगस्स**—सातवें अङ्ग **उवासगदसाणं**—उपासक दशाङ्ग सूत्र के **दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते**—दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान महावीर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग सूत्र के दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

मूलम्—**उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयखंधो। दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिस्सिज्जंति। तओ सुयखंधो समुद्दिस्सिज्जइ, अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु, अंगं तहेव ॥ २७३ ॥**

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

छाया—उपासकदशानां सप्तमस्याङ्गस्यैकः श्रुतस्कन्धः। दश अध्ययनानि एकस्वरकाणि, दशसु चैव दिवसेषु उद्दिश्यन्ते। ततः श्रुतस्कन्धः समुद्दिश्यते। अनुविज्ञायते द्वयोर्दिवसयोरङ्गस्तथैव।

शब्दार्थ—**उवासगदसाणं**—उपासकदशा नामक **सत्तमस्स अंगस्स**—सातवें अङ्ग का **एगो सुयखंधो**—एक श्रुतस्कन्ध है। **दस अज्झयणा**—दस अध्ययन हैं, **एक्कसरगा**—प्रत्येक में एक जैसा स्वर या पाठ है **दससु चेव दिवसेसु**—और दस दिनों में

उद्दिस्सिज्जति—पढे जाते हैं तओ सुयखधो समुद्दिस्सिज्जइ--इस श्रुतस्कन्ध का पाठ पूरा हो जाता है। अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अग तहेव—इसी प्रकार दो दिन मे भी इस अग के पाठ की अनुमति दी गई है।

भावार्थ--उपासकदशा नामक सातवे अङ्ग मे एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन हैं। जिनमे एक ही सरीखा स्वर अर्थात् पाठ है। इसका पाठ दस दिनो मे पूरा किया जाता है। ऐसा करने पर श्रुतस्कन्ध का पाठ हो जाता है। इसका पाठ दो दिन मे करने की अनुमति भी है।

टीका--उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध है। श्रुतस्कन्ध का अर्थ है श्रुत अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान का स्कन्ध। जैन आगमो का ग्रन्थ विभाजन अनेक प्रकार से मिलता है। किसी आगम का मूल खण्डो के रूप मे जो विभाजन किया गया है, उन्हे श्रुतस्कन्ध कहा गया है। श्रुतस्कन्धो का विभाजन अध्ययनो के रूप मे किया जाता है और अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे। उद्देश का अर्थ है--एक प्रकरण या पाठ जिसका स्वाध्याय प्राय एक ही बार मे किया जाता है। उपनिषदो मे इसके लिए प्रपाठक शब्द आया है। प्रस्तुत सूत्र मे एक श्रुतस्कन्ध है अर्थात खण्डो मे विभाजन नही है। इसमे दस अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन मे एक श्रावक का वर्णन है। अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे विभाजन नही है। यहाँ 'एक्कसरगा' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पाठ मे एक ही शैली अर्थात् गद्य का प्रयोग किया गया है। गाथा या पद्य का नही। दूसरा अर्थ यह है कि प्रत्येक अध्ययन मे एक ही प्रकरण है अर्थात् उसका उपविभाजन नही है। प्रस्तुत सूत्र का स्वाध्याय दस दिनो मे पूरा करने की परिपाटी है। किन्तु दो दिनो मे पूरा करने की अनुमति भी दी गई है।

इति श्री जैनधर्मदिवाकर जैनाचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज
द्वारा अनुवादित—

॥ श्री उपासकदशाङ्ग-सूत्र समाप्त ॥

सग्रह-गाथाएँ

वाणियगामे चम्पा दुवे य वाणारसीए नयरीए।
आलभिया य पुरवरी कपिल्लपुर च बोद्धव्व ॥ १ ॥
पोलास रायगिह सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे।
एए उवासगाण नयरा खलु होन्ति बोद्धव्वा ॥ २ ॥
सिवनद-भद्द-सामा धन्न-बहुल-पूस-अग्गिमित्ता य।
रेवई-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाइ ॥ ३ ॥
ओहिण्णाण-पिसाए माया वाहि-धण उत्तरिज्जेय।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ॥ ४ ॥
अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह अरुणकत-सिट्ठे य।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय-वडिंसे गवे कीले ॥ ५ ॥
चाली सट्ठि असीई सट्ठी सट्ठी य सट्ठी दस सहस्सा।
असिए चत्ता चत्ता एए वइयाण य सहस्सा ॥ ६ ॥
बारस अट्ठारस चउवीस तिविह् अट्ठारसाइ नेय।
धन्नेण ति-चोवीस बारस य कोडीओ ॥ ७ ॥
उल्लण-द तवण-फले अब्भिगणुव्वट्टणे सणाणे य।
वत्थ-विलेवण-पुप्फे आभरण धूव-पेज्जाइ ॥ ८ ॥
भक्खोयण सूय-घए सागे माहुर-जेमणऽन्नपाणे य।
तम्बोले इगवीसं आणदाईण अभिग्गहा ॥ ९ ॥
उड्ढ सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवन्ते।
पचसए तह तिदिसिं, ओहिण्णाण दसगणस्स ॥१०॥
दसण-वय-सामाइय-पोसह–पडिमा अबभ-सच्चित्ते।
आरम्भ–पेस–उद्दिट्ठ–वज्जए समणभूए य ॥११॥
इक्कारस पडिमाओ वीस परियाओ अणसण मासे।
सोहम्मे चउपलिया, महाविदेहम्मि सिज्झहिइ ॥१२॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

उपरोक्त सग्रह गाथाएँ ग्रन्थ का मूल पाठ नही है। उनमे निर्युक्तिकार ने सारे सूत्र का सक्षिप्त परिचय दिया है, जिसका भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—

श्रावक और उनकी नगरियाँ

वाणिज्य ग्राम मे एक श्रावक हुआ	—आनन्द।
चम्पा मे	—कामदेव।
वाराणसी	—चुलनीपिता और सुरादव।
आलभी	—चुल्लशतक।
काम्पिल्यपुर	—कुण्डकौलिक।
पोलासपुर	—सद्दालपुत्र।
राजगृह	—महाशतक।
श्रावस्ती	—नन्दिनीपिता और सालिहीपिया।

श्रावको की भार्याएँ

१ आनन्द की शिवानन्दा।	६ कुण्डकौलिक की पुष्या।
२ कामदेव की भद्रा।	७ सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा।
३ चुलनीपिता की श्यामा।	८ महाशतक की रेवती आदि तेरह भार्याएँ।
४ सुरादेव की धन्या।	९ नन्दिनीपिता की अश्विनी।
५ चुल्लशतक की बहुला।	१० सालिहीपिया की फाल्गुनी।

विशेष घटनाएँ

१ आनन्द—अवधिज्ञान और गौतम स्वामी का सन्देह।

२ कामदेव—पिशाच का उपसर्ग और श्रावक का अन्त तक दृढ रहना।

३ चुलनीपिता—पिशाच द्वारा माता भद्राके वधका कथन सुनकर विचलित होना।

४ सुरादेव—पिशाच द्वारा सोलह भयकर रोग उत्पन्न करने की धमकी और उसका विचलित होना।

५ चुल्लशतक—पिशाच द्वारा सम्पत्ति बिखेरने की धमकी और उसका विचलित होना।

६ कुण्डकौलिक—देव द्वारा उत्तरीयक तथा मुद्रिका का उठाना एव गोशालक के मत की प्रशसा करना, कुण्डकौलिक की दृढता और देव का निरुत्तर होना।

७ सद्दालपुत्र—सुव्रता अग्निमित्रा भार्या ने व्रत से स्खलित हुए का पुन धर्म में स्थित किया। भगवान् महावीर द्वारा नियतिवाद का खण्डन। और सद्दालपुत्र का गोशाल के मत को छोड कर उनका अनुयायी बनना।

८ महाशतक—रेवती का उपसर्ग। महाशतक द्वारा रेवती के भावी नरक गमन का कथन और भगवान् महावीर द्वारा उसे अनुचित बता कर प्रायश्चित्त करने का आदेश।

९ नन्दिनीपिता }
१० सालिहीपिया } —इन दोनो के जीवन में कोई उपसर्ग नही हुआ।

मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में प्राप्त विमानों के नाम—

१ आनन्द—अरुण	६ कुण्डकौलिक—अरुणध्वज
२ कामदेव—अरुणाभ	७ सद्दालपुत्र—अरुणभूत
३ चुल्लनीपिता—अरुणप्रभ	८ महाशतक—अरुणावतंसक
४ सुरादेव—अरुणकान्त	९ नन्दिनीपित—अरुणगव
५ चुल्लशतक—अरुणश्रेष्ठ	१० सालिहीपिया—अरुणकील

पशु-धन की संख्या—

१ आनन्द—चार व्रज=४० हजार गौएँ।
२ कामदेव—छ व्रज=६० हजार गौएँ।
३ चुल्लनीपिता—आठ व्रज=८० हजार गौएँ।
४ सुरादेव—छ व्रज=६० हजार गौएँ।
५ चुल्लशतक—छ व्रज=६० हजार गौएँ।
६ कुण्डकौलिक—छ व्रज—६० हजार गौएँ।
७ सद्दालपुत्र—एक व्रज=१० हजार गौएँ।
८ महाशतक—आठ व्रज=८० हजार गौएँ।
९ नन्दिनीपिता—चार व्रज=४० हजार गौएँ।
१० सालिहीपिया—चार व्रज=४० हजार गौएँ।

सुवर्ण अर्थात् मोहरों की संख्या—

१ आनन्द—१२ करोड तीन क्षेत्रों में विभक्त अर्थात् १ निधान २ व्यापार तथा ३ घर एवं सामान के रूप मे, प्रत्येक मे चार करोड।

२ कामदेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड।
३ चुलनीपिता—२४ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे आठ करोड।
४ सुरादेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड।
५ चुल्लशतक—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र म छ करोड।
६ कुण्डकौलिक—१८ करोड—प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड।
७ सद्दालपुत्र—३ करोड—प्रत्येक मे एक करोड।
८ महाशतक—२४ करोड निजी। आठ करोड रेवती का था।
९ नन्दिनीपिता—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र म चार करोड।
१० सालिहीपिया—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे चार करोड।

अभिग्रह अर्थात भोग्य वस्तुओ की मर्यादा—

आनन्द आदि श्रावको ने नीचे लिखी २१ बातो मे मर्यादा कर रखी थी—

१ उल्लण—स्नान के पश्चात् अग पोछने के काम मे आने वाले अगोन्छे या तौलिये का।
२ दन्तवण—दातुन।
३ फले—फल।
४ अभगण—अभ्यगन अर्थात मालिश करने के तेल।
५ उव्वट्टण—उबटन अर्थात् अङ्गो पर मलने के लिए सुगन्धित आटा।
६ नहाण—स्नान के लिए पानी का परिमाण।
७ वत्थ—वस्त्र, पहनने के कपडे।
८ विलेपण—विलेपन, चन्दन कस्तूरी आदि लेप करने के द्रव्य।
९ पुप्फे—पुष्प-फूल माला आदि।
१० आभरण—आभूषण जेवर।
११ धूव—धूपबत्ती आदि कमरे को सुगन्धित करने वाली वस्तुएँ।
१२ पेज्ज—पेय शरबत ठडाई आदि पीने की वस्तुएँ।
१३ भक्ख—भक्ष्य पकवान या मिठाई।
१४ ओयण—ओदन अर्थात् चावल, यह उन दिनो बिहार का मुख्य भोजन था।
१५ सूप—सूप दाले।
१६ घए—घृत घी।

१७ साग—शाक-पकाई जाने वाली सब्जियां।

१८ माहुर—माधुर-गुड चीनी आदि भोजन मीठा बनाने वाली वस्तुएँ।

१९ जेमण—दही, वडे, पकोडे, पापड आदि भोजनोपरान्त खाई जाने वाली वस्तुएँ।

२० पाणे—पानीय कुआ, नदी, सरोवर, बादलो आदि का पानी पीने के लिए।

२१ तम्बोल—ताम्बूल अर्थात् पान और उसमे खाये जाने वाले मसाले।

अवधिज्ञान की मर्यादा

दो श्रावको को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ और वे विभिन्न दिशाओ मे नीचे लिखे अनुसार देखने जानने लगे।

पूर्वदिशा—लवणसमुद्र मे पाँच सौ योजन तक। इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम मे।

उत्तरदिशा—चुल्ल हिमवान् पर्वत तक।

ऊर्ध्वदिशा—सौधर्म देवलोक मे सौधर्म कल्प विमान तक।

अधोदिशा—प्रथम रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे लोलुपाच्युत नामक स्थान तक जहाँ चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकी जीव रहते हैं। महाशतक ने तीनो दिशाओ मे हजार हजार योजन तक अवधिज्ञान से जाना और देखा।

ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रत्येक श्रावक ने ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की थीं। इनका निरूपण अन्यत्र किया जा चुका है। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार है।

१ दर्शन ७ सचित्त परित्याग
२ व्रत ८ आरम्भ परित्याग
३ सामायिक ९ प्रेष्य अर्थात् नौकर आदि भेजने का परित्याग।
४ पौषध १० उद्दिष्ट भोजन परित्याग।
५ दिवाब्रह्मचारी ११ श्रमणभूत
६ ब्रह्मचर्य

प्रत्येक श्रावक ने बीस वर्ष तक व्रत एव प्रतिमाओ का पालन किया और अन्त मे सल्लेखना द्वारा देह का परित्याग करके सौधर्म देवलोक मे चार पल्योपम की आयु प्राप्त की। वहा से च्यव कर सबके सब महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।

परिशिष्ट

उपासकदशाङ्ग

प्रस्तुत सूत्र का नाम उवासगदसाओ है। साधारणतया इसे उपासकदशाङ्ग कहा जाता है। अङ्गसूत्रो म गणना होने के कारण इसके साथ 'अङ्ग' पद जोड दिया गया है। शेष दो अर्थात् 'उपासक' और 'दश' शब्द इसके प्रतिपाद्य विषय का प्रकट करते हैं। इसमे दस उपासको का वणन है। उपासक शब्द सस्कृत की आस् उप-वेशने धातु से पहले उप उपसग लगाने पर बना है। इसी से उपासना शब्द भी बनता है। उपासक का अथ है उपासना करने वाला। उपासना का अथ है समीप बैठना। वेद तथा उपनिषदो मे अग्नि, सूय, प्राण प्रणव अर्थात् ओकार दहर अर्थात् हृदयाकाश आदि अनेक प्रकार की उपासनाओ का वणन है। वहाँ इसका यही अथ है कि अपने लक्ष्य का बार २ चिन्तन करना और अन्य सब बातो से हटकर उसी के ध्यान मे लगे रहना। किन्तु यहाँ इसका अर्थ है अरिहन्त तथा साधुओ की उपासना करने वाला अर्थात् उनके समीप बैठकर धर्मकथा सुनने वाला। उपनिषत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है। नी पूवक सद् धातु का अथ है बैठना और उसका अथ है समीप। इसी प्रकार का दूसरा शब्द उपोसह है। इसका सस्कृत रूप है उपवसत्थ अर्थात् पास मे बसना। जब श्रावक व्रत लेकर कुछ समय के लिए मुनियो के पास रहने का निश्चय करता है तो उसे उपवसत्थ कहा जाता है। उपवास शब्द भी इसी अर्थ का लिए हुए है किन्तु वहाँ आचाय या गुरु के स्थान पर आत्मा अर्थ लिया जाता है। उपवास का अथ है, भोजन आदि बाह्य व्यापार छोडकर निरन्तर आत्मचिन्तन म लीन रहना। उपस्थिति शब्द भी इसी अथ को प्रकट करता है

अड्ढे जाव अपरिभूए—जिस प्रकार अग्निशिखा से प्रज्वलित तथा वायु रहित स्थान मे रखा हुआ दीप प्रकाश देता है रहता है उसी प्रकार आन द भी प्रदीप्त अर्थात् दूसरो के लिए प्रकाश दाता था। उसके पास जा सम्पत्ति थी उसकी तुलना तेल और बत्ती से की गई है। उदारता, गम्भीरता आदि गुणो की शिखा से और दीप्ति से। और मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। तेजस्वी जीवन के लिए इन सब बातों की आवश्यकता है अथात् उसके तीन तत्व हैं वैभव, सद्गुण, और मर्यादापालन इसी जीवन को आढय शब्द मे प्रकट किया गया है। दूसरा विशेषण अपरिभूत है। इसका अथ है परिभव या अनादर का न होना जो व्यक्ति सम्पन्न,

सद्गुणी, तथा मर्यादा मे स्थिर है उसका कही तिरस्कार नही होता। आढ्यता और अपरिभव आदर्श गृहस्थ के मूल तत्त्व हैं।

तस्स ण आणन्दस्स—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द गाथापति की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है उसके पास बारह कोटि सुवर्ण था। चार कोटि कोष म सगृहीत तथा ४ वृद्धि के लिए व्यापार मे लगा हुआ था, और चार गृह सामग्री म यह विभाजन तत्कालीन अर्थ व्यवस्था को सूचित करता है इसका अर्थ है उस समय सम्पत्ति के तीन विभाग किए जाते थे और प्रत्येक म समान रूप से अर्थ का विनियोग किया जाता था। जितना व्यापार मे लगाया जाता था उतना ही कोष म भी रखा जाता था, जिसका व्यापार म क्षति या सकट के समय उपयोग हो सके। इसस तत्कालीन गृहस्थो की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

उस समय सुवर्ण नाम का सिक्का प्रचलित था। बाद काल म इसे दीनार कहा गया। यह शुद्ध सुवर्ण और ३२ रत्ती का होता था।

मुद्रा के रूप उपरोक्त धन के अतिरिक्त आनन्द के पास गोधन भी विशाल संख्या म था। यहा गो शब्द का अर्थ केवल गाय नही है, बैल तथा अन्य पशु भी उसमे आ जाते हैं फिर भी यह मानना पडता है कि उस समय गृहस्थ के काम म आने वाले मुख्य पशु गाय और बैल ही थे। गौओ से दूध घी मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होते थे।

महाकवि कालीदास ने राजा दिलीप के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उस वृषस्कन्ध कहा है, अर्थात उसके कन्धे बैल के समान उभरे हुए थे। जैन, बौद्ध एव प्राचीन वैदिक साहित्य में बैल को अत्यन्त शुभ, भार ढोने मे समर्थ तथा सकट काल मे साहस न तोडने वाला बताया गया है। साथ ही वह अहिंसक भी होता है। कालान्तर मे जब हिंसा एव क्रूरता को क्षत्रियो का गुण माना जाने लगा तो उनकी उपमा सिंह से दी जाने लगी।

अस्तिकवाद—आस्तिक और नास्तिक शब्द को लेकर अनेक प्रकार की धारणाए प्रचलित हैं। मनुस्मृति मे आया है—

> यो न धीत्य द्विजो वेदान्, अन्यत्र कुरुते श्रमम।
> स शूद्रवन् बहिष्कार्य, नास्तिको वेदनिदक ॥
>
> —मनुस्मृति।

अर्थात् जो ब्राह्मण वेदो को बिना पढे अ यत्र परिश्रम करता है वह नास्तिक तथा वेदनिन्दक है ! उसे शूद्र के समान बहिष्कृत कर देना चाहिए। मनु की दृष्टि मे जो व्यक्ति वेदों मे श्रद्धा नही रखता वह नास्तिक है ! किन्तु इस दृष्टि से मीमासा तथा वेदान्त को छोड कर सभी दर्शनो को नास्तिक मानना होगा।

पाणिनीय मे आस्तिक और नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नीचे लिखा सूत्र दिया है—"अस्ति नास्ति दिष्ट मति"। अर्थात् जिस व्यक्ति क मत मे परलोक है, वह आस्तिक है। जिसके मत मे नही है, वह नास्तिक है। और जो दिष्ट अर्थात् भाग्य को मानता है वह दैष्टिक है। कठोपनिषद् इन शब्दो की व्याख्या मरने के बाद आत्मा के अस्तित्वको लेकर की गई है। जो लोग मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व मानते हैं व आस्तिक हैं और जो नही मानते व नास्तिक हैं।

भगवान महावीर ने अपने आस्तिकवाद को आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे प्रकट किया है। वहाँ उन्होने चार बाते बताई हैं—

१ आत्मावादी—अर्थात आत्मा के अस्तित्व को मानने वाला।

२ लोकवादी—विश्व के अस्तित्व को मानने वाला।

३ कर्मवादी—पुरुषार्थ, शुभाशुभ फल को मानने वाला।

४ क्रियावादी—पुरुषार्थ मे विश्वास रखने वाला।

भौगोलिक स्थानों का परिचय

आलभिया (पाली-आलवी, अर्धमागधी आलभी)

भगवान् महावीर १८ वे वर्षावास के लिए आलभिया आये और चुल्लशतक को श्रावक बनाया। यह नाम जनपद और नगर दानो के लिए मिलता है। आलभिया नगर आलभिया जनपद की राजधानी थी। इसे श्रावस्ती से ३० योजन तथा बनारस से १२ योजन बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह राजगृह तथा श्रावस्ती के बीच रही होगी। कनिङ्घम तथा होरनले ने इसकी उत्तरप्रदेश के उनाओ जिले के नावाल अथवा नेवाल नामक स्थान के साथ एकता बताई है। परन्तु नन्द लालडे का मत है कि इटावा मे २७ मील उत्तर पूव म स्थित अविवा नामक स्थान ही आलभिया है।

कम्पिल्लपुर—भगवान महावीर ने अपना २१ वा वर्षावास कपिल्लपुर (स-काम्पिल्यपुर) मे किया और कुण्डकौलिक का अपना अनुयानी बनाया। इस स्थान का निर्देश महाभारत बौद्ध साहित्य तथा सस्कृत साहित्य मे अनेक बार आया है। ज्ञात होता है कि उन दिनो यह विशाल नगर और व्यापार का केन्द्र रहा होगा। बौद्धो के कुम्भकारजातक मे इसे उत्तर पञ्चाल की राजधानी और गङ्गा के उत्तरी तट पर बताया गया है। किन्तु महाभारत मे इसे दक्षिण पञ्चाल की राजधानी बताया है। वतमान फरुखाबाद जिले मे 'कम्पिल' नाम का गाव है, कहा जाता है यही प्राचीन कम्पिलपुर था।

चम्पा—भगवान महावीर अपने ३०व वर्षावास के लिए चम्पा आये और कामदव को प्रतिबोध दिया।

बिहार के भागलपुर जिले मे चम्पापुर नाम का गाव है जो गगा के तट पर बसा हुआ है भगवान महावीर के समय वह चम्पा नाम की विशाल नगरी के रूप प्रसिद्ध था। यह नगरी अगदेश की राजधानी थी, कहा जाता है कि वतमान भागल-पुर जिला ही उस समय अगदेश के नाम से प्रसिद्ध था।

पोलासपुर—भगवान महावीर अपने २१ वे वर्षावास के लिए पोलासपुर म आये और सद्दालपुत्र को अपना अनुयायी बनाया। पाली साहित्य म इसका नाम पलासपुर मिलता है। पोलासपुर नगर के बाहिर ही 'सहस्राम्रवन' नाम का उद्यान था।

वाणियगाम वाणिज्यग्राम अ० १ सू० ३—भगवान महावीर अपने १५ व वर्षावास के लिए वाणिज्यग्राम आये और गाथापति आन द को श्रावक धम मे दीक्षित किया। यह चेतक की राजधानी वैशाली का उपनगर था और उसके पास ही बसा हुआ था, मुख्यतया व्यापार का केन्द्र था। अब भी इसका नाम बानिया गाव है और वह बसाढ (प्राचीन वैशाली) के पास बसा हुआ है,

वाराणसी—भगवान् महावीर ने अपना १८ वा वर्षावास वाराणसी म बिताया और चुलनीपिता तथा सुरादेव को श्रावक बनाया। यह नगर गङ्गा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है और अब भी विद्या तथा व्यापार का विशाल केन्द्र है। इसके एक ओर वरणा नदी है और दूसरी ओर 'असि' नाम का बरसाती नाला। इ ही दोनो के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहा जाता है। मुसलमान तथा अग्रेजो के समय नाम को बिगाड कर इसे बनारस कहा जाने लगा। स्वतन्त्र भारत मे पुन वाराणसी प्रचलित कर दिया गया। यह २३ वे तीथकर भगवान पार्श्वनाथ की जन्म भूमि है। इससे कुछ ही दूर बौद्धो का प्रसिद्ध तीथ सारनाथ है जहाँ बुद्ध ने सब प्रथम उपदेश दिया था। इसी के आस पास का जगल बौद्ध साहित्य मे 'मृगदाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सारनाथ का जैन तीर्थंकर भगवान् श्रेयासनाथ की जन्मभूमि माना जाता है। उससे पाच मील दूर च द्रावती नाम का स्थान है जो आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्म भूमि है। वैदिक साहित्य म वाराणसी का वणन काशी के नाम से मिलता है। और उसे दस पवित्र नगरियो मे गिना गया है। इस प्रकार वाराणसी का जन बौद्ध, और ब्राह्मण तीनो परम्पराओ म महत्त्वपूण स्थान है। जैन तथा बौद्ध साहित्य मे काशी का वणन जनपद के रूप मे आता है और वाराणसी का उसकी राजधानी के रूप म। काशी के पूर्व मे, गङ्गा के पूर्वी तट पर मगध की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। काशी के उत्तर मे विदह जनपद है और दक्षिण मे कोशल। पश्चिम मे वत्स जनपद था।

रायगिह (स० राजगृह) भगवान् महावीर ने यहाँ अनेक वर्षावास बिताये थे। यही पर २२ वें वर्षावास मे महाशतक को श्रावक बनाया। जैन तथा बौद्ध साहित्य मे राजगृह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ का राजा श्रेणिक भगवान महावीर का परम भक्त था। बौद्ध साहित्य मे इसका नाम बिम्बसार के रूप में मिलता है। इसकी चेलणा आदि रानियाँ तथा मन्त्री अभयकुमार भी महावीर क

परम भक्त थे। बुद्धि वैभव के लिए जैन साहित्य म अभयकुमार का सर्वोच्च स्थान है। रोहिणा चोर, धन्ना सार्थवाह आदि की कहानिया बडी ? स्या म राजगृह से सम्बद्ध हैं। श्रेणिक का दूसरा पुत्र कुणिक या अजातशत्रु था। उसने पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया। आस पास के जनपदो को जीत कर उन्हे मगध साम्राज्य मे मिला लिया।

इस समय इस स्थान का नाम राजगिर है। यह पटना मे ७० मील तथा नालन्दा से आठ मील है। चारो ओर पर्वतो से घिरा हुआ है। प्राचीन काल मे यह स्थान अत्यन्त महत्त्व का था तथा विभिन्न व्यापारिक मार्ग यहीं से होकर जाते थे -

सावत्थी—भगवान् महावीर २३ वे वर्षावास के लिए श्रावस्ती आये और नन्दिनीपिता को श्रावक बनाया, दसवा श्रावक सालीहिपिता भी यहीं का निवासी था। यह नगरी राप्ती (स० इरावती) नदी के तट पर बसी हुई थी। इसका वर्तमान नाम साहेत महेत है। प्राचीन काल मे यह कोशल की राजधानी थी। और साकेत (वर्तमान अयोध्या) से छ योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन सूत्रो मे इसे इरावती कहा है।

सहस्राम्रवन—प्रस्तुत सूत्र मे सहस्राम्रवन का निर्देश दो स्थानो पर आया है। कुण्डकौलिक अध्ययन मे काम्पिल्यपुर के साथ और सद्दालपुत्र अध्ययन मे पोलासपुर के साथ। पाली साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि सहस्राम्रवन आजीविकों का मुख्य केन्द्र था। प्रस्तुत सूत्र मे भी उपरोक्त दोनो श्रावको की मुख्य घटनाए आजीविक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं। दोनो के धर्मानुष्ठान का वर्णन भी अशोक वनिका मे ही है।

ऐतिहासिक नामों का परिचय

गोशाल—उपासकदशाङ्गसूत्र में गोशालक और उसके सिद्धान्त का वर्णन दो बार आया है। भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में उसका विस्तृत वर्णन है। गोशालक छद्मस्थ काल में भगवान महावीर का शिष्य रहा और उसके पश्चात् उनका प्रतिस्पर्धी बन गया। वह आजीविक सम्प्रदाय का तीसरा आचार्य माना जाता है। भगवतीसूत्र में आया है कि गोशालक से ११७ वर्ष पहले आजीविक सम्प्रदाय प्रारम्भ हो चुका था।

गोशालक निमित्त शास्त्र का पण्डित था। उसने यह छः दिशाचर सन्यासियों से सीखा था। आजीविक सम्प्रदाय के अन्य साधु भी इसके अभ्यासी थे। आजीविक सम्प्रदाय की दूसरी विशेषता है कठोर तपश्चरण। स्थानाङ्गसूत्र में उनके द्वारा की जाने वाली चार प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख है। उववाइसूत्र में आजीविकों की नीचे लिखी श्रेणियां बताई गई हैं—

१ प्रत्येक, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पष्ठ अथवा सप्तम घर से भिक्षा लेने वाले, २ केवल कमल-नाल की भिक्षा लेने वाले, ३ प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले, ४ बिजली चमकने पर भिक्षा छोड़ देने वाले, ५ बड़े मटके में बैठ कर तपस्या करने वाले (उष्ट्रिक श्रमण)। आजीविक साधु अकेले रहते थे, ठंडे पानी का उपयोग करते थे। गेहूँ चने आदि कच्चे अनाज को स्वीकार करते थे और अपने लिए बना हुआ भोजन अर्थात् आधाकर्मी आहार स्वीकार करते थे। स्त्रियों से सम्बन्ध रखते थे और दिगम्बर घूमते थे।

आजीविक सम्प्रदाय के गृहस्थ गोशालक को अर्हत, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा तीर्थङ्कर कह कर पूजते थे। माता पिता में भक्ति रखते थे। पाँच प्रकार के फलों का परित्याग करते थे। उदुम्बर, वट (बड़ का फल) बोर (मञ्जरी), सतर तथा पिलखु, कन्द मूल गाजर, प्याज भी नहीं खाते थे। ऐसा व्यापार करते थे जिसमें जीवहिंसा न हो और खस्सी किये बिना ही बैलों को काम में लाते थे। वे भी १५ कर्मादानों द्वारा आजीविकोपार्जन नहीं करते थे। उपासकदशाङ्गसूत्र में सद्दालपुत्र का वर्णन आजीविकोपासक के रूप में आया है। श्रावस्ती और

पोलासपुर आजीविकों के मुख्य केन्द्र थे। वहां एक आजीविकशाला का भी वर्णन मिलता है।

सद्दालपुत्र के कथानक से ज्ञात होता है कि गोशालक नियतिवादी था अर्थात् वह मानता था कि विश्व का परिवर्तन निश्चित है। पुरुषार्थ या पराक्रम के द्वारा उनमे कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। सूत्रकृताङ्ग मे नियतिवाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हमारे सुख दुःख न तो हमारे किए हुए हैं और न किसी दूसरे के। वे सब नियत हैं अर्थात् जो होने हैं हो कर रहेंगे।

महावीर और गोशाल का परस्पर सम्बन्ध—भगवती सूत्र में गोशालक का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—वह शरवण नाम की बस्ती मे एक ब्राह्मण की गोशाला मे उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम मंखलि था। मंख का अर्थ है परिव्राजक। गोशाल का पिता हाथ मे एक चित्र ले कर घूमा करता था और उसे दिखा कर भिक्षा मांगता था। इसीलिए उसका नाम मंखलि पड गया। घूमते हुए वह एक बार शरवण आया और एक ब्राह्मण की गोशाला मे ठहर गया। वहीं पर उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला मे उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशाल पड गया। बड़ा होने पर गोशालक भी परिव्राजक बन गया और भिक्षा वृत्ति करने लगा। एक बार वह राजगृह मे आया और जुलाहे की तन्तुशाला (खड्डी या कपड़ा बुनने का स्थान) मे ठहर गया। भगवान् महावीर भी उस समय वहाँ ठहरे हुए थे। गोशालक ने महावीर के प्रति होने वाले पूजा सत्कार को देखा और उनका शिष्य बन गया।

एक बार शरत् काल मे जब वृष्टि नहीं हो रही थी। भगवान् महावीर गोशालक के साथ सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। मार्ग मे एक पत्र-पुष्पयुक्त तिल का पौधा था। उसको देख कर गोशालक ने पूछा—भगवन्! यह तिल का पौदा फलवान होगा या नहीं! पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मर कर

टिप्पण—संस्कृत मे मंखलि का रूपान्तर मस्करी मिलता है। मस्कर का अर्थ है—बांस का डण्डा। उसे हाथ मे लेकर घूमने वाला परिव्राजक मस्करी कहा गया। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे इसका यही अर्थ बताया है। देखो—

—सू० मस्कर, मस्करिणो वेणुपरिव्राजकयो।

कहाँ उत्पन्न होंगे ? भगवान ने उत्तर दिया–गोशालक ! यह तिल का पौधा फलवान् होगा तथा ये सात तिल पुष्प के जीव मर कर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे।

ये दोनों कूर्म ग्राम में पहुँचे तो वैशपायन नाम के तपस्वी को देखा। वह ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य में आतापना ले रहा था। हाथ ऊँचे उठा रखे थे और सिर पीछे की ओर झुका रखा था। उसका सिर तथा शरीर जुओं से भरा था। उसे देखकर गोशालक को हँसी आ गई। उसने तापस का मजाक उड़ाना शुरू किया। वैशपायन को क्रोध आ गया और उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। किन्तु महावीर ने शीतल लेश्या द्वारा उसे शान्त कर दिया और गोशालक के प्राण बचा लिए। गोशालक के पूछने पर उन्होंने यह भी बताया तेजोलेश्या किस प्रकार प्राप्त की जाती है।

तत्पश्चात् वे सिद्धार्थग्राम लौट आए। मार्ग में सरसों के पौधे को देखा। यहीं पर मतभेद हो जाने के कारण गोशालक महावीर से पृथक् हो गया। उसने कठोर तपस्या द्वारा तेजोलब्धि प्राप्त की और अपने आप को 'जिन' कहने लगा। क्रमशः वह आजीविक सम्प्रदाय का नेता बन गया। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती था। वहाँ हालाहला नाम की आजीविकोपासिका रहती थी जो जाति से कुम्हार थी। परिव्राजक जीवन के २४ वें वर्ष में एक बार गोशालक उसके पास आपण में ठहरा हुआ था। छः दिशाचर भी वहां आये। उस समय भगवान महावीर भी श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उन्होंने गोशालक के जीवन का वर्णन किया और कहा कि वह जिन नहीं है। इस पर गोशालक क्रुद्ध हो गया और उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर कहा यदि महावीर मेरे विरुद्ध कुछ कहेंगे तो मैं उन्हें तेजोलेश्या द्वारा भस्म कर दूँगा। आनन्द ने महावीर के पास जाकर सारी बात कही। भगवान ने उत्तर दिया यह सत्य है कि गोशालक के पास तेजोलेश्या है किन्तु वह उसका प्रयोग अरिहन्त पर नहीं कर सकता, अरिहन्त की शक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। उन्होंने आनन्द के द्वारा अपने शिष्यों को कहलाया कि वे गोशालक के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क या वार्तालाप न करें।

एक दिन गोशालक अपने शिष्यों के साथ श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचा और उनसे कहने लगा—"आपका शिष्य मंखलिपुत्र गोशालक बहुत दिन पहले

मर चुका है। मैं वह नहीं हूँ। मैं तो उदायी कौण्टिनेय हूँ। उसने अपने पिछले सात जन्म भी बताये। साथ ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। उत्तर में महावीर ने कहा—"तुम अपने असली रूप को छिपाते हो किन्तु वह मुझसे छिपा नहीं रह सकता।" इस पर गोशालक को क्रोध आ गया और उसने तेजोलेश्या द्वारा महावीर के दो शिष्यों को भस्म कर दिया। गोशालक ने महावीर पर भी उसका प्रयोग किया किन्तु वह निष्फल गई।

महावीर पर प्रयोग की गई तेजोलेश्या निष्फल होने पर स्वयं गोशालक को जलाने लगी। अपने निवास स्थान पर लौट कर वह विक्षिप्त के समान रहने लगा। कभी नाचता, कभी गाता, कभी हालाहला के सामने कुचेष्टाएँ करता और कभी अपने शरीर को कीचड़ से लीप लेता। अन्त में जब उसने देखा कि मृत्यु समीप आ गई है तो अपने स्थविरों को बुला कर कहा—महावीर ही सच्चे जिन हैं। तुम लोग उन्हीं की उपासना करना। मैंने जो प्ररूपणा की है वह मिथ्या है। इस बात को सर्वसाधारण को घोषित कर देना।

गोशालक मर कर देवता के रूप में उत्पन्न हुआ और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जैन और बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों आजीविकों का सम्प्रदाय अत्यन्त प्रतिष्ठित था। इसके अनुयायियों की संख्या महावीर से भी अधिक थी। सर्वसाधारण के मानस पर नियतिवाद का काफी प्रभाव था। नन्दी सूत्र में दृष्टि-वाद के ८८ सूत्रों या प्रवादों का वर्णन है। उनमें से २२ का सम्बन्ध आजीविकों के साथ है और २२ का त्रैराशिकों के साथ। अभयदेवसूरि के मतानुसार त्रैराशिक गोशालक के अनुयायी थे। अशोक की धर्मलिपि में आजीविकों का तीन बार उल्लेख आया है। उसके पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी तथा बाराबर की पहाड़ियों में उनके निवास के लिए गुफाएँ प्रदान की थी। वराहमीहर (५५० ई० प०) ने अपने समय के सात धार्मिक सम्प्रदायों में इसका भी उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि में ८०० पण्डरभिक्षुओं का वर्णन आया है जिन्हें गोशालक का अनुयायी माना जाता है। शीलाङ्काचार्य (८७२ ई० प०) ने आजीविकों और दिगम्बरों की एकता का प्रतिपादन करके दोनों को गोशालक का अनुयायी बताया है। बृहज्जातक के टीकाकार भट्टोत्पल ने उन्हें एकदण्डी बताया है।

चेडग—अ० १ सूत्र ३ (चेटक)—महाराजा चेटक भगवान महावीर स्वामी के मामा और वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष थे, जिसमे नौ मल्ली और नौ लिच्छवी गणराज्य सम्मिलित थे। उसकी बहन त्रिशला भगवान् महावीर की माता थी। चेटक की सात कन्याओ का वर्णन जैन साहित्य मे बहुत जगह मिलता है। उनमे से मृगावती, प्रभावती आदि का स्थान सोलह महा-सतियो मे है। वे इस प्रकार हैं।

१ प्रभावती—(महासती) वीतभय के राजा उदयन की पत्नी।
२ पद्मावती—(महासती) चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी।
३ मृगावती—(महासती) कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी।
४ शिवा—(महासती) उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत की रानी।
५ जेष्ठा—कुण्ड ग्राम के राजा (महावीर के बडे भाई) नन्दीवर्धन की रानी।
६ सुजेष्ठा—इसने विवाह नही किया और भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले ली।
७ चेलना—राजगृह के सम्राट श्रेणिक की रानी।

कहा जाता है कि जब अभयकुमार ने दीक्षा ले ली, तो श्रणिक ने नन्दा (अभयकुमार की माता) को देवदूष्य भेंट किया। उसी समय हल्ल तथा विहल्ल नामक छोटे पुत्रो को सेचानक नाम का हाथी और एक बहुमूल्य हार दिया। इन दोनो का मूल्य मगध साम्राज्य के बराबर था। जब कूणिक अपने पिता श्रेणिक को कैद करके सिंहासन पर बैठा तो उसने इन दानो की माग की। हल्ल और विहल्ल अपने नाना चेटक की शरण मे चले गये। परिणाम स्वरूप कूणिक और चेटक का भयकर युद्ध हुआ जिसमे एक ओर मगध साम्राज्य था और दूसरी ओर वैशाली का गणतन्त्र। भगवती सूत्र मे इस लडाई का विस्तृत वर्णन है।

कूणिक—बौद्ध साहित्य मे इसका उल्लेख अजातशत्रु के नाम से मिलता है। यह चेलना का पुत्र था। कहा जाता है जब यह गर्भ में आया तो एक दिन चेलना को अपने पति श्रेणिक का मास खाने की इच्छा हुई। चेलना ने समझा कि उसका भावी पुत्र पति के लिए अशुभ है। पैदा होते ही उसे नगर के बाहर कचरे के ढेर पर फिकवा दिया। जब श्रेणिक को यह बात ज्ञात हुई तो वह चेलना पर नाराज हुआ और पुत्र को वापिस मँगा लिया। जब वह कचरे पर पड़ा था, तो उसके

अगूठे को एक कुकुट ने काट डाला जिससे वह टेढा हो गया। इसी कारण बालक का नाम कूणिक पड गया। जब वह बडा हो गया श्रेणिक ने अपने ग्यारह पुत्रो को बुलाया और राज्य को उनमे बाट देने के लिए कहा। कूणिक सारे राज्य पर अकेला अधिकार करना चाहता था। उसने षड्यन्त्र करके पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया। श्रेणिक का भूखा तथा प्यासा रखा जाने लगा और प्रतिदिन ५०० कोड लगाए जाने लगे। चेलना को भी उससे मिलने की अनुमति नही मिली। कुछ दिनो बाद उसने किसी प्रकार अनुमति प्राप्त की और वह अपने बालो म ऐसी वस्तुएँ छिपा कर ले गई जिन स पति की प्राण रक्षा हो सके।

एक दिन कूणिक कुछ शान्त हो कर माता से बात कर रहा था। चेलना ने बताया कि किस प्रकार वह बाहिर फक दिया गया था और किस प्रकार पिता के कहने पर उसे वापिस लाया गया। उसका अगूठा सूज गया था और पीक भरने के कारण असह्य वेदना हो रही थी। उसी समय पिता ने अगूठे को मुँह म ले लिया तथा पीक और गन्द खून को चूस लिया।

कूणिक को यह सुनकर बडा पश्चात्ताप हुआ और वह तत्काल पिता को मुक्त करने के लिए कारागार मे पहुँचा। श्रेणिक ने समझा कूणिक जेल से निकाल कर मुझे अन्य यातनाएँ देगा। अत उसने तालपुट विष खाकर आत्म हत्या करली।*

जियसत्तू (स०—जितशत्रु)—प्रस्तुत सूत्र मे राजगृह का राजा श्रेणिक था और शेष ७ नगरो के नाम हैं—

१ वाणिज्य ग्राम। २ चम्पा। ३ वाराणसी। ४ आलभिका। ५ कम्पिलपुर। ६ पालासपुर। ७ श्रावस्ती।

तत्कालीन इतिहास ग्रन्थो मे जितशत्रु नामक किसी राजा का नाम नही मिलता। श्रेणिक के पुत्र का नाम अजातशत्रु था जो पिता को कद करके गद्दी पर बैठा था। जैन साहित्य म उसका वर्णन कूणिक के नाम से आया है। उसने आस-पास क जनपदो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया था। किन्तु वह जितशत्रु नही हो सकता। क्योकि भगवान महावीर अपने १२ व वर्षावास के लिए जब राजगृह पहुँचे तो वहाँ श्रेणिक राजा था और १६ व वर्षावास म उन्होने वाणिज्यग्राम

* निर्यावलीकासूत्र।

पहुँच कर आनन्द को प्रतिबोध दिया। उस समय वहाँ जितशत्रु का निर्देश आया है इसी प्रकार आलभिका नगरी मे वे १८ वें वर्षावास मे पहुँचे। श्रेणिक के जीवन काल मे वहाँ अजातशत्रु नहीं हो सकता। अत यही मानना उचित है कि जितशत्रु केवल विशेषण है वह व्यक्तिवाचक नाम नही।

पुण्णभद्द चेइय (पूर्णभद्र चैत्य)—चम्पा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र चैत्य का निर्देश आया है। यक्ष पूजा भारत म प्राचीन काल से चली आ रही है। अब भी प्राचीन नगरो के प्रवेश द्वारो पर यक्षायतन या मन्दिर मिलते हैं। जैन मन्दिरा म भी प्रवेश द्वार पर रक्षक के रूप यक्ष एव यक्षणी की मूर्ति बनाई जाती है। भारतीय सगीत, नृत्य चित्र, मूर्ति तथा अन्य कलाओ का विकास यक्ष एव यक्षणियो को लक्ष्य बना कर हुआ है। कालिदास के मेघदूत नामक गीतिकाव्य का नायक एक यक्ष ही है। जहाँ एक यक्ष तथा यक्षणी के प्रेम का चित्रण किया गया है।

आजकल जो स्थान मनोरजनगृहो (क्लबो) का है, प्राचीन समय मे वही स्थान यक्षायतनो का था। वहाँ लोग इकट्ठे होकर सगीत, नृत्य, मल्लयुद्ध, जादूगरी तथा अन्य प्रकार से मनोरञ्जन करते थे।

'यक्ष' शब्द का अर्थ है—देदीप्यमान या चमकती हुई आकृति। केनोपनिषद् मे इसका यही अर्थ आया है। यह शब्द सस्कृत यज् धातु से बना है जिसके तीन अर्थ हैं। (क) देव पूजा, (ख) सगतिकरण, (ग) और दान। यक्षायतनो के मुख्यतया दो कार्य होते थे—देव पूजा और सगति अर्थात् मेला।

जैन साहित्य मे मुख्यतया दो यक्षो का वर्णन मिलता है—मणिभद्र और पूर्णभद्र। उववाइ सूत्र मे पूर्णभद्र के चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आया है—

उस पर छत्र बना हुआ था। विशाल घण्टे लटक रहे थे। ध्वजाएँ फहरा रही थी और वह मयूर पखो से सुशोभित था। उसके चारो ओर छज्जे थे। आँगन गोबर से लिपा हुआ था। दिवारो पर सफेदी की हुई थी। उस पर रक्त (गो शीर्ष) तथा श्वेत चन्दन द्वारा हाथो की छापें लगी हुई थी। उसके द्वार पर चन्दन कलश वाले तोरण लटक रहे थे। अन्य स्थानों पर भी चन्दनघट सुशोभित थे। आगन में सुगन्धित जल छिड़का जाता था और द्वारो पर पुष्प मालाएँ लटक रही थी। भिन्न-भिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे। अभिनेता, नर्तक, नट, पहलवान, मुष्टिक, योद्धा, नकलची, सूत (वीरगाथाएँ गाने वाले), कथावाचक, बांस पर

नाचने वाले, चित्र प्रदर्शक, तूती बजाने वाले, मुरली बजाने वाले तथा वीणा आदि बजाने वाले वहा सम्मिलित होते रहते थे। बहुत से लोग मन्दिर म पूजा करने भी आते थे।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि यक्षपूजा मनोरंजन एवं लौकिक सुख के लिए साधारण जनता मे प्रचलित थी। इसी दृष्टि से यक्षायतन बनाए जाते थे। आत्म साधना में उनका कोई स्थान नही था।

सख–(शङ्ख) श्र० २ सू० ११६–श्रावक का वर्णन भगवती सूत्र में इस प्रकार है श्रावस्ती नगरी मे अनेक श्रमणोपासक रहते थे। वही शख तथा पुष्कली नामक श्रमणोपासक भी थे। शख की पत्नी का नाम उत्पला था। एक बार भगवान महावीर श्रावस्ती आये और शख आदि श्रावक धर्मोपदेश सुनने गए। धर्मकथा के अन्त मे शख ने अपने साथियो से कहा–"आओ हम लोग पौषधशाला मे रह कर धर्म-जागरणा करें। इसके लिए अशन-पान आदि तैयार करालो," शख के साथी भोजन तैयार करने मे लग गए, इधर शख के मन मे पौषधोपवास करने का विचार आया और वह ग्यारहवा प्रतिपूर्णपौषध अङ्गीकार करके पौषधशाला मे धर्म जागरण करने लगा। साथी भोजन तैयार करके शख को बुलाने गए तो उसने कहा आप लोग इच्छापूर्वक भोजन करके पौषध कीजिए, मैंने तो उपवास कर लिया है। साथियो को शख की यह बात अच्छी नही लगी। दूसरे दिन भगवान महावीर की धर्मकथा के बाद इस बात की चर्चा होने लगी तो भगवान ने कहा कि शख की निन्दा मत करो, वह उच्चकोटि का श्रमणोपासक है और धर्मानुष्ठान मे आगे बढ़ रहा है।

कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के श्रावको की सख्या बताते समय शख और महाशतक का प्रमुख रूप उल्लेख है।

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अवसर्पिणी—विश्व के विषय में आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि इसमें प्रतिदिन विकास हो रहा है, दूसरी ओर वैदिक परम्परा के अनुसार इसमें प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। जैन धर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी। वह परिवर्तनवादी है इसका अर्थ है, उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान। इसी परिवर्तन को एक कालचक्र के रूप में उपस्थित किया गया है, उसके बारह आरे हैं छः ऊपर से नीचे अर्थात् पतन की ओर जा रहे हैं और छः नीचे से ऊपर अर्थात् उत्थान की ओर। पतन की ओर जाने वाले आरों का अवसर्पिणी काल तथा उत्थान की ओर जाने वाले आरों का उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

इस समय अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है इसके प्रथम दो आरों तथा तृतीय के प्रारम्भिक तीन चरणों में भारतवर्ष भोगभूमि था, अर्थात् व्यक्ति प्रकृति द्वारा स्वयं प्रदत्त सामग्री पर निर्वाह करते थे। आजीविका के लिए पुरुषार्थ या कर्म करने की आवश्यकता नहीं थी। तृतीय आरे के अन्त में प्रकृति के वरदान न्यून हो गए और परस्पर संघर्ष के अवसर आने लगे। उस समय प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव हुए। उन्होंने राज्य संस्था की नींव डाली। और आजीविका के लिए आग जलाना, बर्तन बनाना, खेती करना आदि क्रियाओं का आविष्कार किया। उस समय से यह देश भोगभूमि के स्थान पर कर्मभूमि बन गया। उन कर्मों को असि अर्थात् सैनिक वृत्ति २, मसी अर्थात् विद्यावृत्ति तथा ३ कसी (कृषि) अर्थात् खेती आदि वैश्यवृत्ति के रूप में विभक्त किया गया। वैदिक परम्परा में जो स्थान मनु का है वह जैन परम्परा में ऋषभ देव का है। इनके पश्चात् चौथे आरे में अन्य तेईस तीर्थङ्कर हुए। इनमें अन्त में भगवान महावीर जिनका समय ईसवी पूर्व ५९८ माना जाता है। महावीर ३० वर्ष तक गृहस्थ में रहे उसके पश्चात् १२।। वर्ष साधना में बिताए और ३२।। वर्ष तक धर्मोपदेश किया। प्रस्तुत घटना उस समय की है, जब उन्हें कैवल्यप्राप्ति हो चुकी थी और गौतम आदि गणधर भी दीक्षित हो चुके थे। अतः इसे स्थूल रूप में ईसवी पूर्व ५५० के लगभग रख सकते हैं।

अमत्त (अमात्य)—संस्कृत व्याकरण में इस शब्द का अर्थ बताया गया है 'अमा अर्थात् सहभव अमात्य, अर्थात् वह मन्त्री जो राजा के साथ रहता हो। राजा प्रत्येक कार्य मे उसकी सलाह लेता है राजा के अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त होने पर वह उसे रोकता है।

'आवश्यकचूर्णि' मे इस बात का उल्लेख भी आया है कि राजा के कर्तव्य-भ्रष्ट होने पर अमात्यपरिषद् ने उसे सिंहासन-च्युत कर दिया। वसन्तपुर मे जितशत्रु नाम का राजा था। वह अपनी सुकुमारिका नामक रानी मे अत्यन्त आसक्त रहने लगा और राज्य में अव्यवस्था फैलने लगी। परिणामस्वरूप अमात्य परिषद् ने उसे हटाकर राजकुमार को गद्दी पर बैठा दिया। बौद्ध साहित्य के सच्चंकिर जातक में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

अहासुहं (यथा सुख) अ० १ सू० १२—भगवान महावीर के सामने जब कोई व्यक्ति धर्मानुष्ठान मे अग्रसर होने का निश्चय प्रकट करता था तो भगवान कहा करते थे (अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबन्धं करेह) अर्थात् हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, देर मत करो। भगवान महावीर की दृष्टि में धर्माचरण ऊपर से लादी गई आज्ञा या कष्ट नही था। व्यक्ति के मन मे जब अपने आप उत्साह जागृत होता था और वह साधना मे अग्रसर होने के लिए अपनी उमंग प्रकट करता तभी भगवान उपरोक्त उत्तर देते थे। उस उत्साह मे तपस्या एवं अन्य कठोरताएँ भी सुखद प्रतीत होती थी। साथ मे भगवान यह भी कह देते थे कि जब तक उत्साह है, आगे बढते चले जाओ। देर करके उत्साह को ठण्डा मत होने दो। उपरोक्त वाक्य मे भगवान महावीर का प्रेरक सन्देश मिलता है।

अमाघाए (अमाघात)—यह शब्द महाशतक के अध्ययन में आया है और कहा गया है कि राजगृह मे एक बार अमाघात की घोषणा हुई। इसका अर्थ है—हिंसा या प्राणीवध का निषेध। महावीर तथा बुद्ध के समय मगध मे यह प्रथा थी कि पवित्र तिथि या मंगलमय अवसर पर राजा की ओर से प्राणी हिंसा बन्द करने की आज्ञा हो जाती थी। बौद्ध साहित्य में भी ऐसी घोषणाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मध्यकाल में इसी के लिए अमारी शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों मे, जहाँ सर्वसाधारण पर जैन संस्कृति का प्रभाव है अब तक ऐसी घोषणाएँ होती रही हैं। राष्ट्रीय जीवन मे ऐसी

घोषणाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। उस दिन को सारी प्रजा पवित्र मानती है और पाप कार्यों से अलग रहती है। परिणामस्वरूप हृदय मे पवित्र विचार उठते हैं और सर्वसाधारण का झुकाव धर्म एवं सदाचार की ओर हो जाता है।

आजीविक-(गोशालक के अनुयायी)—मेगस्थनीज तथा तत्कालीन अन्य वर्णनो से ज्ञात होता है कि उन दिनों समाज में श्रमणों की बहुत प्रतिष्ठा थी। भगवान महावीर के लिए आया है कि जब चम्पा के नागरिकों ने उनके आगमन का समाचार सुना तो दर्शनार्थ जाने वालों की भीड़ लग गई।

इब्भ—इभ्य शब्द का अर्थ है धन सम्पन्न व्यापारी, नगर का साहूकार यह वैश्य जाति का होता था। जिसके पास हाथी जितना धन हो, वह तीन प्रकार का होता है—जिसके पास मणि, मुक्ता, मूंगा, सोना, चान्दी द्रव्य हाथी शरीर के प्रमाण हो वह जघन्य इभ्य है। जिसके पास हीरा और माणिक्य की राशि हाथी के तुल्य हो वह मध्यम इब्भ है। जिसके पास केवल हीरों की राशि हाथी के समान हो वह उत्कृष्ट इब्भ होता है।

ईसर-(ईश्वर)—इसका अर्थ है युवराज या राज्य का उत्तराधिकारी। यह राजा का पुत्र, भाई या निकटतम सम्बन्धी होता था। सर्वसाधारण पर उसका प्रभाव होता था और वह राज्य संचालन में सक्रिय भाग लेता था। उसके गुणों में बताया गया है कि ७२ कलाओं, सभी शास्त्रों का जानकार होता था। राजनीति तथा धनुर्विद्या में विशेष निपुणता रखता था।

कोडुंबिय-अ० १ सू० १२ (कौटुम्बिक)—इसका अर्थ है परिवार का मुखिया। आनन्द श्रावक को राजा, ईश्वर आदि जो प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मान की दृष्टि देखते थे और उसका परामर्श लेते रहते थे। उनमें इसका उल्लेख भी आया है।

कोल्लाक सन्निवेश—सन्निवेश का अर्थ है—पड़ाव। कोल्लाक सन्निवेश का निर्देश आनन्द नामक अध्ययन में आया है। यह वाणिज्य ग्राम (आनन्द का निवास-स्थान) से उत्तर पूर्व में है। कहा जाता है कि भगवान महावीर को सर्व प्रथम भिक्षा कोल्लाक में प्राप्त हुई थी। वे उस समय कम्मार (कर्मकार अर्थात् लोहार) के गांव से आए थे और कोल्लाक सन्निवेश की ओर विहार कर गये। भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति भी कोल्लाक सन्निवेश में गए थे और आनन्द

श्रावक मे मिले थे। यहा आनन्द के जाति बन्धु रहते थे। यही पर उसने उपाश्रय मे रह कर ग्यारह प्रतिमाएँ अङ्गीकार की और संलेखना द्वारा शरीर का त्याग किया। बिहार के मुजफ्फरपुर जिले म बसार नाम का गाव है जो प्राचीन वैशाली के खण्डहरो पर बसा हुआ है। उस से मील उत्तर-पश्चिम की ओर कोलुआ नाम का गाव है। कहा जाता है इसी का प्राचीन नाम कोल्लाक सन्निवेश था।

गाहावई–गृहपति या गाथापति अ० १ सू० २—जैन तथा बौद्ध साहित्य म नगर या राज्य के प्रधान पुरुषो म गाथापति का भी उल्लेख मिलता है उसे चक्रवर्ती का एक रत्न माना जाता है। सेना के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करना उसका कार्य है। शान्ति के समय उसका सम्बन्ध राजकीय कोष्ठागार के साथ रहता है अर्थात राजा के लिए अन्न आदि की व्यवस्था करना उसका कार्य होता है। किन्तु बौद्ध तथा जैन कथा साहित्य म उसका वर्णन अनेक चमत्कारिक घटनाओ के साथ मिलता है। यहा उनका उल्लेख आवश्यक नही जान पडता। उपासक दशाङ्ग मे आनन्द आदि कई श्रावको के साथ यह विशेषण है।

घरसमुदाण–गृहसमुदान–अ० १ सू० ७७—जैन मुनि के लिए यह विधान है कि भिक्षा के लिए घूमने समय घरो मे किसी प्रकार का भेद भाव न करे। सम्पन्न घरो मे अच्छी भिक्षा मिलेगी और दूसरो म न्यून कोटि की इस विचार स घरो को चुन कर भिक्षा वृत्ति न करे। इस बात का लक्ष्य म रख कर भिक्षा-वृत्ति के लिए कुछ चर्याएँ बताई गई हैं। उदाहरण के रूप मे साधु पहले से ही यह निश्चय कर के चलता है कि आज म गली मे भिक्षा के लिए घूमते समय सर्व प्रथम एक ओर के पहले घर मे जाऊँगा फिर दूसरी ओर के दूसरे म, फिर पहली ओर के तीसरे म। इस प्रकार घूमते हुए आवश्यक आहार प्राप्त हो जाने पर वापिस लौट आऊँगा। इस वृत्ति को गोमुत्रिका कहा गया है अर्थात जहाँ चलते हुए बैल के मूत्र के समान एक बार इधर और एक बार उधर जाना होता है। गृह-समुदान चर्या म एक ओर के प्रत्येक घर से भिक्षा ली जाती है। बीच म किसी को नही छोडा जाता।

चुल्लहिमवत—जैन भूगोल के अनुसार पृथ्वी के मध्य म जम्बूद्वीप है जो लवण समुद्र स घिरा हुआ है। जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। उसके दक्षिण तथा उत्तर मे सात सात वर्ष या क्षेत्र हैं। इनका विभाजन वर्षधर पर्वत करता है। चुल्ल-

हिमवान् का अर्थ है छोटा हिमालय। यह भरत क्षेत्र या भारतवर्ष के उत्तर में है।

चेइअ—इसका संस्कृत रूप चैत्य है। वैदिक काल में "इष्टक चितम" शब्द का प्रयोग मिलता है इसका अर्थ है "ईंटों से बना हुआ चबूतरा" जो यज्ञ की वेदी के रूप में बनाया जाता था। यहाँ चित शब्द चिञ् चयने धातु से बना है जिसका अर्थ है चिना हुआ। चिता शब्द भी इसी धातु से बना है। चिता के ऊपर निर्मित स्तूप या छतरी आदि को चैत्य कहा गया है। प्राचीन प्रथा के अनुसार ऐसे स्थानों पर किसी यक्ष की मूर्ति भी स्थापित कर दी जाती थी और नगर के समृद्ध व्यक्ति उसके चारों ओर उद्यान बना देते थे। इन सबको प्राचीन साहित्य में चैत्य कहा गया है। संस्कृत में "चिती संज्ञाने" धातु भी है। इस से चित्त या चित शब्द बनता है। चित का अर्थ है, शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा और चित्त का अर्थ है मन या बुद्धि। चित से सम्बन्ध रखने वाले तत्व को भी चैत्य कहा जा सकता है अर्थात् आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य को भी चैत्य कहा जा सकता है।

तलवर—*तल शब्द का अर्थ है खड्ग-मुष्टि अर्थात् तलवार की मूठ।* तलवार का अर्थ है राजा का अङ्ग रक्षक। संभवतया तलवर शब्द इसी से बिगड़कर बना हो। प्रारम्भ में इसका अर्थ था वह चिन्ह जिसे प्रतिष्ठा के रूप में राज-दरबारी धारण किया करते थे। बाद में यही खड्ग के अर्थ में रूढ़ होगया। अब भी पंजाब में क्षत्रियों की 'तलवार' नामक जाति है। प्रतीत होता है उनके पूर्वजों को यह उपाधि राज-दरबार में सम्मान के रूप में प्राप्त हुई थी किन्तु बाद में जाति वाचक बन गई। "दीवान" आदि जातियाँ इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

दुविहं तिविहेणं—इसका अर्थ है दो करण, तीन योग। जैन धर्म में त्याग का जितना सूक्ष्म विवेचन है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। श्रावक तथा साधु दोनों के लिए अनेक प्रकार के व्रत, नियम एवं त्यागों का विधान है। और उनकी बहुत सी कोटियाँ हैं। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति यह नियम करता है कि वह अमुक कार्य स्वयं नहीं करेगा किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति यदि उसे अपनी इच्छा से करता है तो वह उसकी निन्दा नहीं करता प्रत्युत अनुमोदन कर सकता है। इस दृष्टि से जैन शास्त्रों में त्याग के ४९ भेद बताये

गए हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना ये तीन करण कहे जाते हैं और मन, वचन तथा काया को योग कहा जाता है। इन्ही के परस्पर मेल से उपरोक्त भेद हो जाते हैं। हीनतम कोटि का त्याग एक करण एक योग मे है अर्थात् अपने हाथ से न करना। सर्वोत्कृष्ट कोटि का त्याग तीन करण तीन योग मे होता है अर्थात् मन, वचन और काया से न स्वय करना, न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना।

धम्म पण्णत्ती (धर्म प्रज्ञप्ति)—भारतीय सम्प्रदायो मे धार्मिक अनुष्ठान के लिए शास्त्राज्ञा, देशना, प्रज्ञप्ति आदि अनेक शब्द मिलते हैं। ये तत्-तत् सम्प्रदाय के मूल दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। वैदिक परम्परा मे आदेश या आज्ञा शब्द मिलता है। वहा वेद की आज्ञा को ही धर्म माना गया है। मनुष्य को उसके सम्बन्ध मे विचार करने या ननुनच करने का अधिकार नही है। बौद्धो मे बुद्ध देशना शब्द मिलता है। देशना का अर्थ है मार्ग-दर्शन बुद्ध का मुख्य लक्ष्य जीवन के मार्ग का प्रतिपादन करना था। वे तत्त्व चर्चा मे नही गए। भगवान महावीर के लिए प्रज्ञप्ति शब्द मिलता है। इसका अर्थ है अच्छी तरह सम्यक् रूप से ज्ञान कराना। भगवान महावीर का लक्ष्य यह था कि व्यक्ति को सत्य का ज्ञान करा देना चाहिए। उसे बता देना चाहिए कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है यथार्थ सुख कहाँ है और उसे प्राप्त कराने वाला मार्ग कौन सा है? इसके पश्चात मार्ग का चुनना और उस पर चलना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। प्रज्ञप्ति शब्द का यही अर्थ है। इसी अर्थ को लक्ष्य मे रखकर श्यामाचार्य ने पण्णवणा (प्रज्ञापना) सूत्र की रचना की है।

निग्गथ पावयण—नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन अ० १ सू० १२।
पत्तियामि (प्रत्येमि) अ० १ सू० १२।
रोएमि (रोचे) अ० १ सू० १२।

जब कोई नया व्यक्ति भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनका अनुयायी बनना चाहता है तो वह उपरोक्त शब्दो मे अपनी इच्छा प्रकट करता है। वह कहता है—हे भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है अर्थात् अच्छा लगता है। उसे सुन कर मेरे मन मे प्रसन्नता होती है। पातञ्जल योग दर्शन की व्याख्या मे व्यास ने इस प्रसन्नता को श्रद्धा कहा है (श्रद्धा मनस सम्प्रसाद पा० सू० १ २०)।

इस वाक्य का दूसरा पद है पत्तियामि। इसका अर्थ है प्रत्यय अर्थात विश्वास करना है। श्रद्धा दृढ़ होने पर अपने आप विश्वास के रूप परिणित हो जाती है।

तीसरा पद है निर्ग्रन्थ। इसका अर्थ है जो ग्रन्थ (गांठ) अर्थात परिग्रह को त्याग चुका है। यह शब्द जैन परम्परा में श्रमणों के लिए प्रयुक्त होता है। विशेषतया भगवान महावीर के लिए।

चौथा पद है प्रवचन। इसका अर्थ है उत्तम वाणी। वैदिक परम्परा में इसके स्थान पर अनुशासन शब्द मिलता है। उसका अर्थ है परम्परा प्राप्त आज्ञा। जैन धर्म उक्त परम्परा को अधिक महत्व नहीं देता। वह अपने नए अनुभव के साथ नई परम्परा को जन्म देता है। तीर्थंकर अपने युग में इसीलिए नए तीर्थ की स्थापना करते हैं। प्रवचन का अर्थ है वह शब्द जो अपने आप में प्रमाण है। जिसके सत्य असत्य का निर्णय किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर नहीं किया जाता। इसके लिए वक्ता में दो बातें होनी आवश्यक हैं—

१ वह वीतराग हो अर्थात् कोई बात रागद्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर न कहे।

२ वह सर्वज्ञ हो अर्थात प्रत्येक बात को पूरी तरह जानता हो जिससे भूल या गलती की शङ्का न रहे।

भगवान महावीर में यह दोनों बातें थी। इसीलिए उनकी वाणी को प्रवचन कहा गया है।

पल्योपम—एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार बाल खण्डों से भरे कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—

१ उद्धार पल्योपम, २ अद्धा पल्योपम, ३ क्षेत्र पल्योपम।

चारों गतियों के जीवों की आयु की गणना सूक्ष्म अद्धा पल्योपम से की जाती है। इसका विशेष विवरण अनुयोगद्वार सूत्र में है।

पव्वइत्तए—प्रव्रजितुम् अ० १ सू० १२—जैन साहित्य में पव्वज्जा (प्रव्रज्या) का अर्थ है—घर बार तथा कुटुम्ब छोड़ कर मुनिव्रत अङ्गीकार करना। यह शब्द व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ है चले जाना 'प्र' उपसर्ग 'सदा के लिए' अर्थ प्रकट करता है। वैदिक परम्परा का परिव्राजक शब्द भी इसी धातु से बना है किन्तु वहां

परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है चारों ओर इधर उधर चारों दिशाओं में घूमने वाले संन्यासी को परिव्राजक कहा जाता है। प्रव्रज्या की तुलना में वैदिक परम्परा का संन्यास शब्द है। यह शब्द असुद्-क्षेपणे (दिवादिगण) धातु से बना है। इसका अर्थ है फेंकना। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के समस्त उत्तरदायित्व को तथा उनके लिए आवश्यक कार्यों को छोड कर चला जाता है वह संन्यासी कहा जाता है।

परियण—परिजन अ० १ सू० ८—परिवार के व्यक्तियों के लिए उन दिनों दो शब्दों का प्रयोग होता था स्वजन और परिजन। पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब के व्यक्ति स्वजन कहे जाते थे और नौकर-चाकर आदि परिजन।

प्राणातिपात—जैन धर्म में प्राणों की संख्या १० है पांच ज्ञानेन्द्रियां, अर्थात् मन, वचन और काया, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य। इनमें से किसी का नाश करना, कष्ट पहुँचाना या प्रतिबन्ध लगाना हिंसा है। उदाहरण के रूप में यदि हम किसी के स्वतन्त्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो यह मनोरूप प्राण की हिंसा है। यदि उसे बोलने से रोकते हैं तो यह वचन रूप प्राणों की हिंसा है। यदि स्वतन्त्र विचार अथवा हलचल में रोकते हैं तो यह काया रूप प्राण की हिंसा है। इसी प्रकार सुनने, देखने, सूंघने, स्वाद लेने अथवा स्पर्श करने में रोकना तत्तत् प्राणों की हिंसा है।

पासंड (पाषण्ड) अ० १ सू० ४४—इस शब्द का आधुनिक रूप पाखण्ड है जिसका अर्थ है ढोंग। पाखण्डी ढोंगी को कहा जाता है। परन्तु प्राचीन समय में यह अर्थ नहीं था। उस समय इसका अर्थ था धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ। अशोक की धर्मलिपियों में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इसीलिए सम्यक्त्व व्रत के अतिचारों में पासंड शब्द से पहले 'पर' शब्द लगा हुआ है। इसका अर्थ है दूसरे धर्म वाले की प्रशंसा करना या उसके साथ परिचय बढ़ाना श्रावक के लिए वर्जित है।

पोसहोवास अ० १ सू० १६—यह शब्द पौषध और उपवास (पौषधोपवास) दो शब्दों से बना है। पौषध शब्द संस्कृत के उपवसथ का रूपान्तर है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के पास निवास करना। जब आठ पहर के लिए उपवासपूर्वक घर से अलग हो कर धर्माचार्य के पास या धर्म स्थान में रहा जाता है तो उसे पौषधोपवास कहते हैं। यह श्रावक का ग्यारहवां व्रत है और आत्म शुद्धि के लिए किया जाता

है। जैन परम्परा मे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो पर इसे करने की प्रथा है। पर्यूषण अर्थात् सांवत्सरिक पर्व के दिन तो प्राय सभी वयस्क जैन इसकी आराधना करते हैं।

माडबिय अ० १ सू० १२—मडब का अर्थ है १८ हजार गांवों का समूह, इसके मुखिया या अध्यक्ष को माडबिक कहा जाता था। जो स्थान आजकल जिला धीश या Deputy Commissioner का है वही उन दिनो माडबिक का था।

राजा—उपासकदशाङ्ग मे राजा शब्द का उल्लेख दो रूपो मे आया है। पहले रूप मे यह जितशत्रु, श्रेणिक तथा कूणिक के साथ आया है जहां इसका अर्थ है सम्राट् या राज्य का सर्वोच्च सत्ताधीश। बुद्ध के समय मगध साम्राज्य के साथ वैशाली का गणतन्त्रीय शासन भी विद्यमान था। वहां सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे नहीं थी। उसमे अनेक गण सम्मिलित थे। प्रत्येक गण मे एक व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप मे निर्वाचित होकर आता था और वह राजा कहा जाता था। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ एसे ही राजा थे। आनन्द श्रावक के वर्णन मे आया है कि वह अनेक राजाओ ईश्वरो, तलवरो माण्डबिकों आदि मे प्रति ष्ठित था। वहा राजा शब्द का अर्थ इसी प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि हैं। इनकी सख्या घटती बढती रहती थी। उन्हें राजा, गणराजा या गणमुख्य कहा जाता था।

वण्णओ—सूत्रो मे स्थान स्थान पर वण्णओ शब्द आया है। इसका अर्थ है अन्यत्र सूत्र मे वर्णित। प्राचीन परम्परा मे धर्मोपदेश करते समय इन स्थानो पर राजा, नगरी, चैत्य आदि के वर्णन की प्रथा थी। पचम शताब्दी मे देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के समय जब आगमो को लिपिबद्ध किया गया तो एक ही सरीखे वर्णन को पुन पुन लिखने के स्थान पर केवल सकेत करके छोड दिया गया। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि इस प्रकार के वर्णन केवल अर्थवाद के और धर्मोपदेश को रोचक बनाने के लिए किये जाते थे। उन्हें ऐतिहासिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के सकेतो के आधार पर आगमो के पौर्वापर्य का निर्णय नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सकेत लिपिकार से सम्बन्ध रखते हैं, रचना काल से नहीं।

वड्ढावए वर्धापक (अ० १ सू० ५)।

सव्व कज्ज वड्ढावए (सब कार्य वर्धापक)।

यह आनन्द श्रावक के विशेषण के रूप मे आया है। इसका अर्थ है सब कार्यों को बढाने वाला। यह विशेषण श्रावक के महत्त्व को प्रकट करता है इससे प्रकट होता है कि श्रावक प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य मे प्रोत्साहन देता है, उसे आगे बढाता है और इस प्रकार समाज की उन्नति मे सहायक बनता है।

समोसरिए समवसृत अ० १ सू० २—प्राचीन साहित्य मे धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सभाओ के लिए समवसरण सङ्गीति, सङ्गत, संस्था समिति परिषद उपनिषद आदि अनेक शब्द आये हैं। वे सब स्थूल रूप मे एकार्थक होने पर भी सूक्ष्म भेद प्रकट करते हैं जो प्रत्येक परम्परा की विभिन्न दृष्टियो के सूचक हैं। इन शब्दो मे सम उपसर्ग प्राय सर्वत्र है। यह समूह या एकत्रित होने का बोधक है।

१ समवसरण—यह शब्द 'सृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है घूमना या किसी लक्ष्य को सामने रखे बिना चलते रहना। इसके पहले लगा हुआ 'अव' उपसर्ग 'नीचे की ओर' का द्योतक है। जिस प्रकार पानी बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे नीचे की ओर बहने लगता है उसी प्रकार भगवान सर्वसाधारण को उपदेश देने के लिए स्थान विशेष को लक्ष्य मे न रख कर घूमते रहते हैं। इस प्रकार घूमते हुए जहाँ वे अटक जाते हैं और उपदेश देने लगते हैं उसी का नाम समवसरण है। तीर्थंकरो के समवसरण मे सब जातियो के स्त्री पुरुष ही नहीं देवता और पशु भी उपदेश श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं।

२ सङ्गीति—शब्द बौद्ध परम्परा मे प्रचलित है। इसका अर्थ है इकट्ठे होकर गाना। बौद्ध भिक्षुओ ने इकट्ठे होकर त्रिपिटको का पाठ किया उसी को सङ्गीति कहा गया।

३ सङ्गत—वैदिक परम्परा मे, साधु संन्यासियो या परिव्राजको का इकट्ठा होना सङ्गत कहा जाता है। इसका अर्थ है एक साथ मिलकर चलना। इसी का समानार्थक सङ्गम शब्द है जिसका अर्थ है नदियो का मिल कर बहना।

४ संस्था—इसका अर्थ है मिलकर बैठना। यह शब्द उपनिषदो मे मिलता है, जहाँ ऋषि मुनि एक साथ बैठ कर आत्म-चर्चा करते हैं।

५ समिति—यह शब्द 'इ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'चलना' समीति का अर्थ है एक साथ मिल कर प्रगति करना।

६ परिषद्—इसका अर्थ है चारों ओर 'बैठना'। जहाँ गुरु या राजा के रूप एक व्यक्ति केन्द्र में बैठता है और दूसरे सभासद के रूप में घेरे रहते हैं उसे परिषद् कहा जाता है। 'सम्' उपसर्ग से बने हुए उपरोक्त शब्दों में किसी एक की प्रधानता का द्योतन है। वहाँ सब मिलकर चर्चा करते हैं किन्तु परिषद् में एक बोलता है और दूसरे सुनते है।

७ उपनिषद्—इसका अर्थ है पास में बैठना गुरु शिष्य को पास में बैठाकर रहस्य के रूप में जो उपदेश देता है उसी का नाम 'उपनिषद्' है।

"समणे" (अ० १ सू० २)—आगम साहित्य में जहाँ भगवान् महावीर का नाम आया है उसके साथ "समणे निग्गंथे" विशेषण भी मिलता है साधारणतया इसका संस्कृत रूपान्तर श्रमण तथा अर्थ मुनि या साधु किया जाता है। उत्तराध्ययन में "समयाए समणो होइ" पाठ आया है। इसका अर्थ है "श्रमण समता से होता है।" श्रमण शब्द भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण धारा का प्रतीक है जिसका ब्राह्मण धारा के साथ संघर्ष रहा है। हेमचन्द्र ने श्रमण और ब्राह्मण के परस्पर विरोध को शाश्वत वैर के रूप में प्रकट किया है। श्रमण परम्परा के मुख्य तीन तत्त्व हैं—

१ श्रम—व्यक्ति अपने ही परिश्रम एवं तपस्या द्वारा ऊँचा उठ सकता है। इसके विपरीत ब्राह्मण परम्परा में यज्ञ का अनुष्ठान पुरोहित करता है, बलिदान पशु का होता है और फल यजमान को मिलता है।

२ सम—समस्त प्राणियों में मौलिक समानता है। प्रत्येक प्राणी साधना द्वारा उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी को सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा। आचाराङ्ग सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं कि जब तुम किसी को मारने या कष्ट देने की इच्छा करते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो। परस्पर व्यवहार में समता का ही दूसरा नाम अहिंसा है जो कि जैन आचार शास्त्र का मूल है। विचार में समता का अर्थ "स्याद्वाद" है। इसका अर्थ है, हम अपने विचारों को जितना महत्त्व देते हैं उतना ही दूसरे के विचारों को भी दें। केवल दूसरे के होने के कारण उन्हें बुरा न मानें और केवल अपने होने के कारण उन्हें अच्छा न मानें।

३ शम—इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो तथा इन्द्रिय लालसाओ का शमन। श्रमण परम्परा का यह विश्वास है कि कषायो एव भोग-लालसाओ का शमन ही कल्याण का मार्ग है। समणे के साथ जो निग्गथे (निर्ग्रन्थ) विशेषण आया है उससे यह सिद्ध करना है कि निर्ग्रन्थ श्रमणो का एक भेद था।

"सुहम्मा–सुधर्मन्"—भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अर्थात प्रधान शिष्य थे। उनमे सुधर्मा स्वामी पाँचवें हैं। सभी गणधर अपने पूर्व जीवन मे कर्मकाण्डी श्रोत्रीय ब्राह्मण थे। भगवान महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आये और अपनी शकाओ का उचित समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य हो गए। सुधर्मा स्वामी को यह शका थी कि प्रत्येक जीव जिस योनि मे है मरकर भी उसी योनि को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने बताया कि ऐसा नहीं है। जीव अपने भले बुरे कर्मों के अनुसार, नई-नई योनियो को प्राप्त करता रहता है।

सेट्ठि–(श्रेष्ठिन्)—इस शब्द का रूप सेठ या सेट्ठी है और आज भी इसका वही अर्थ है जो उन दिनो मे था। उस समय विविध प्रकार के व्यापारियो एव शिल्पियो के १८ गण माने जाते थे। सेट्ठि उन सबका मुखिया होता था और प्रत्येक कार्य मे उनकी सहायता करता था। आजकल वाणिज्य सघ (Chamber of Commerce) के अध्यक्ष का जो स्थान है वही स्थान उन दिनो सेट्ठी का था। 'सेट्ठि' शब्द का निर्देश राज्य मान्य व्यक्ति के रूप मे भी मिलता है जो अपने मस्तक पर सुवर्णपट धारण किया करता था। सस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रेष्ठ शब्द का अर्थ है—प्रशस्ततम या सर्वोत्तम, तदनुसार श्रेष्ठि का अर्थ है वह व्यक्ति जो सर्वोत्तम पद पर प्रतिष्ठित है।

हिरण्णकोडीओ—वैदिक साहित्य को देखने पर पता चलता है कि उन दिनो धन सम्पत्ति का परिमाण गाय, या पशुओ की सख्या मे होता था। लेन देन तथा वाणिज्य का आधार भी वही था छान्दोग्य उपनिषद् मे राजा जनक ब्रह्म विद्या सम्बन्धि शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने वाले ऋषियो के लिए सौ गौएँ दान की घोषणा करता है। कठोपनिषद् मे आता है कि वाजश्रवा नाम ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए सर्वस्व-दक्षिणा यज्ञ किया। यज्ञ के अन्त मे ब्राह्मणो को दक्षिणा के

३ शम—इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो तथा इंद्रिय लालसाओ का शमन। श्रमण परम्परा का यह विश्वास है कि कषायो एव भोग-लालसाओ का शमन ही कल्याण का मार्ग है। समणे के साथ जो निग्गथे (निर्ग्रन्थ) विशेषण आया है उससे यह सिद्ध करना है कि निग्रन्थ श्रमणो का एक भेद था।

"सुहम्मा-सुधर्मन"—भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य थे। उनमें सुधर्मा स्वामी पाँचवे हैं। सभी गणधर अपने पूर्व जीवन मे कर्मकाण्डी श्रोत्रीय ब्राह्मण थे। भगवान महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आये और अपनी शकाओ का उचित समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य हो गए। सुधर्मा स्वामी को यह शका थी कि प्रत्येक जीव जिस योनि मे है मरकर भी उसी योनि को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने बताया कि ऐसा नही है। जीव अपने भले बुरे कर्मों के अनुसार, नई-नई योनियो को प्राप्त करता रहता है।

सेट्ठि-(श्रेष्ठिन्)—इस शब्द का रूप सेठ या सेट्ठी है और आज भी इसका वही अर्थ है जो उन दिनो मे था। उस समय विविध प्रकार के व्यापारियो एव शिल्पियो के १८ गण माने जाते थे। सेट्ठि उन सबका मुखिया होता था और प्रत्येक कार्य मे उनकी सहायता करता था। आजकल वाणिज्य सघ (Chamber of Commerce) के अध्यक्ष का जो स्थान है वही स्थान उन दिनो सेट्ठी का था। 'सेट्ठि' शब्द का निर्देश राज्य मान्य व्यक्ति के रूप मे भी मिलता है जो अपने मस्तक पर सुवर्णपट धारण किया करता था। सस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रेष्ठ शब्द का अर्थ है—प्रशस्ततम या सर्वोत्तम, तदनुसार श्रेष्ठि का अर्थ है वह व्यक्ति जो सर्वोत्तम पद पर प्रतिष्ठित है।

हिरण्णकोडीओ—वैदिक साहित्य को देखने पर पता चलता है कि उन दिनो धन सम्पत्ति का परिमाण गाय, या पशुओ की सख्या मे होता था। लेन देन तथा वाणिज्य का आधार भी वही था छान्दोग्य उपनिषद् में राजा जनक ब्रह्म विद्या सम्बन्धी शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने वाले ऋषियो के लिए सौ गौएँ देने की घोषणा करता है। कठोपनिषद् मे आता है कि वाजश्रवा नाम ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए सर्वस्व दक्षिणा यज्ञ किया। यज्ञ के अन्त मे ब्राह्मणो को दक्षिणा के

रूप मे जो गौएँ प्राप्त हुई वे बूढ़ी तथा मरणासन्न थीं। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से पता चलता है कि उस समय गाय के स्थान पर सिक्कों का प्रयोग होने लगा था।

हिरण्य सुवर्ण—प्रधान सिक्का हिरण्य या सुवर्ण कहलाता था। यह ३२ रत्ती सोने का होता था। अनेक स्थानों पर सुवर्ण और हिरण्य शब्दों का एक साथ उल्लेख है और अनेक स्थानों पर वे अलग-अलग हैं। भण्डारकर का कथन है कि जहाँ सुवर्ण शब्द हिरण्य के साथ आता है, वहाँ उसका अर्थ सुवर्ण न होकर एक प्रकार का सिक्का है, जिसका वजन ७ माशे -२ रत्ती होता है था।

२ सुवर्ण माष—(Ancient Indian Numismatics, P 51) इससे छोटा सिक्का सुवर्ण माष होता है। यह भी सोने का हुआ करता था इसका उल्लेख उत्तराध्ययन म आया है।

३ कार्षापण—(प्रा० काहावण)—तीसरे प्रकार का सिक्का कार्षापण या काहावण कहा जाता था। बिम्बसार के समय राजगृह मे इसका प्रचलन था। बुद्ध ने भी जहाँ रुपये पैसे की बात आई है कार्षापण उल्लेख किया है। यह तीन प्रकार का होता है—(१) सोने का बना हुआ, (२) चाँदी का बना हुआ (३) ताम्र का बना हुआ। यह चोकोण होता था और वजन लगभग १८६ रत्ती होता था (Rhys Davids—'Buddhist India') उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २० गाथा ४२) मे कूटकार्षापण का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों खोटा सिक्का भी प्रचलित था।

४ मासक—(मास)—आजकल इसे मासा कहा जाता है।

५ अर्धमासक—(अधमास)—आधा मासा।

मासक का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग (द्वितीय अध्ययन) तथा उत्तराध्ययन (अ० ८ गाथा १७) मे आया है। जातकों मे (I पृ० [illegible] ४४८) अर्धमासक दाना का उल्लेख मिलता है। [illegible]
(I पृ० २७) लोहमासक, दारुमासक [illegible]

व्यवहार भाष्य (३ तथा ७८) मे आया है। कात्यायन के मतानुसार मासे को पण कहा जाता था और इसका वजन कार्षापण का २० वाँ भाग होता था।

८ पायङ्कक—यह भी पण के ही समान है। इसका उल्लेख हरिभद्रीय आवश्यक मे आया है। बृहत्कल्प भाष्य तथा उसकी टीकाओ मे भी कई प्रकार के सिक्को का उल्लेख है।

९ कवड्डग—(कपर्दक)—हिन्दी मे इसे कौडी कहा जाता है। यह समुद्री जीव का शरीर होता है। सिक्के के रूप मे इसका प्रचलन अनेक स्थानो पर अब भी विद्यमान है

१० काकिणि—यह ताम्बे का सबसे छोटा सिक्का होता था और दक्षिणापथ मे प्रचलित था। इसका उल्लेख उत्तराध्ययन टी० (अध्ययन ७ गाथा ११) मे आया है। इसका वजन ताम्बे के कार्षापण का चतुर्थांश होता था।

११ द्रम—यह चान्दी का सिक्का था और भिल्लमाल मे प्रचलित था। निशीथचूर्णि मे इसका दूसरा रूप चम्मलातो दिया हुआ है। अर्थात् यह चम का बनता था। मलधारी हेमचन्द्र कृत भवभावना मे भी चमडे के सिक्के का उल्लेख आया है। वहाँ बताया गया है कि यह सिक्का नन्द साम्राज्य मे प्रचलित था। द्रम शब्द ग्रीक भाषा के द्रम्म शब्द से बना है। ई० पू० २०० से लेकर ई० पश्चात् २०० तक उत्तर पश्चिमी भारत मे ग्रीस निवासियो का राज्य था।

१२ दीनार—यह सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था। यह सिक्का रोम निवासियो से लिया गया है। भारत मे इसका प्रचार प्रथम ई० मे कुशान मे हुआ।

१३ केवडिग—यह भी सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था।

१४ सामरक—यह चांदी का होता था और उत्तरापथ मे अठन्नी के बराबर था। उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलीपुत्र के एक सिक्के के बराबर होते थे। दक्षिणापथ के दो रुपये काँची के एक नेला के समान होते थे। काँची के दो सिक्के कुसुमनगर अर्थात पाटलिपुत्र के एक सिक्के के समान होते थे।

सत्थवाह-सार्थवाह (अ० १ सू० ५)।

उन दिनों यात्रा इतनी सरल नहीं थी जितनी आजकल है। मार्ग ऊबड़ खाबड़ थे बीच में कहीं नदियां, कहीं पर्वत और कहीं भयंकर वन आ जाते थे। जंगली पशुओं और डाकुओं का भय बना रहता था। अतः विकट मार्गों को पार करने के लिए व्यापारी इकट्ठे होकर चलते थे। उनके इस काफिले को सार्थ कहा जाता था और उसके संचालक को 'सार्थवाह'। सार्थवाह प्रायः राज्य का उच्चाधिकारी या राजमान्य सामन्त होता था। शस्त्रविद्या तथा शासन व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव रखता था। यात्रा से पहले वह नगर में घोषणा कर देता था कि अमुक तिथि को अमुक नगर के लिए सार्थ प्रस्थान करेगा। मार्ग में भोजन, पानी, वस्त्र निवास, औषध तथा सुरक्षा की निःशुल्क व्यवस्था की जायेगी। इतना ही नहीं व्यापार प्रारम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता भी की जायेगी। घोषणा के उत्तर में सैकड़ों व्यापारी बैलगाड़ियों या बैलों पर अपना अपना सौदा लाद कर विदेश में व्यापार के लिए चल पड़ते थे।

सार्थवाह का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आदर प्राप्त था। वह पथ प्रदर्शक संकटों का निवारक तथा लक्ष्य प्राप्ति में परम सहायक माना जाता था। इसी की उपमा पर भगवान महावीर को महासार्थवाह कहा गया है जो चतुर्विध-संघ रूपी सार्थ को संसार रूपी भयङ्कर वन से पार ले जाते हैं और संकटों से बचाते हुए मोक्ष रूपी नगर में पहुँचाते हैं।